परिसंवाद

बौद्ध तथा अन्य भारतीय योग-साधना

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

परिसंवाद [१]

प्रवर्तक तथा संरक्षक : आचार्य बदरीनाथ शुक्ल, कुलपति

बौद्ध तथा अन्य भारतीय योग-साधना

सम्पादक मण्डल

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय
निदेशक, परिसंवाद-गोष्ठी

डॉ. गोकुलचन्द जैन

डॉ. फूलचन्द्र जैन

श्री बुद्धिवल्लभ पाठक

सम्पादक

श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

पर्यवेक्षक—डॉ. भागीरथप्रसाद त्रिपाठी 'वागीश शास्त्री'
निदेशक, अनुसन्धान संस्थान

प्रकाशनाधिकारी-सम्पादक—डॉ. हरिश्चन्द्रमणि त्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

१९८१

बौद्धदर्शन विभाग द्वारा आयोजित अखिल भारतीय परिसंवाद गोष्ठी में प्रस्तुत निबन्ध।

प्रकाशक
निदेशक,
अनुसन्धान संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००२

प्राप्तिस्थान
विक्रय विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी-२२१००२.

प्रथम संस्करण—५००
मूल्य—रु० ३२.००

मुद्रक
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी.

PARISAṂVĀDA [1]

FOUNDER & PATRON : Ācārya Badarīnātha Śukla, *Vice Chancellor*

BAUDDHA TATHĀ ANYA BHĀRATĪYA YOGA SĀDHANĀ

MEDITATION IN BUDDHISM AND OTHER INDIAN SYSTEMS

BOARD OF EDITORS

Prof. Jagannātha Upādhyāya
Director, Parisaṃvāda Goṣṭhī
Dr. Gokul Chandra Jaina
Dr. Phool Chanda Jaina
Shrī Buddhi Vallabha Pāthaka

EDITOR
Shrī Rāma Śaṅkara Tripāṭhī

SUPERVISOR : Dr. Bhāgīratha Prasāda Tripāthī 'Vagīśa Sāstrī'
Director, Research Institute,

Publication Officer-Editor : Dr. Hariś Chandra Maṇi Tripāthī

SAMPURNANAND SANSKRIT VISHVAVIDYALAYA, VARANASI
1981

Published by—

Director, Research Institute,
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi.

Available at—

Sales Department
Sampurnanand Sanskrit Vishvavidyalaya,
Varanasi-221002.

First Edition—500 Copies
Price : Rs. 32.00

Printed at—

Tara Printing Works
Varanasi.

प्राक्कथन

विश्वविद्यालय में विभिन्न शास्त्रों और नवीन विषयों के अध्ययन-अध्यापन के अतिरिक्त शास्त्रों के गम्भीर विषयों पर अनुसन्धान कार्य भी सम्पादित होता है तथा अप्रकाशित एवं दुर्लभ प्रकाशित महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का सुयोग्य विद्वानों द्वारा सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन भी होता है। सम्प्रति विश्वविद्यालय में पचास ग्रन्थों के मुद्रण तथा प्रकाशन का कार्य चल रहा है, जिसकी पूर्ति जनवरी १९८१ के अन्त तक हो जाने की पूर्ण आशा है।

इन कार्यों के अतिरिक्त समय-समय पर ख्यातनामा विद्वानों के गवेषणात्मक व्याख्यान तथा परिसंवाद गोष्ठियों (सेमिनार) का भी आयोजन होता है। ये आयोजन 'विश्वविद्यालय अनुदान आयोग' तथा प्रादेशिक सरकार की सहायता से सम्पन्न होते हैं। इनमें देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों और अनुसन्धान-संस्थानों के प्रख्यात विद्वान् आमन्त्रित होते हैं, जो विभिन्न विषयों में अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध प्रस्तुत करते हैं। इन निबन्धों पर उपस्थित विद्वानों द्वारा गम्भीर विचार-विमर्श होता है और उससे निर्गत निष्कर्षों के सम्मिश्रण से निबन्धों को परिष्कृत किया जाता है।

यद्यपि यह कार्य विश्वविद्यालय में बहुत दिनों से चल रहा है और इन गोष्ठियों के माध्यम से विभिन्न शास्त्रीय विषयों पर शताधिक निबन्ध विश्वविद्यालय को प्राप्त हैं, किन्तु अब तक उनके प्रकाशन की व्यवस्था नहीं थी। अतः इन निबन्धों का लाभ व्यापकरूप से विद्वत्-समाज को उपलब्ध नहीं हो रहा था। इसलिए इस वर्ष यह निश्चय किया गया कि परिसंवाद गोष्ठियों के माध्यम से प्राप्त होने वाले उत्तम निबन्धों को परिसंवाद शीर्षक से प्रकाशित किया जाय। इस निश्चय के अनुसार 'परिसंवाद' का यह प्रथम भाग प्रस्तुत किया जा रहा है।

इस अङ्क में बौद्ध दर्शन और पालि-विभाग, जो अब 'श्रमण-विद्या-संकाय' के अङ्ग हैं और प्रो॰ जगन्नाथ उपाध्याय की देख-रेख में प्रशंसनीय कार्य कर रहे हैं, की ओर से आयोजित "बौद्ध एवं अन्य भारतीय योग-साधना" विषयक गोष्ठी से सम्बन्धित निबन्धों का समावेश किया गया है। आशा है इस प्रयास का विद्वज्जनों द्वारा समादर होगा।

'परिसंवाद' का यह भाग उक्त विभाग के विद्वानों द्वारा गठित सम्पादक मण्डल से सम्पादित हुआ है तथा उसके प्रकाशन में प्रकाशनाधिकारी डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी ने विशेष उत्साह दिखाया है। मैं सभी सम्पादकों तथा सम्बद्ध निबन्धों की प्रापक-गोष्ठी के संयोजक श्री उपाध्याय एवं प्रकाशनाधिकारी को धन्यवाद देता हूँ तथा आशा करता हूँ कि वे लोग एवं विश्वविद्यालय के अन्य अध्यापकगण, निदेशक अनुसन्धान संस्थान और विश्वविद्यालय के अधिकारी इस शुभारम्भ को सोत्साह नियमितरूप से चलाते रहने के लिए कृतसंकल्प तथा सदैव सचेष्ट रहेंगे।

मकर संक्रान्ति
वि० सं० २०३७
(१४-१-१९८१ खैस्ताब्द)

बदरीनाथ शुक्ल
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

बौद्ध एवं अन्य भारतोय योग–साधना

विषय-सूची

३. हिन्दी-निबन्ध

4. ENGLISH ARTICLES

उपर्युक्त निबन्धों में व्यक्त विचार एवं शोध-निष्कर्ष निबन्ध लेखकों के अपने हैं। उनका सम्पूर्ण श्रेय एवं उत्तरदायित्व लेखकों का है।

बौद्ध एवं अन्य भारतीय योगसाधना

पृष्ठभूमि

दुन्निग्गहस्स लहुनो यत्थकामनिपातिनो।
चित्तस्स दमथो साधु चित्तं दन्तं सुखावहं॥
(धम्म०—३ : ३)

दूरङ्गमं एकचरं असरीरं गुहासयं।
ये चित्तं संयमिस्सन्ति मोक्खन्ति मारबन्धना॥
(धम्म०—३ : ५)

तुम्हेहि किच्चं आतप्पं अक्खातारो तथागता।
पटिपन्ना पमोक्खन्ति झायिनो मारबन्धना॥
(धम्म०—२० : ४)

भगवान् बुद्ध और उनकी साधना

श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

भगवान् बुद्ध के समस्त उपदेशों का निर्वाण ही एकमात्र रस है। बुद्धत्व प्राप्ति के अनन्तर वे लगातार निर्वाणप्रापक मार्ग का ही मुख्यतः उपदेश देते रहे। मार्ग की शरण में जाने के लिये ही वे बराबर अपने अनुयायियों को प्रेरित करते रहे। विनेय जनों को मार्ग पर अवतरित करने के लिये ही उन्होंने विभिन्न उपायों का अवलम्बन किया। उनका दावा था कि जिस मार्ग का वे उपदेश कर रहे हैं, वही दुःखनिरोध का एकमात्र मार्ग है। क्योंकि उसी मार्ग पर चलकर उन्होंने दुःख के अशेष कारणों का समूल नाश किया था। दुःख किसी को भी प्रिय नहीं होता, अतः उन्होंने करुणा-पूर्वक आह्वान किया कि दुःखप्रहाणार्थी समस्त जन अविलम्ब मेरे धर्मविनय में प्रव्रजित हों।

प्रायः यह होता है कि मनुष्य अज्ञानवश दुःख को दुःख नहीं समझ पाता। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो वह भ्रान्तिवश दुःख को भी सुख समझने लगता है। ऐसे लोगों को यथार्थ का बोध कराने के लिये उन्होंने दुःखसत्य का प्रतिपादन किया। शरीर और मन में अनुभूत होनेवाली दुःखा वेदनाओं को साधारणतया सभी लोग दुःख समझते हैं। कुछ समझदार लोग उस दुःख से भी परिचित होते हैं जो वर्तमान में सुखवत् प्रतीत होने पर भी परिणाम में दुःखदायी होता है। यद्यपि यह दुःख पहले दुःख की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म है; तथापि इन दोनों दुःखों का बोध कराने के लिये ही प्रधानतः भगवान् ने दुःखसत्य का प्रतिपादन नहीं किया। उनका कहना है कि वे समस्त पदार्थ दुःख हैं, जिनका उत्पाद पूर्वकृत तृष्णादि क्लेशों से युक्त कर्मों द्वारा होता है। अथवा हेतुप्रत्ययों से उत्पन्न समस्त अनित्य और क्षणिक सास्रव संस्कृत धर्म दुःख हैं। साधारणजन इस दुःख का बोध नहीं कर पाते, आर्य जन ही इसका सम्यग् ज्ञान करते हैं, इसलिये यह आर्यसत्य भी कहलाता है। इस दृष्टि से जन्म, मरण, देव, ब्रह्मा, मनुष्य, स्वर्ग, नरक; संक्षेप में पांचों स्कन्ध दुःख हैं। इस अतिसूक्ष्म दुःखता का बोध कर लेना ही वास्तव में दुःखसत्य का बोध है। इस दुःख का कारण भी अनेकविध तृष्णाएँ हैं, जिनमें सबसे प्रमुख अपने अस्तित्व की तृष्णा ही है। इसी से अन्य सभी तृष्णाएँ उत्पन्न होती हैं। जब तक इस तृष्णा का समूल नाश नहीं होगा, तब तक दुःख का निरोध भी असम्भव है। कारणनाश से ही कार्यनाश किया जा सकता है।

इस तृष्णा के नाश का उपाय ही मार्गसत्य है, जिसकी भावना से निर्वाण प्राप्त किया जा सकता है। उसी का अवलम्बन करके भगवान् बुद्ध ने स्वयं निर्वाण प्राप्त

किया और यावज्जीवन उसी का लोगों को उपदेश दिया। किन्तु उस उपाय का ज्ञान उन्हें आसानी से नहीं हुआ। किसी गुरु ने वह मार्ग उन्हें नहीं दिखलाया, अपितु बड़ी तपस्या और परिश्रम के बाद उन्होंने स्वयं उसकी खोज की।

समस्त भोगविलासों के बीच पितृगृह में रहते हुये ही जरा, व्याधि, मृत्यु आदि दुःखों से पीड़ित जनों को देखकर सर्वप्रथम उन्हें उद्वेग (संवेग) हुआ। यह संसार एक क्षण भी रहने योग्य नहीं है, मैं इसमें नश्वर भोगों को भोगते हुये रह नहीं सकता—इस प्रकार उन्हें संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हुआ। उन्हें इस बात पर सर्वाधिक आश्चर्य था कि आकण्ठ दुःख में मग्न रहते हुए भी चारों ओर विविध दुःखों का साम्राज्य देखकर भी कैसे लोग हँसते, खेलते और खुशियाँ मनाते हैं। उन्होंने देखा कि आर्त्त लोगों ने आज तक विलाप करते हुए जितना आँसू बहाया है, चारों समुद्रों का खारा पानी उसकी तुलना में नगण्य है। वे सिहर उठे। उन्होंने संकल्प किया कि जागतिक दुःखों के नाश का उपाय बिना खोजे मैं चैन नहीं लूँगा। समस्त दुःखी प्राणियों का दुःख से उद्धार का भार उन्होंने अपने कन्धे पर लिया। इस तरह उनमें महाकरुणा का उत्पाद हुआ। और एक रात सारा राज-पाट, धन-दौलत, स्त्री-पुत्र आदि से भरे-पूरे परिवार को छोड़कर सत्य की खोज में वे घर से बाहर निकल पड़े।

घर से निकलने के बाद सर्वप्रथम वे आलार-कालाम के पास पहुँचे। उन दिनों ध्यानभावना के क्षेत्र में उनकी बड़ी प्रसिद्धि थी। आलार-कालाम ने उन्हें 'आकिञ्चन्यायतन समापत्ति' की देशना की। अत्यल्प काल में ही वे उसमें निष्णात हो गये। किन्तु उन्हें ऐसा लगा कि यह धर्म न तो संबोधि के लिये है और न निर्वाण के लिये। जिस तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से वे घर से निकले थे, उसकी पूर्ति इतने से नहीं हो रही थी। इससे अधिक की जानकारी आलार-कालाम को न थी। फलतः वे वहाँ से भी अन्य आचार्य की खोज में चल दिये।

तदनन्तर वे रुद्रक रामपुत्र के यहाँ पहुँचे। इनका भी उन दिनों बड़ा नाम था। वहाँ पहुँच कर उन्होंने उनके धर्म में दीक्षा ली। रुद्रक ने उन्हें 'नैवसंज्ञाना-संज्ञायतन समापत्ति' की देशना की। उनकी बताई विधि से एकान्त में जाकर कुछ ही दिनों में उन्होंने वह समापत्ति हस्तगत कर ली। किन्तु इतने से भी उन्हें सन्तोष न हुआ। उनके उद्देश्य की सिद्धि इससे नहीं हो पा रही थी। फलतः वे वहाँ से भी चल पड़े। वहीं पर पाँच भद्रवर्गीय भिक्षु भी ब्रह्मचर्य का सेवन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि रुद्रक रामपुत्र द्वारा उपदिष्ट समापत्ति को इस महापुरुष ने बड़ी जल्दी अधिगत कर ली, फिर भी उससे इन्हें सन्तोष न हुआ, अतः निश्चित ही इन्हें

एक दिन सम्यग् बोधि प्राप्त होगी। यदि हम लोग इनके साथ रहेंगे तो हमें भी लाभ होगा। इस आशा से वे भी बोधिसत्त्व के साथ चल दिये।

अनुक्रम से चारिका करते हुए वे उरुबिल्व नामक स्थान में पहुँचे। जहाँ का रमणीय भूप्रदेश, सुन्दर वनखण्ड और स्वच्छ नैरञ्जना नदी उन्हें ध्यानभावना आदि के अनुकूल प्रतीत हुए। उनके सामने एक लक्ष्य था, किन्तु उसकी सिद्धि का स्पष्ट मार्ग उन्हें ज्ञात न था। विभिन्न प्रकार की कठिन तपस्या करनेवाले ऋषि, मुनियों की कथाएँ उन्होंने सुन रखी थीं। सोचा शायद वे कठिन तपस्याएँ ही मुक्ति का मार्ग हों। फलतः वहीं रुककर उन्होंने तपस्या करने का संकल्प किया।

तदनन्तर वे वहीं असंस्कृत भूमि में पालथी लगाकर बैठ गये और दाँतों पर दाँत रखकर, जीभ को तालु में सटाकर चित्त से चित्त एवं काय को निष्पीडित करने लगे। ठीक उसी प्रकार जिस तरह कोई बलवान् पुरुष किसी दुर्बल पुरुष के सिर अथवा कन्धे को पकड़ कर दबाता है। इस प्रक्रिया में उन्हें असह्य कष्ट हुआ, किन्तु उत्साहपूर्वक वे उसे करते रहे। हेमन्त ऋतु की शीत रात्रि में भी उनके शरीर से पसीना बहने लगा। यद्यपि इस साधना से अप्रमाद और स्मृति सुप्रतिष्ठित हुए, किन्तु कामतृष्णा के प्रहाण की दृष्टि से कुछ भी लाभ न हुआ।

इसके बाद उन्होंने श्वास-प्रश्वास रोककर आस्फानक ध्यान करने का विचार किया। मुख और नाक के छिद्र उन्होंने बलपूर्वक बन्द कर दिये। फलस्वरूप उनके शरीर की भीतरी वायु वेगपूर्वक श्रोत्रद्वार से निकलने लगी, जिससे अत्यधिक शब्द होने लगा, ठीक उसी प्रकार जिस तरह लोहार की धौंकनी से शब्द निकलता है। तदनन्तर उन्होंने कान के छिद्रों को भी बन्द कर दिया। फलस्वरूप उनकी भीतरी वायु ऊपर मूर्धा में आघात करने लगी, जिससे उन्हें भयङ्कर शिरोवेदना होने लगी। ठीक उसी प्रकार जैसे कोई हथौड़े से शिर में चोट पहुँचा रहा हो। किन्तु बोधिसत्त्व उत्साह और धैर्य के साथ सब कुछ सहन करते रहे। सभी छिद्रों से वायु को रोक देने से कुछ समय बाद उनके पेट में अत्यन्त तीव्र वेदना होने लगी, जैसे कोई गो-घातक कसाई तेज धारवाले छुरे से आतें काट रहा हो। बोधिसत्त्व ने इसे भी सहन किया। तदनन्तर इस प्रक्रिया से उनके पूरे शरीर में भयंकर दाह होने लगा, जैसे दो बलवान पुरुष किसी दुर्बल पुरुष की बाहें पकड़कर तप्त कड़ाही में भून रहे हों। उस समय वहाँ उपस्थित कुछ देवतागण यह कहने लगे कि गौतम मर गया; कुछ कहने लगे कि अभी मरा नहीं है—इत्यादि। बोधिसत्त्व इस चर्या को भी उत्साहपूर्वक करते रहे। यद्यपि इससे अप्रमाद और स्मृति सुप्रतिष्ठित हुए, किन्तु कामतृष्णा शान्त न हुई, केवल शरीर को ही कष्ट हुआ।

तदनन्तर उन्हें विचार हुआ कि कुछ लोग आहार से भी शुद्धि मानते हैं, अतः क्यों न मैं आहार छोड़कर तपस्या करूँ। फलतः उन्होंने क्रमशः आहार कम करना शुरू किया। सबसे पहले एक वक्त का आहार छोड़ दिया। एक वक्त के आहार में भी धीरे-धीरे अन्न की मात्रा कम करने लगे। यहाँ तक कि एक तण्डुल, एक तिल पर जीवन-यापन करने लगे। इससे उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया और शरीर का वर्ण काला पड़ गया। दुर्बलता चरम सीमा पर पहुँच गई। चमड़ी हड्डी से चिपक गई। सारी गाठें दिखलाई पड़ने लगीं। आँखें धँस गयीं। पेट और पीठ परस्पर सट गये। जब वे पेट पकड़ना चाहें, तो पीठ पकड़ में आ जाए। किसी कार्य से उठना चाहें, तो वहीं भहरा कर गिर पड़ें। जब अपने शरीर पर हाथ फेरें तो रोम झड़ने लगें। देखनेवालों में कोई कहता था कि गौतम काला है, कोई कहता श्याम है। इस उग्र तपस्या से भी उन्हें अभीप्सित ज्ञान का लाभ न हुआ।

छः वर्षों तक सम्यक् मार्ग के अन्वेषण में वे लगातार कठोर तपश्चरण करते रहे। उन्हें यह विचार हुआ कि अतीत काल में किसी श्रमण या ब्राह्मण ने तपश्चर्या करते समय जितनी दुःखा वेदनाएँ अनुभूत की होंगी, वे इससे अधिक न होंगी। भविष्य में भी इससे अधिक वेदनाएँ कोई साधक न भोगेगा। इस पूरे साधनाकाल में वे बराबर आत्मविश्लेषण करते रहे कि मेरे राग, द्वेष, मोह आदि दुःखों का मूल समाप्त हुआ कि नहीं। इसीलिये वे घर से निकलकर प्रव्रजित हुये थे; किन्तु अभी तक उन्हें सन्तोष न हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि यह कठोर तपश्चरण संबोधि का मार्ग नहीं है।

एक दिन उन्हें वह समय याद आया, जब अपने पिता शुद्धोधन के खेत में जामुन की शीतल छाया में बैठे हुए उन्हें प्रथम ध्यान प्राप्त हुआ था। उन्होंने सोचा शायद वही बोधि का मार्ग हो। किन्तु इस प्रकार की दुबली-पतली काया से वह ध्यान प्राप्त करना सुकर न था। फलतः वे स्थूल आहार ग्रहण करने लगे। उन दिनों जो पाँच भद्रवर्गीय भिक्षु उनकी सेवा-शुश्रूषा में लगे थे, उन्होंने सोचा कि इतनी कठिन तपस्या से जब इन्हें ज्ञान प्राप्त न हुआ तो अब जब ये स्थूल आहार ग्रहण करने लगे, तब क्या प्राप्त होगा। फलतः निराश होकर वे उनका साथ छोड़कर वहाँ से चल दिये।

तदनन्तर बोधिसत्त्व आसपास के गाँवों में भिक्षाचरण करने लगे। जब उनके शरीर में कुछ बल संचित हुआ तो वे एक वैशाख पूर्णिमा के दिन बोधिवृक्ष के नीचे यह प्रतिज्ञा करके आसन लगा कर बैठ गये कि चाहे मेरा शरीर सूख जाए, त्वक्, अस्थि, मांस आदि विलीन हो जाएँ, बिना बोधि प्राप्त किये मैं इस आसन से उठूँगा

नहीं। वहीं पर उन्होंने सर्वप्रथम मारविजय की और क्रमशः, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, और चतुर्थ ध्यान प्राप्त किये।

चित्त के शुद्ध, समाहित, कर्मण्य एवं अप्रकम्प्य हो जाने पर रात्रि के प्रथम प्रहर में उन्होंने दिव्यचक्षु अभिज्ञा की प्राप्ति के लिये चित्त का अभिनिर्हार किया। इसके बल से वे उत्पद्यमान, च्यवमान, सुवर्ण, दुर्वर्ण, सुगत, दुर्गत, हीन, प्रणीत आदि नाना सत्त्वों को देखने लगे। इस तरह उन्हें रात्रि के प्रथम प्रहर में दिव्यचक्षु अभिज्ञा की प्राप्ति हुई। रात्रि के मध्य याम में उन्हें पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा प्राप्त हुई, जिसके बल से उन्होंने अपने और दूसरे सत्त्वों के अनेक जन्मों की स्थिति का बोध कर लिया। तदनन्तर रात्रि के पश्चिम याम में उन्होंने आस्रवक्षयज्ञान और अनुत्पाद-ज्ञान के लिये चित्त का अभिनिर्हार किया। उन्हें ऐसा विचार उत्पन्न हुआ कि यह लोक उत्पन्न होता है, जीर्ण होता है, मरता है, किन्तु जरा, व्याधि, मरण धर्मवाले, अशेष दुःखस्कन्ध के निरोध का उपाय नहीं जानता। तब उन्हें यह जिज्ञासा हुई कि किसके होने पर जरा-मरण होते हैं अर्थात् जरा-मरण का क्या हेतु है? तब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि जन्म होने पर जरा-मरण होते हैं। क्या होने पर जाति होती है? भव होने पर जाति होती है। इसी तरह उपादान होने पर भव होता है। तृष्णा होने पर उपादान होता है। वेदना होने पर तृष्णा होती है। स्पर्श होने पर वेदना होती है। षडायतन होने पर स्पर्श होता है। नाम-रूप होने पर षडायतन होते हैं। विज्ञान होने पर नामरूप होते हैं। संस्कार होने पर विज्ञान होता है तथा अविद्या होने पर संस्कार होते हैं। इस प्रकार अविद्या से संस्कार, संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नाम-रूप, नाम-रूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य और उपायास प्रादुर्भूत होते हैं। इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का समुदय होता है।

इस प्रकार पहले अज्ञात, अश्रुत धर्मों में योनिशोमनस्कार के कारण उन्हें चक्षु उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ।

तब बोधिसत्त्व को यह हुआ कि किसके न होने पर जरा-मरण नहीं होते अथवा किसके निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है? तब उन्हें यह ज्ञान हुआ कि जाति के न होने पर जरा-मरण नहीं होते या जाति के निरोध से जरा-मरण का निरोध होता है। इसी तरह भव के निरोध से जाति का निरोध होता है, उपादान के निरोध से भव का निरोध, तृष्णा के निरोध से उपादान का निरोध, वेदना के निरोध से तृष्णा का निरोध, स्पर्श के निरोध से वेदना का निरोध, षडायतन के निरोध से

स्पर्श का निरोध, नाम-रूप के निरोध से षडायतन का निरोध, विज्ञान के निरोध से नाम-रूप का निरोध, संस्कार के निरोध से विज्ञान का निरोध तथा अविद्या के निरोध से संस्कार का निरोध होता है। इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का निरोध होता है। इस प्रकार पहले से अज्ञात, अश्रुत आदि धर्मों में योनिशोमनस्कार के कारण उनमें चक्षु उत्पन्न हुआ, प्रज्ञा उत्पन्न हुई, आलोक उत्पन्न हुआ।

उस समय बोधिसत्त्व ने यह दुःख आर्यसत्य है, इस प्रकार यथार्थतः जाना। यह आस्रवसमुदय है, यह आस्रवनिरोध है, यह आस्रवनिरोधगामिनी प्रतिपद् है, ऐसा यथार्थतः जाना। यह कामास्रव है, यह भवास्रव है, यह अविद्यास्रव है और यह दृष्ट्यास्रव है।। यहाँ आस्रव निरवशेष निरुद्ध होते हैं। यह अविद्या है, यह अविद्या-समुदय है, यह अविद्यानिरोध है और यह अविद्यानिरोधगामिनी प्रतिपद् है। यहाँ अविद्या अशेष निरुद्ध हो जाती है। यह संस्कार है, यह संस्कारसमुदय है, यह संस्कारनिरोध है, यह संस्कारनिरोधगामिनी प्रतिपद् है, यह विज्ञान है''''इत्यादि। ये शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, उपायास है, इस तरह इस सम्पूर्ण दुःखस्कन्ध का उत्पाद होता है, निरोध होता है—इस प्रकार बोधिसत्त्व ने यथार्थतः जाना। यह दुःखसमुदय है। यह दुःखनिरोध है, यह दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् है, इसे यथार्थतः जाना।

इस प्रकार बोधिसत्त्व ने रात्रि के पश्चिम याम में अरुणोदय के समय जो जानना चाहिये, जो प्राप्त करना चाहिये, जो देखना चाहिये और जिसका साक्षात् करना चाहिये, समस्त प्रज्ञा के द्वारा जान लिया, प्राप्त कर लिया, देख लिया और साक्षात् कर लिया। इस तरह उन्होंने अनुत्तर सम्यक् संबोधि प्राप्त की। उन्हें आस्रव-क्षयज्ञान, अनुत्पादज्ञान और सर्वज्ञ ज्ञान प्राप्त हुआ। किन्तु बोधि का यह मार्ग उन्होंने बिना किसी की सहायता से अपने आप अपने प्रयास से खोजा। इसीलिए एक आजी-वक के पूछने पर उन्होंने कहा—

सब्बाभिभू सब्बविदूहमस्मि सब्बेसु धम्मेसु अनूपलित्तो।
सब्बञ्जहो तण्हक्खये विमुत्तो सयं अभिञ्ञाय कमुद्दिसेय्यं॥
न मे आचारियो अत्थि सदिसो मे न विज्जति।
सदेवकस्मिं लोकस्मिं नत्थि मे पटिपुग्गलो॥
अहं हि अरहा लोके अहं सत्था अनुत्तरो।
एकोम्हि सम्मासम्बुद्धो सीतिभूतोस्मि निब्बुतो॥

● ● ●

स्थविरवादी बौद्धसाधना

श्री रामशङ्कर त्रिपाठी

स्थविरवादी बौद्ध साधना का लक्ष्य अपना मोक्ष या निर्वाण है। वह निर्वाण भी एकमात्र लोकोत्तर प्रज्ञा द्वारा समधिगम्य है। लोकोत्तर प्रज्ञा का उत्पाद समाधि से ही सम्भव है (समाहितो यथाभूतं पजानाति)। समाधि के लिए व्यक्ति का शीलवान् होना जरूरी है। दुःशील का चित्त एकाग्र नहीं हो सकता; क्योंकि प्रत्येक अकुशल कर्म के पीछे राग, द्वेष एवं मोह में से प्रमुखतः किसी एक का हाथ अवश्य होता है और इनके होने पर विक्षेप और औद्धत्य का होना अवश्यम्भावी है, जो शमथ या समाधि के बाधक हैं। अर्थात् विक्षेप एवं औद्धत्य के कारण चित्त एक आलम्बन में अधिक देर तक स्थिर नहीं रह पाता। फलतः शील समाधि और प्रज्ञा का आधार हो जाता है।

निर्वाणाभिलाषी शीलवान् व्यक्ति सर्वप्रथम किसी एक आलम्बन में एकाग्रता (शमथ) सिद्ध करता है। तदनन्तर वस्तु के यथार्थ तत्त्व को जानने के लिए उस शमथ का विपश्यना के साथ योग करता है। इस शमथविपश्यनायुगलसमाधि की भावना से अन्त में समस्त क्लेशों का अशेष क्षय करनेवाली लोकोत्तर प्रज्ञा का उदय होता है, जिसके द्वारा निर्वाण का अधिगम होता है।

इस तरह शमथ और विपश्यना भावना मिलकर यह साधनाविधि पूर्ण होती है, क्योंकि इसका लक्ष्य निर्वाण होता है, न कि कुछ ध्यान या लौकिक अभिज्ञाओं की प्राप्ति मात्र। अतः अब यहाँ शमथभावना और विपश्यना भावना का स्थविरवादी दृष्टिकोण से क्रमशः संक्षिप्त निरूपण किया जा रहा है।

(१) शमथभावना

संसार से विरक्त, निर्वाण के अभिलाषी शीलवान् साधक को अपनी चित-सन्तति में समाधि के उत्पाद के लिए सर्वप्रथम कल्याणमित्र गुरु के समीप जाना चाहिए। गुरु साधक के अध्याशय अर्थात् चरित्रगत विशेषता को जानकर समाधि के चालीस प्रकार के आलम्बनों में से कोई एक उसे देता है, जिसे गुरूपदिष्ट विधि से आलम्बन बनाकर साधक समाधि का लाभ करता है।

संसार में प्रतिव्यक्ति का अपना विशिष्ट चरित्र होता है। वह चरित्र भी परिस्थितिवश बदलता रहता है, फिर भी व्यक्ति के अन्तःस्थल में कुछ मूलभूत तत्त्व

होते हैं, जिनसे परिस्थितिवश कभी कम और कभी अधिक वह जीवनभर प्रेरित होता रहता है। उन्हीं के आधार पर बौद्धों ने व्यक्तियों के छह भेद किये हैं, यथा—रागचरित, द्वेषचरित, मोहचरित, श्रद्धाचरित, बुद्धिचरित एवं वितर्कचरित। किसी भी एक व्यक्ति में कोई भी एक चरित स्पष्ट नहीं होता। अधिकतर चरितों का मिश्रण होता है, फलतः ६३ या ६४ प्रकार के पुद्गल हो जाते हैं।

समाधि के आलम्बन, जिसे बौद्ध शब्दावलि में 'कर्मस्थान' (कम्मट्ठान) कहते हैं—४० प्रकार के होते हैं, इनका भी सात भागों में वर्गीकरण किया गया है, यथा—

१. दस कात्स्न्यं (कसिण)—पृथ्वीकात्स्न्यं, अप्कात्स्न्यं, तेजःकात्स्न्यं, वायुकात्स्न्यं, नीलकात्स्न्यं, पीतकात्स्न्यं, लोहितकात्स्न्यं, अवदातकात्स्न्यं, आकाशकात्स्न्यं एवं आलोककात्स्न्यं।

२. दस अशुभ—उद्ध्मातक, विनीलक, विपूयक, विच्छिद्रक, विखादितक, विक्षिप्तक, हतविक्षिप्तक, लोहितक, पुलवक एवं अस्थिक।

३. दस अनुस्मृतियाँ—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, संघानुस्मृति, शीलानुस्मृति, त्यागानुस्मृति, देवतानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, मरणानुस्मृति, कायगतास्मृति एवं प्राणापानस्मृति।

४. चार अप्रमाण—मैत्री, करुणा, मुदिता एवं उपेक्षा। इन्हें ब्रह्मविहार भी कहते हैं।

५. आहार में प्रतिकूल संज्ञा।

६. चतुर्धातुव्यवस्थान।

७. चार आरूप्य—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन एवं नैवसंज्ञानासंज्ञायतन।

समाधि के उत्पाद के लिए कौन आलम्बन किस चरितवाले व्यक्ति के अनुकूल होता है? उसे इस प्रकार जानना चाहिए—

(क) दस अशुभ एवं कायगता स्मृति—ये ११ कर्मस्थान रागचरित पुद्गल के लिए अनुकूल होते हैं।

(ख) मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा तथा नील, पीत, लोहित एवं अवदात—ये ८ कर्मस्थान द्वेषचरित पुद्गल के अनुकूल होते हैं।

(ग) प्राणापानस्मृति कर्मस्थान मोह एवं वितर्क चरितवाले पुद्गल के अनुकूल है।

(घ) बुद्ध, धर्म, संघ, शील, त्याग एवं देवतानुस्मृति, ये छह अनुस्मृतियाँ श्रद्धाचरित पुद्गल के अनुकूल हैं।

(ङ) मरणानुस्मृति, उपशमानुस्मृति, आहार में प्रतिकूल संज्ञा, चतुर्धातुव्यवस्थान—ये चार कर्मस्थान प्रज्ञाचरित पुद्गल के अनुकूल होते हैं।

(च) पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, आकाश एवं आलोक नामक छह कात्स्न्यं तथा आकाशानन्त्यायतन आदि चार आरूप्य—ये १० कर्मस्थान सभी चरितवाले पुद्गल के अनुकूल होते हैं।

इन चालीस कर्मस्थानों में से किसी को आलम्बन बनाकर जब भावना प्रारम्भ की जाती है, उस समय वह आलम्बन परिकर्मनिमित्त कहलाता है और भावना करनेवाला चित्त परिकर्मभावना कहलाता है। आँख मूंद लेने पर भी जब वह आलम्बन खुली आँखों से देखने की तरह चित्त द्वारा गृहीत होने लगता है, उस समय वह आलम्बन उद्ग्रहनिमित्त कहलाता है। इस उद्ग्रहनिमित्त को आलम्बन बनाकर जब और भावना की जाती है तो श्रद्धा आदि इन्द्रियों के अधिक विकसित हो जाने के कारण कुशल चित्तों को बाधा पहुँचानेवाले कामच्छन्द आदि नीवरण धर्म विगलित होने लगते हैं और भावना करनेवाली चित्तसन्तति में वितर्क आदि ध्यानाङ्ग प्रादुर्भूत होने लगते हैं। यद्यपि इस समय भावना करनेवाली सन्तति अर्पणा प्राप्त नहीं होती तथापि ध्यान के समीप पहुँच जाने से वह उपचारभावना या उपचारसमाधि कहलाती है। इस समय इसका आलम्बन भी उद्ग्रहनिमित्त की सीमा का अतिक्रमण करके प्रतिभागनिमित्त के रूप में अवभासित होता है। यह प्रतिभागनिमित्त उद्ग्रहनिमित्त की अपेक्षा अधिक विशुद्ध, प्रभास्वर एवं चिकना (मसृण) होता है। प्रतिभागनिमित्त के अवभासित होने के अनन्तर पुनः भावना की जाती है तो योगी थोड़ी ही देर में अर्पणाभावना या अर्पणासमाधि नामक रूपावचर प्रथम ध्यान प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त चालीस कर्मस्थानों में से बुद्धानुस्मृति आदि ८ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूल संज्ञा १, चतुर्धातुव्यवस्थान १, ब्रह्मविहार ४ एवं आरूप्य ४=१८ कर्मस्थानों में प्रतिभागनिमित्त प्रादुर्भूत नहीं होता। १० कात्स्न्यं, १० अशुभ, कायगता स्मृति एवं प्राणापानस्मृति—इन २२ आलम्बनों में ही प्रतिभागनिमित्त प्राप्त होता है। बुद्धानुस्मृति आदि ८ अनुस्मृतियाँ, आहार में प्रतिकूल संज्ञा एवं चतुर्धातुव्यवस्थान—इन १० कर्मस्थानों की भावना करने पर उपचारभावना की ही प्राप्ति होती है, अर्पणा नामक ध्यान की प्राप्ति नहीं होती। अर्पणाभावना को प्राप्त करने में समर्थ अवशिष्ट ३० कर्मस्थानों में से १० कात्स्न्यं एवं प्राणापानस्मृति—इन ११ आलम्बनों में से किसी एक को आलम्बन बनाकर भावना करने से प्रथम ध्यान से लेकर चतुर्थ ध्यान तक की प्राप्ति हो सकती है। १० अशुभ एवं कायगतास्मृति—इन ११ कर्मस्थानों में से किसी एक की भावना करने से केवल प्रथम ध्यान की ही प्राप्ति होती है।

चार ब्रह्मविहारों में से मैत्री, करुणा एवं मुदिता की भावना से प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय ध्यान प्राप्त किये जा सकते हैं। उपेक्षा ब्रह्मविहार एवं चार आरूप्य की भावना से चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति होती है।

ध्यान कुल आठ होते हैं। चार रूपावचर एवं चार अरूपावचर ध्यान। इनमें से प्रथम रूपावचर ध्यान प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है।

सर्वप्रथम कामगुणों में दोष देखकर ध्यान, मार्ग एवं फल की एकान्त अभिलाषा करनेवाला साधक स्वसम्बद्ध शील का विशोधन करे। तदनन्तर ध्यान के दस विघ्नों[1] का समुच्छेद करके लक्षणसम्पन्न कल्याणमित्र के समीप जाकर कर्मस्थान ग्रहण करे। इसके बाद १८ प्रकार के अननुरूप विहार[2] का परिवर्जन एवं पाँच अङ्गों से समन्वागत विहार[3] का आसेवन करते हुए केश, नख आदि क्षुद्र विघ्नों[4] को पहले ही दूर कर भावना प्रारम्भ करे।

अर्पणा प्राप्त कराने में समर्थ कोई भी आलम्बन लेकर भावना प्रारम्भ की जा सकती है तथा सभी आलम्बनों की भावनाविधि भिन्न-भिन्न है। यहाँ पृथ्वी-कात्स्र्न्य को आलम्बन बनाकर भावना करने की विधि दिखलायी जा रही है। साधक को भूरे रंग की साफ चिकनी एवं गीली मिट्टी लेकर किसी काष्ठफलक या वस्त्रखण्ड पर लेप करके १ बीते ४ अंगुल प्रमाण का समतल गोल मण्डल बनाना चाहिये तथा उस गोले को नील वर्ण के किनारे से घेर देना चाहिए। तदनन्तर उसे एकान्त स्थान में ले जाकर न अधिक दूर और न अधिक समीप जहाँ से मण्डल भलीभाँति दिखाई दे, आसन बिछाकर बैठ जाना चाहिए तथा न अधिक विस्फार और न अधिक संकोच, अपितु मध्यम परिमाण में आँख खोलकर उसे देखना

१. द्रष्टव्य—
आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पञ्चमं।
अद्धानं ञाति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दस॥—विसुद्धिमग्ग, पृ० २०१।

२. द्रष्टव्य—
महावासं नवावासं जरावासं च पन्थनिं।
सोण्डि पण्णं च पुप्फं च फलं पत्थितमेव च॥
नगरं दारुना खेत्तं विसभागेन पट्टनं।
पच्चन्तसीमासप्पायं यत्थ मित्तो न लब्भति॥
अट्ठारसेतानि ठानानि इति विञ्ञाय पण्डितो।
आरका परिवज्जेय्य मग्गं सप्पटिभयं यथा॥—विसुद्धिमग्ग, पृ० २५९

३. विसुद्धिमग्ग; पृ० २५९–२६०।

४. विसुद्धिमग्ग, पृ० २६०।

चाहिए। इस प्रकार देखते हुए उसके वर्ण एवं कार्कश्य आदि के प्रति ध्यान न देकर पृथ्वी द्रव्य को ही देखना चाहिए। साथ ही मुख से 'पृथ्वी, पृथ्वी' आदि उच्चारण करते हुए या केवल चित्त से आवर्जन करते हुए भावना करनी चाहिए। भावना करते समय बीच-बीच में आँख खोलकर तथा कभी कभी आँख बन्द कर विचार करते हुए जब तक उद्ग्रहनिमित्त उत्पन्न न हो जाय, प्रयत्न करना चाहिए।

उद्ग्रहनिमित्त के उत्पन्न हो जाने पर अब वहाँ बैठने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती, अतः अपने स्थान पर लौटकर प्रतिभागनिमित्त के उत्पाद के लिए उसी की पुनः पुनः भावना करनी चाहिए। प्रतिभागनिमित्त के उत्पन्न होने पर पुनः भावना करने से पाँच ध्यानाङ्गों से समन्वागत उपचारसमाधि एवं प्रथमध्यान नामक अर्पणासमाधि प्राप्त होती है। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख एवं एकाग्रता ये पाँच ध्यानाङ्ग हैं। ज्ञातव्य है कि कामच्छन्द, व्यापाद, विचिकित्सा स्त्यान-मिद्ध एवं औद्धत्य-कौकृत्य – ये पाँच नीवरण धर्म समाधि के बाधक हैं। जब तक इनका प्रहाण नहीं होता, चित्त आलम्बन में यथेच्छ स्थिर नहीं हो पाता। वितर्क, विचार आदि ध्यानाङ्गों द्वारा इनका प्रहाण कर देने पर ध्यान का लाभ होता है। इनमें से वितर्क स्त्यान एवं मिद्ध का प्रहाण करता है। विचार विचिकित्सा का, प्रीति व्यापाद का, सुख औद्धत्य एवं कौकृत्य का तथा एकाग्रता कामच्छन्द का प्रहाण करते हैं।

द्वितीय आदि ध्यान प्राप्त करने की विधि—द्वितीय ध्यान के अभिलाषी साधक को प्राप्त हुए प्रथम ध्यान को ही पाँच वशिताओं[1] द्वारा वशीभूत करके पुनः पुनः भावना करनी चाहिए। वशीभाव प्राप्त हो जाने पर साधक द्वितीयादि ध्यान प्राप्त करने के लिये प्रथम ध्यान के पाँचों अङ्गों का आवर्जन करके उनमें से वितर्क और विचार के प्रति 'ये स्थूल धर्म हैं, इनके न होने पर ही चित्त शान्त होगा' इस प्रकार उनमें दोष देखकर वितर्कविचारविरागभावना करता है। फलतः उसी आलम्बन में वितर्क और विचार से रहित प्रीति, सुख और एकाग्रता—इन तीन अङ्गोंवाला द्वितीयध्यान प्राप्त करता है। इसी नय से प्रीति में दोष देख कर प्रीति-विरागभावना के फलस्वरूप प्रीति से रहित सुख और एकाग्रता इन दो अङ्गोंवाला तृतीय ध्यान प्राप्त करता है। इसी प्रकार सुख में दोष देखकर सुखविरागभावना के बल से सुखरहित उपेक्षा और एकाग्रता से युक्त चतुर्थ ध्यान प्राप्त करता है। इस चतुर्थ ध्यान को पादक बनाकर साधक चाहे तो नाना प्रकार की अभिज्ञाओं में सिद्धि प्राप्त कर सकता है, ऋद्धिविध अभिज्ञा, दिव्यश्रोत्र अभिज्ञा, परचित्तज्ञान

१. द्रष्टव्य—विसुद्धिमग्ग, पृ० ३२७–३३०।

अभिज्ञा, पूर्वनिवासानुस्मृति अभिज्ञा एवं दिव्यचक्षु अभिज्ञा संक्षेप में ये पाँच अभिज्ञाएँ हैं[1]।

अरूपावचर ध्यान—समस्त रूपी आलम्बनों के प्रति घृणा करनेवाला योगी प्राप्त चतुर्थध्यान में आदीनव (दोष) देखकर प्रथम आरूप्यविज्ञान को उपशमहेतु समझता हुआ उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करता है। उसे आकाशकात्स्न्यंवर्जित शेष ९ कात्स्न्यों में से किसी एक मण्डल को यथेच्छ विस्तृत करके रखना चाहिए। ऐसा करने पर चित्त में अतिविशाल प्रतिभागनिमित्त अवभासित होगा। उस अवभासित कात्स्न्यंमण्डल का आलम्बन न करके उसके द्वारा व्याप्त प्रदेश का 'अनन्तो आकासो, अनन्तो आकासो' (आकाश अनन्त है) इस प्रकार आकाशप्रज्ञप्ति का चित्त द्वारा मनसिकार करना चाहिए। इस प्रकार की परिकर्मभावना करने से जिस प्रकार किसी शुष्क कूप पर से ढक्कन हटाने पर शून्य विवर दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार विस्तृत प्रतिभागनिमित्त के हटने पर अनन्त आकाश परिलक्षित होता है। इस प्रकार अवभासित आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन करके परिकर्मभावना द्वारा 'आकासो अनन्तो, आकासो अनन्तो'—ऐसी पुनः पुनः भावना करते हुए जब पूर्वप्राप्त चतुर्थ ध्यान के प्रति तृष्णा से विमुक्ति होने लगती है, तब उपचारभावना की स्थिति आ जाती है। तदनन्तर और भावना करने पर आकाशानन्त्यायतन नामक प्रथम आरूप्य ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है। इस ध्यान में उपेक्षा और एकाग्रता केवल ये दो अङ्ग ही होते हैं।

इस ध्यान में अभ्यस्त हो जाने पर द्वितीय अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक इसमें भी दोष देखकर आकाशप्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके, अपितु प्रथम आरूप्यविज्ञान का ही आलम्बन करके 'अनन्तं विज्ञानं, अनन्तं विज्ञानं' इस प्रकार पुनः भावना करता है। इस प्रकार भावना करते हुए जब प्रथम आरूप्यविज्ञान के प्रति होनेवाली तृष्णा से मुक्ति होने लगती है, तब उपचारभावना की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर द्वितीय आरूप्यविज्ञान नामक विज्ञानानन्त्यायतन ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है।

तृतीय आकिञ्चन्यायतन नामक तृतीय अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक द्वितीय अरूपावचर ध्यान में भी दोष देखने लगता है और तृतीय अरूपावचर ध्यान में ही गुण देखता है। प्रथम आरूप्य विज्ञान के उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने के कारण तथा उसका भङ्गमात्र भी अवशिष्ट न रहने के कारण 'नत्थि किञ्चि, नत्थि किञ्चि'

1. इनके स्वरूप, विस्तार एवं भावनाविधि के लिए द्र०—विसुद्धिमग्ग—इद्धिविधनिद्देस, पृ० ८११।

(यह कुछ भी नहीं है) इस प्रकार नास्तिभावप्रज्ञप्ति की भावना करता है। ऐसा करते हुए जब द्वितीय आरूप्यध्यान के प्रति तृष्णा से मुक्ति होने लगती है, तब उपचारभावना प्राप्त होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर तृतीय अरूपावचर आकिञ्चन्यायतन नामक ध्यान-अर्पणा की प्राप्ति होती है।

चतुर्थ अरूपावचर ध्यान का अभिलाषी साधक तृतीय ध्यान में भी दोष देखकर 'संज्ञा गण्ड है, संज्ञा स्फोट है, संज्ञा शल्य है, न संज्ञा और न असंज्ञा ही उत्तम है' इस प्रकार भावना करता है। इस प्रकार तृतीय ध्यान में आदीनव और चतुर्थ अरूपावचर में गुण देखकर नास्तिभावप्रज्ञप्ति का आलम्बन न करके अपितु तृतीय अरूपावचर को ही 'यह शान्त है, यह प्रणीत है', इस प्रकार आलम्बन करके भावना करते हुये जब तृतीय ध्यान के प्रति भी तृष्णा से मुक्ति मिल जाती है, तो उपचार भावना की प्राप्ति होती है। तदनन्तर पुनः भावना करने पर नैवसंज्ञानासंज्ञायतन नामक चतुर्थ ध्यान-अर्पणा की उत्पत्ति होती है।

इस प्रकार शमथभावना के अन्तर्गत गृहीत चार रूपावचर एवं चार अरूपावचर ध्यानों का संक्षेप में निरूपण किया गया। ज्ञातव्य है कि रूपावचर ध्यानों में जब अग्रगति होती है, तब आलम्बन नहीं बदलता, केवल ध्यानाङ्गों में परिवर्तन होता है। एक ही आलम्बन में चारों ध्यान प्राप्त हो जाते हैं, केवल ध्यानाङ्ग बदलते रहते हैं, जब कि अरूपावचर ध्यानों में अङ्ग नहीं बदलते, चारों अरूपावचर ध्यानों में उपेक्षा और एकाग्रता ये दो ध्यानाङ्ग बराबर बने रहते हैं, किन्तु आलम्बन बराबर बदलते रहते हैं। चारों ध्यानों के आलम्बन भिन्न-भिन्न होते हैं। इसीलिये कहा है—

आलम्बनातिक्कमतो चतस्सो पि भवन्तिमा।
अङ्गातिक्कममेतासं न इच्छन्ति विभाविनो ॥ द्र०—विभावनी पृ० ३२

(२) विपश्यना भावना

मुख्यतः ज्ञान की भावना विपश्यनाभावना है। चित्तसन्तति में पुनः पुनः विपश्यनाज्ञान का उत्पाद इसका तात्पर्य है। यथार्थ वस्तुतत्त्व या निर्वाण के साक्षात्कारी मार्गज्ञान और फलज्ञान के उत्पाद की पूरी प्रक्रिया का नाम विपश्यनाभावना है। इसमें सात विशुद्धियाँ, दस विपश्यनाज्ञान, तीन विमोक्ष और तीन विमोक्षमुख आदि प्रधानतः ज्ञातव्य हैं।

१. शीलविशुद्धि—कायदुश्चरित, वाग्दुश्चरित एवं मनोदुश्चरित के अनुत्पाद के लिए अपने काय, वाक् एवं मन का संवरण ही शील है। प्रातिमोक्षसंवरशील, इन्द्रियसंवरशील, आजीवपारिशुद्धिशील एवं प्रत्ययसंनिश्रितशील 'शीलविशुद्धि' कहलाते

हैं। 'मैं झूठ नहीं बोलूँगा' इत्यादि शिक्षापदों का उच्चारण करके प्रतिज्ञात शील ही प्रातिमोक्षसंवरशील है। इसके द्वारा झूठ बोलने आदि का क्षण उपस्थित होने पर व्यक्ति की उससे रक्षा की जाती है। इन्द्रियों का नियन्त्रण करनेवाला शील ही 'इन्द्रियसंवरशील' है। इसके लिये दृष्ट, श्रुत आदि धर्मों में अभिध्या, दौर्मनस्य आदि अकुशल धर्मों के अनुत्पाद के लिये दृढ़ स्मरण एवं सम्प्रजन्य आवश्यक होता है। वस्तुतः चित्तसंयम के द्वारा ही इस शील की रक्षा सम्भव है। जीविकोपार्जन के लिए किये जानेवाले विशुद्ध कायकर्म और वाक्कर्म की कारणभूत चेतना आजीवपारिशुद्धि-शील है। चीवर, पिण्डपात, शयनासन एवं भैषज्य इन चार प्रत्ययों में संनिश्रित शील ही प्रत्ययसंनिश्रित शील है।

२. चित्तविशुद्धि—कामच्छन्द आदि नीवरण मलों से चित्त की विशुद्धि 'चित्तविशुद्धि' कहलाती है। शमथ के लिये किसी कर्मस्थान (कम्मट्ठान) को आलम्बन बनाकर भावना प्रारम्भ करनेवाला योगी जब उपचारभावना तक पहुँच जाता है, उस समय उसकी चित्तसन्तति नीवरणधर्मों से विशुद्ध हो जाती है। अतः उपचारसमाधि 'चित्तविशुद्धि' है। अर्पणाभावना द्वारा चित्तविशुद्धि के बारे में तो कुछ कहना ही नहीं है। अतः विपश्यनाभावना के अभिलाषी साधक के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने चित्त की विशुद्धि के लिये किसी एक शमथकर्म-स्थान में कम से कम उपचार समाधि अवश्य प्राप्त कर ले।

३. दृष्टिविशुद्धि—चित्त, चैतसिक एवं रूप आदि धर्मों के लक्षणों का सम्यक् परिज्ञान होने से रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान नामक पाँच स्कन्धों से व्यतिरिक्त वस्तुभूत कोई आत्मा नामक द्रव्य नहीं है, इसका बोध हो जाता है। इस प्रकार का बोध ही आत्मदृष्टि नामक मल से विशुद्ध होने के कारण 'दृष्टिविशुद्धि' कहलाता है। वस्तुतः आत्मदृष्टि नामक मल से विशुद्ध दर्शन ही 'दृष्टिविशुद्धि' है।

४. काङ्क्षावितरणविशुद्धि—'मैं अतीत भव में था या नहीं, अनागत भव में होऊँगा कि नहीं, सर्वज्ञ भगवान् बुद्ध हुए कि नहीं, इत्यादि शङ्काओं का अतिक्रमण करनेवाला ज्ञान, जो अहेतुकदृष्टि, विषमहेतुकदृष्टि आदि मलों से सुविशुद्ध होता है, 'काङ्क्षावितरणविशुद्धि' कहलाता है। इसके लिये सर्वप्रथम दृष्टिविशुद्धि की अवस्था में ज्ञात नाम एवं रूप धर्मों के कारणों का परिग्रह करना होता है। अर्थात् अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं—इत्यादि प्रकार से कार्यकारणभाव का सम्यक् परिज्ञान आवश्यक होता है।

५. मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि—विशुद्धि में संलग्न योगी की सन्तान में विपश्यनाभावना के बल से अवभास (शारीरिक कान्ति), प्रीति, प्रश्रब्धि आदि १०

धर्म[1] उत्पन्न हो जाया करते हैं। भूल से साधक उन्हें मार्ग समझ कर उनके प्रति अनुराग करने लगता है। अर्थात् उसे विपश्यनारति हो जाती है। फलतः उसकी अग्रगति रुक जाती है और विपश्यनाक्रम बिगड़ जाता है। ऐसे समय में अपनी भूल समझकर पुनः विपश्यनाभावना करने से सही मार्ग की प्राप्ति हो जाती है। शरीर-कान्ति आदि के प्रति अनुरक्त न होकर लगातार विपश्यनाभावना करना ही मार्ग एवं फल की प्राप्ति का 'मार्ग' है तथा शरीरकान्ति (अवभास), प्रीति आदि 'अमार्ग' हैं—इस प्रकार मार्ग एवं अमार्ग को ठीक-ठीक जाननेवाला ज्ञान ही 'मार्गामार्गज्ञान-दर्शनविशुद्धि' है।

(१) सम्मर्शन ज्ञान—ज्ञातव्य है कि उपर्युक्त चार विशुद्धियों की अवस्था में नाम-रूप धर्मों की अनित्य, दुःख एवं अनात्मरूप में विपश्यना नहीं की जाती। शील-विशुद्धि की अवस्था में केवल शील की विशुद्धि का प्रयास किया जाता है। चित्त-विशुद्धि की अवस्था में चित्तविशोधन के लिये समाधि की प्राप्ति का प्रयत्न होता है। दृष्टिविशुद्धि की अवस्था में नाम एवं रूप धर्मों का पृथक्-पृथक् परिच्छेद किया जाता है तथा काङ्क्षावितरणविशुद्धि की अवस्था में उन नाम-रूप धर्मों के कारणों का अन्वेषण किया जाता है। इस मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि की उत्पत्ति के लिये त्रैभूमिक नामरूप संस्कार धर्मों के अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों का सम्मर्शन किया जाता है। उस सम्मर्शन के चार प्रकार हैं। कलापसम्मर्शन—इसमें एक-एक स्कन्ध का पिण्ड के रूप में सम्मर्शन किया जाता है। अध्वसम्मर्शन—इसमें अतीत, अनागत आदि कालभेद करके विचार किया जाता है। सन्ततिसम्मर्शन—इसमें सन्तति का सम्मर्शन किया जाता है। क्षणसम्मर्शन—इसमें उत्पाद, स्थिति, भङ्ग आदि क्षणों से भेद करके वस्तु का विचार किया जाता है। यह अत्यन्त सूक्ष्म सम्मर्शन है।

(२) उदयव्ययज्ञान—सम्मर्शन ज्ञान के अनन्तर पुनः भावना करने से उदय-व्ययज्ञान की उत्पत्ति होती है। नाम-रूप धर्म न तो अपने उत्पाद से पूर्व सत् रहते हैं और न भङ्ग (निरोध) के अनन्तर ही किसी रूप में अनुस्यूत रहते हैं। कारण-सामग्री के सन्निधान के अव्यवहित अनन्तर उत्पन्न होते हैं और उत्पाद-समनन्तर ही निरुद्ध हो जाया करते हैं। अर्थात् कारणसामग्री से प्रतिक्षण नवीन धर्मों का उत्पाद होता है और उत्पादानन्तर निरनुबन्ध विनाश हो जाता है। जिस प्रकार सुई की नोक पर सरसों रखते ही गिर जाती है, उस प्रकार समस्त संस्कार धर्म उत्पन्न होते ही निरुद्ध हो जाते हैं—इस प्रकार का ज्ञान उदयव्ययज्ञान है।

---

१. द्रष्टव्य— ओभासो पीति पस्सद्धि अधिमोक्खो च पग्गहो।
सुखं ञाणमुपट्ठानमुपेक्खा च निकन्ति च॥
अभिधम्मत्थसंगहो ९:५५ पृ० ९३३।

६. **प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि**—उपर्युक्त उदयव्ययज्ञान द्वारा धर्मों के उदय एवं व्यय का ज्ञान हो जाने पर भी विपश्यनोपक्लेशक धर्मों के कारण उनके अनित्य आदि लक्षणत्रय स्पष्ट नहीं होते। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में उनका प्रहाण कर देने के अनन्तर पुनः अनित्य, दुःख एवं अनात्म लक्षणों के स्फुट ज्ञान के लिये भावना की जाती है। इस तरह उदयव्ययज्ञान से लेकर अनुलोम-ज्ञान पर्यन्त प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि का क्षेत्र है। इस विशुद्धि की अवस्था में वह ज्ञान उत्पन्न होता है जो अनित्य आदि लक्षणों को आँख से देखने की भाँति देखता है। साथ ही वह क्लेश धर्मों से विशुद्ध होता है और वही मार्ग एवं फल की प्राप्ति का कारण भी होता है। इसलिये उसे 'प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहते हैं।

(३) **भङ्गज्ञान**—पूर्वोक्त उदयव्ययज्ञान द्वारा नाम एवं रूप धर्मों के उदय एवं व्यय का ज्ञान हो जाने पर भी वे उदय और व्यय इतने शीघ्रतया घटित होते हैं कि उनमें से भङ्ग ही अधिक स्पष्टता से परिलक्षित होता है। यह भङ्गज्ञान तब पूर्णता को प्राप्त हो जाता है, जब किसी एक संस्कार धर्म के भङ्ग को आलम्बन बनानेवाले ज्ञान के भी भङ्ग का बोध होने लगता है।

(४) **भयज्ञान**—उपर्युक्त भङ्गज्ञान जब समस्त त्रैयध्विक संस्कार धर्मों के भङ्ग ही भङ्ग का दर्शन करता है तो उन संस्कार धर्मों से भय होने लगता है। अर्थात् ये संस्कार धर्म भयोत्पादक हैं—ऐसा बोध होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि विपश्यनाभावना करनेवाला योगी भयभीत होने लगता है, अपितु उसे संस्कारधर्मों के भयोत्पादकता स्वभाव का साक्षात्कार होता है।

(५–७) **आदीनव, निर्वेद एवं मोक्तुकाम्यता ज्ञान**—संस्कार धर्मों में भयज्ञान होने के अनन्तर उनमें दोष देखनेवाला आदीनवज्ञान, उनके प्रति उदासीन या वितृष्ण रहने वाला निर्वेदज्ञान तथा उनसे छुटकारे की इच्छावाला मोक्तुकाम्यता-ज्ञान उत्पन्न होता है।

(८) **प्रतिसंख्याज्ञान** -उपर्युक्त मोक्तुकाम्यताज्ञान की अवस्था में संस्कार धर्मों से केवल मुक्त होने की कामना भर होती है, योगी उनसे मुक्त नहीं हो पाता। इस प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा योगी उनसे सर्वथा मुक्ति का प्रयास करता है, फिर भी वे आसानी से छूट नहीं पाते। फलतः वह (योगी) उनके अनित्य, दुःख, अनात्म लक्षणों की पुनः पुनः भावना करता है, जिससे कि उन धर्मों के प्रति नित्य, सुख एवं आत्म दृष्टि का उत्पाद न होने पाये।

(९) **संस्कारोपेक्षाज्ञान**—उपर्युक्त प्रतिसंख्याज्ञान द्वारा संस्कार धर्मों का त्याग कर देने के अनन्तर उनके प्रति उपेक्षा बरतनेवाला संस्कारोपेक्षाज्ञान उत्पन्न होना

है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि यह ज्ञान संस्कार धर्मों का आलम्बन ही नहीं करता; क्योंकि समस्त विपश्यनाज्ञान संस्कार धर्मों का आलम्बन करके ही प्रवृत्त होते हैं। फिर भी यह ज्ञान उनके प्रति राग या द्वेष नहीं करता, अपितु उपेक्षापूर्वक अनित्य-दुःख-अनात्म की विपश्यनामात्र करता है।

(१०) **अनुलोमज्ञान**—इस ज्ञान के अनन्तर अवश्य मार्ग एवं फल की प्राप्ति होती है। फलतः यह ज्ञान ऊपर के मार्ग एवं फल की अवस्था में प्राप्त होनेवाले बोधिपक्षीय धर्मों के तथा नीचे के उदयव्ययज्ञान आदि ८ विपश्यना ज्ञानों के अनुकूल होने के कारण 'अनुलोम' ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान मार्गवीथि में आनेवाले परि-कर्म, उपचार, अनुलोम एवं गोत्रभू इन चार कृत्यों में से प्रथम तीन को निष्पन्न करता है। गोत्रभू संस्कार धर्मों का आलम्बन नहीं करता, वह केवल निर्वाण का ही आलम्बन करता है। फलतः वह विपश्यनाज्ञानों में सम्मिलित नहीं होता, अपितु विपश्यनाज्ञानों के मूर्धा के सदृश होने से विपश्यना में संगृहीत होता है। यह अनु-लोमज्ञान व्युत्थानगामिनी विपश्यना भी कहलाता है। यहाँ व्युत्थान से तात्पर्य मार्ग एवं फलज्ञान से है।

गोत्रभूज्ञान—पृथग्जन गोत्र का अभिभव करके आर्य गोत्र को उत्पन्न करने-वाला ज्ञान 'गोत्रभू' कहलाता है। यद्यपि यह निर्वाण का आलम्बन करता है, तथापि पूर्ववर्ती चित्तों द्वारा आसेवनप्रत्यय प्राप्त न होने से उस आलम्बन में प्रतिष्ठित नहीं हो पाता। यह निर्वाण का सर्वप्रथम द्रष्टा होने से मार्ग से पूर्व आवर्जन के स्थान पर होता है। फलतः तदनन्तरोत्पन्न मार्गज्ञान ही निर्वाण में सुप्रतिष्ठित होता है।

मार्ग एवं फल की उत्पत्ति

गोत्रभूचित्त का निरोध होने के अनन्तर चार कृत्यों का एक साथ सम्पादन करनेवाला मार्गचित्त उत्पन्न होता है। दुःखसत्य का परिज्ञाकृत्य, तृष्णा नामक समुदय-सत्य का प्रहाणकृत्य, निरोधसत्य का साक्षात्कार कृत्य एवं मार्गसत्य का भावना-कृत्य —इन चार कृत्यों का मार्गचित्त युगपद् सम्पादन करता है। मार्गचित्त यद्यपि दुःखसत्य की परिज्ञा करता है, तथापि वह उसे आलम्बन नहीं बनाता। आलम्बन तो केवल निरोध का ही करता है। फिर भी वह दुःखसत्य का ज्ञान असम्मोहप्रतिवेध द्वारा परिच्छेद करके कर लेता है। मार्गचित्त केवल एक बार (एक क्षण) प्रवृत्त होता है। तदनन्तर फलचित्तों का उत्पाद होता है। एक बार उत्पन्न होने पर भी वह दर्शनहेयक्लेशों का समूल प्रहाण कर लेता है।

७. **ज्ञानदर्शनविशुद्धि**—चार आर्य सत्यों का साक्षात्कारी ज्ञान, जो क्लेश मलों से विशुद्ध होता है, 'ज्ञानदर्शनविशुद्धि' कहलाता है।

उपसंहार—उपर्युक्त सात विशुद्धियों में से शीलविशुद्धि एवं चित्तविशुद्धि अवशिष्ट समस्त विशुद्धियों की मूल हैं। यदि ये न हों तो ऊपर की पाँच विशुद्धियों का उत्पाद सर्वथा अशक्य है। शीलविशुद्धि, चित्तविशुद्धि, दृष्टिविशुद्धि एवं काङ्क्षा-वितरणविशुद्धि– इन चार विशुद्धियों की अवस्था में नाम-रूप धर्मों का अनित्य, दुःख, अनात्मलक्षणों द्वारा सम्मर्शन नहीं किया जाता। मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में सम्मर्शन ज्ञान एवं उदयव्यय ज्ञान का पूर्वभाग होता है। प्रतिपदाज्ञान-दर्शनविशुद्धि की अवस्था में उदयव्ययज्ञान का अन्तिम भाग, भङ्गज्ञान, भयज्ञान, आदीनवज्ञान, निर्वेदज्ञान, मोक्तुकाम्यताज्ञान, प्रतिसंख्याज्ञान, संस्कारोपेक्षाज्ञान एवं अनुलोमज्ञान होते हैं। ज्ञानदर्शनविशुद्धि की अवस्था में कोई विपश्यनाज्ञान नहीं होता। इस अवस्था में केवल निर्वाण का ही आलम्बन होता है।

विमोक्षभेद

व्युत्थानगामिनी विपश्यना तक पहुँचने से पहले संस्कार धर्मों की अनित्य, दुःख, अनात्म रूप में अनेकशः भावना करनी पड़ती है। यदि व्युत्थानगामिनी विपश्यना नाम-रूप धर्मों में से किसी एक की 'यह अनात्म है' इस प्रकार विपश्यना करती है तो वह आत्माभिनिवेश का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'शून्यता-नुपश्यना विमोक्षमुख' कहलाती है। उसके अनन्तर प्राप्त मार्ग और फल 'शून्यता-विमोक्ष' कहलाते हैं। इसी तरह 'यह अनित्य है' इस प्रकार विपश्यना करनेवाली व्युत्थानगामिनी विपश्यना नित्यताविपर्यास का प्रहाण करने में समर्थ होने के कारण 'अनिमित्तानुपश्यना विमोक्षमुख' कहलाती है तथा तदनन्तर प्राप्त मार्ग एवं फल 'अनिमित्तविमोक्ष' कहलाते हैं। 'यह दुःख है' इस प्रकार भावना करनेवाली व्युत्थान-गामिनी विपश्यना तृष्णाप्रणिधि के प्रहाण में समर्थ होने के कारण 'अप्रणिहितानु-पश्यना विमोक्षमुख' कहलाती है तथा तदनन्तर प्राप्त मार्ग एवं फल अप्रणिहित विमोक्ष कहलाते हैं।

श्रद्धेन्द्रिय योगी प्रायः अनित्य की विपश्यना करनेवाला होता है, अतः वह 'अनिमित्तविमोक्ष' प्राप्त करता है। समाधीन्द्रिय योगी प्रायः दुःख की विपश्यना करनेवाला होता है, अतः 'अप्रणिहितविमोक्ष' प्राप्त करता है तथा प्रज्ञेन्द्रियाधिक्य प्रायः अनात्म की विपश्यना करनेवाला होने से 'शून्यताविमोक्ष' प्राप्त करता है।

अपि च मार्ग एवं फलों का आलम्बन निर्वाण ही होता है। वह निर्वाण शून्य, अनिमित्त एवं अप्रणिहित ही होता है, अतः उसका आलम्बन करनेवाले मार्ग एवं फल आलम्बन के वश से शून्यताविमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष या अप्रणिहितविमोक्ष ही होते हैं।

मार्ग एवं फल राग आदि क्लेश धर्मों से सर्वथा शून्य होते हैं, संस्कार निमित्तों का आलम्बन न करके सदा निर्वाण का ही आलम्बन करते हैं तथा विषयों के प्रति अभिलाषावान् भी नहीं होते, अतः स्वभावतः भी वे शून्यताविमोक्ष, अनिमित्तविमोक्ष एवं अप्रणिहितविमोक्ष कहलाते हैं।

पुद्गलभेद

उपर्युक्त प्रकार से मार्ग एवं फल की प्राप्ति हो जाने पर योगी अपनी चित्त-सन्तति में उत्पन्न प्रत्येक घटना का प्रत्यवेक्षण करता है। इस समय उसका चित्त अत्यन्त विशुद्ध होता है। मार्गज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद पुद्गल पृथग्जन नहीं रहता। वह आर्य हो जाता है। यदि वह अपने द्वारा प्राप्त ज्ञान को पुनः प्राप्त करना चाहता है, तो उसे उदयव्ययज्ञान से लेकर क्रमशः भावना करनी पड़ती है। अन्त में संस्कारोपेक्षाज्ञान के अनन्तर फलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसे ही 'फलसमापत्ति' कहते हैं। स्रोतापत्ति मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल स्रोत-आपन्न कहलाता है। इसी तरह सकृदागामी मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल सकृदागामी, अनागामी मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल अनागामी तथा अर्हत् मार्ग एवं फल प्राप्त पुद्गल अर्हत् कहलाता है। अर्हत् के लिए कुछ भी प्राप्तव्य अवशिष्ट नहीं रहता। वह कृतकृत्य हो जाता है और यही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

स्रोत-आपन्न हो जाने के बाद पुद्गल इस संसार में अधिक से अधिक सात बार जन्म ग्रहण करता है। वह कभी भी तिर्यक्, नरक, प्रेत या असुर योनि में उत्पन्न नहीं होता। सकृदागामी हो जाने पर पुद्गल इस संसार में अधिक से अधिक दो बार जन्म ग्रहण कर सकता है। एक बार देवभूमि में और एक बार कामभूमि में जन्म ग्रहण करता है। अनागामी होने पर पुद्गल इस कामभूमि में उत्पन्न न होकर केवल ब्रह्मभूमि में उत्पन्न होकर अर्हत् मार्ग एवं फल प्राप्त करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अर्हत् होने पर पुद्गल जब च्युत होता है, तब उसके समस्त नाम-रूप धर्मों का अशेष प्रहाण हो जाता है और वह निरुपधिशेष निर्वाणधातु का लाभी होता है।

स्थविरवादी बौद्ध साधना का यही अन्तिम लक्ष्य है, जो चित्त के द्वारा रूप को आलम्बन बनाकर प्रारम्भ होती है और अपनी रूपसन्तति और चित्तसन्तति के अशेष निरोध में पर्यवसित होती है। यह उनके अनात्मवादी विचार और साधना का फलितार्थ है। बौद्ध कभी काल्पनिक अर्थ को सत्य समझ कर उसकी प्राप्ति के इच्छुक नहीं होते। वे अपने ज्ञान का परीचण सर्वदा वस्तु के साथ संगति की कसौटी पर करते रहते हैं। इसीलिए वे कभी किसी नित्य या काल्पनिक द्रव्य या अवस्था की प्राप्ति के लिये साधना आरम्भ नहीं करते। यही कारण है कि निरुपधिशेष निर्वाण ही इसकी अन्तिम उपलब्धि है।

•••

महायान साधना का विकास

प्रो. जगन्नाथ उपाध्याय

महायान की साधना का उद्गम सम्पूर्ण बौद्ध इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना है। विश्व के आध्यात्मिक विकास के इतिहास में भी इस जोड़ की दूसरी घटना नहीं दिखाई देती। भगवान् बुद्ध ने मध्यमार्ग—चार आर्यसत्य, आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग एवं प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना से मानव जीवन के समक्ष एक विराट् आध्यात्मिक लक्ष्य रखा और बाह्य कर्मकाण्ड के स्थान पर कर्त्तव्य के रूप में विविध प्रकार से 'अपरिमित मैत्री' एवं चित्तशुद्धि के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। किन्तु जब तक साधना के क्षेत्र में महायान का उद्गम नहीं हुआ, तब तक मध्यममार्ग की वह अन्तर्निहित विशालता प्रकट नहीं हुई, जिससे यह निश्चित हो सकता कि व्यक्ति का दुःखों से छुटकारा पा लेना मात्र जीवन का लक्ष्य नहीं है, अपितु आर्त्त जगत् के दुःखों को स्वयं अङ्गीकार कर उन्हें दुःखों से परित्राण करना है। इससे आध्यात्मिक साधनाओं की दिशा केवल लोकाभिमुखी ही नहीं हुई, प्रत्युत भारतीय साधना के एक विशाल क्षेत्र में आध्यात्मिक विकास के लिये लोक-परित्राण के महत्त्व को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रकार अध्यात्मसाधना व्यक्तिगत क्षेत्र से उठ कर लोक-परायण बन गयी। आध्यात्मिक क्षेत्र की इस क्रान्तिकारी मान्यता का न्यूनाधिक प्रभाव परवर्ती सभी भारतीय साधनाओं पर पड़ा। इसीलिये ज्ञान, कर्म, भक्ति और तन्त्रों के पूर्वरूप में महायान उद्भव के पश्चात् जो मौलिक परिवर्तन हुए हैं, उनके अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति के आध्यात्मिक पक्ष को समझना बहुत ही अपूर्ण होगा। तज्ज्ञ विद्वानों ने ईसाई धर्म पर पड़े हुए बौद्ध प्रभाव का अध्ययन किया है। इसी प्रकार इस्लाम पर भ्रातृत्व और अंशतः निवृत्तिपरायणता के रूप में बौद्ध प्रभाव स्वीकार किया जाता है।

साधना का उद्गम

महायान की दिशा में बौद्ध साधना का प्रारम्भ ईसा-पूर्व लगभग तृतीय शताब्दी में माना जाता है। उसका ग्रन्थ के रूप में सुविकसित आधार अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में मिलता है। बौद्ध सम्प्रदायों के विकासक्रम में महायान का उद्भव महासांघिक सम्प्रदाय से माना जाता है। महासांघिक सम्प्रदाय का उद्गम भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के लगभग १०० वर्ष पश्चात् वैशाली की द्वितीय संगीति के

ऐतिहासिक अवसर पर ही हो चुका था। इस घटना के सौ-सवा सौ वर्षों के उपरान्त सम्राट् अशोक तक जितने बौद्ध निकायों का विस्तार हो चुका था, उनका १८ प्रमुख निकायों में संग्रह कथावत्थु ग्रन्थ में मिलता है। महासांघिकों के उद्भव के साथ ही उससे प्राचीन सभी सिद्धान्तों एवं साधनाओं का एक संग्राहक नाम पड़ा 'स्थविरवाद'। महासांघिक तात्कालिक सभी अर्वाचीन सिद्धान्तवादियों में प्रमुख थे, फलतः सभी परवर्ती निकायों का प्रतिनिधित्व वे करते थे। इसी कारण बाद में विकसित होने वाले चैत्यवादी, शैलवादी, वैपुल्यवादी एवं अन्धकों आदि से महासांघिकों को स्पष्टतया अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में महासांघिकों के वैचारिक एवं आचारगत पृष्ठभूमि में ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी तक आन्ध्र प्रदेश में अन्यान्य बौद्ध निकाय खड़े हो गये। इन्हीं सब निकायों के सैद्धान्तिक और आचारगत आंशिक अनुदानों से 'महायान' एक विशाल सम्प्रदाय के रूप में प्रतिफलित हुआ। बौद्धों की साम्प्रदायिक मान्यता के अनुसार सारनाथ के धर्मचक्र-प्रवर्तन के अतिरिक्त राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर भी भगवान् बुद्ध द्वारा द्वितीय धर्मचक्र-प्रवर्तन किया गया था, महायान की देशना उसी के द्वारा प्रवर्तित हुई थी। ऐतिहासिक आधारों से इतना ज्ञात है कि वैशाली में स्थविरवाद के विरोध में बहुत बड़ा मतभेद खड़ा हुआ, विरोधियों ने अपना अस्तित्व 'महासांघिक' नाम से अलग स्थापित किया, जिसका परवर्ती विकास महायान के रूप में हो सका।

ऐतिहासिक एवं साम्प्रदायिक दोनों दृष्टियों से निश्चित कहा जा सकता है कि महायान का प्रथम उद्गम वैशाली और मगध की भूमि में हुआ, किन्तु उसे सुगठित रूप मिला ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी तक दक्षिण के आन्ध्र प्रदेश में, सम्भवतः धान्यकटक में; जो वर्तमान काल में गुंटूर जिला स्थित धरनीकोट का प्रदेश है। आन्ध्र-नरेश शातवाहन ने महायान का नये एवं सुविकसित रूप में उत्तर भारत में मगध तक पुनः प्रचार किया। फिर मगध से उत्तर-पश्चिम दिशा में महायान का प्रसार बढ़ा। मानवीय दृष्टि से महायान की प्रेरणाएँ इतनी आकर्षक थीं कि ईशवीय प्रथम शताब्दी में ही यह महान् धर्म भारत की पश्चिमोत्तर सीमा को लाँघकर बीच के सारे प्रदेशों को दीक्षित करते हुए पूरे मध्य एशिया और चीन की ओर अग्रसर हो गया। फलतः अगली दो-तीन शताब्दियों के ही बीच जापान, कोरिया, मंगोलिया आदि दर्जनों देशों में महायान का सद्धर्म सुप्रतिष्ठित हो गया।

साधना-साहित्य

महायान का साहित्य दो भागों में विभक्त है—१. सूत्र और २. शास्त्र। महायान के पूर्ववर्त्ती सम्प्रदाय महासांघिक आदि अनेक सम्प्रदायों का पिटकादि साहित्य अनेकविध प्राकृतों एवं संकरसंस्कृतों में ग्रथित था, जिनमें महावस्तु, दिव्यावदान,

अवदानशतक आदि कुछ ग्रन्थों को छोड़कर शेष साहित्य संस्कृत में नहीं मिलता। इन ग्रन्थों के अभाव में परवर्त्ती काल के विकसित महायानी रूपों की पृष्ठभूमि का पूरी तरह आकलन नहीं किया जा सकता। शिक्षासमुच्चय आदि ग्रन्थों में उपलब्ध सन्दर्भों के आधार पर तथा नँजियो आदि चीनी सूची-ग्रन्थों के आधार पर महायान के सूत्रों की संख्या पाँच सौ से भी ऊपर जाती है। इदानीन्तन मूल संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या तीस के लगभग है। यह ज्ञातव्य है कि महासांघिकों से उद्गत सम्प्रदायों में वैतुल्यवादी या वैपुल्यवादी नाम से एक प्रसिद्ध सम्प्रदाय था। कथावस्तु तथा उसकी अट्ठकथा के अनुसार वह शून्यतावादी था, जिसका उक्त ग्रन्थ में स्थविरवाद की दृष्टि से खण्डन किया गया है। उपलब्ध महायान सूत्रों की साधना का प्रधान आधार शून्यता ही है। महायान सूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है—शून्यता के आधार पर बोधिसत्त्व की साधना और चर्या। महायान शास्त्रों का भी विषय शून्यताधारित दार्शनिक विवेचन है। सम्पूर्ण महायान दर्शन उसका शास्त्र-साहित्य है। शास्त्र-साहित्य में ऐसे भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनका प्रधान विषय महायान-साधना है। उनमें संस्कृत में उपलब्ध कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं—अश्वघोष का महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र, मैत्रेय और असङ्ग का महायान सूत्रालङ्कार, असङ्ग का मध्यान्तविभागशास्त्र और अभिसमयालङ्कार तथा उस पर हरिभद्र की आलोकटीका, शान्तिदेव का शिक्षासमुच्चय एवं बोधिचर्यावतार।

महायान के विभाग

महायान दर्शन के सुपरिचित विभाग दो हैं—१. माध्यमिक या शून्यवाद और २. योगाचार या विज्ञानवाद। इन दोनों विभागों के अनेक अन्तर्गत उपविभाग हैं। किन्तु सभी प्रकार के महायानी शून्यता को परमार्थ मानते हैं। शून्यता के इस मूलभूत समान सिद्धान्त के आधार पर ही ये सभी महायानी माने जाते हैं। आचार्य नागार्जुन के एक विशेष प्रकार के सर्वशून्यतावाद से भिन्नता बताने के लिये वसुबन्धु प्रभृति आचार्यों को विज्ञानवादी कहा जाता है। वास्तव में विज्ञानादितत्त्व के द्वारा शून्यता का ही बोध होता है। शून्यता की परमार्थता के आधार पर ही दोनों प्रकार के महायानियों की साधना बढ़ती है। आचार्य असङ्ग कहते हैं—जब प्रज्ञा से यह देखा जाता है कि चित्त के विलास से भिन्न जगत् नहीं है, तो उसी से चित्त का अनस्तित्व भी ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार जब चित्तबाह्य एवं चित्तान्तर्वर्ती दोनों प्रकार के जगत् के नास्तित्व का बोध हो जाता है, तब परमार्थभूत धर्मधातु की प्रतिष्ठा होती है (म० सू० ६-८)।

महायान के आचार्य

महायान दर्शन के प्रवर्तकों में भी प्रमुख आचार्य प्रायः दाक्षिणात्य हैं, किन्तु इसका विकास एवं प्रसार उत्तर एवं पश्चिम भारत के आचार्यों द्वारा ही सम्भव

हुआ। अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता सूत्र में इस ऐतिहासिक तथ्य का स्पष्ट संकेत मिलता है। महायान शास्त्रों के प्रवर्तक आचार्यों में नागार्जुन, आर्यदेव, भव्य, बुद्धपालित, मैत्रेयनाथ, असङ्ग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति एवं हरिभद्र आदि प्रमुख हैं। यह प्रसन्नता की बात है कि संस्कृत में उपलब्ध महत्त्वपूर्ण अधिकांश महायान सूत्र एवं शास्त्रों का प्रकाशन मिथिला अनुसन्धान संस्थान द्वारा हो गया है। ईसा पूर्व लगभग तीसरी शताब्दी में महासांघिकों के उद्भव से लेकर ईसवीय शतक के प्रारम्भ में सम्राट् कनिष्क के काल तक विभिन्न रूपों में एक विशेष धारा में साधना का विकास होता रहा, जिसके अन्त में बोधिसत्त्व-साधना फलित हुई। उस साधना की दार्शनिक व्याख्या आचार्य नागार्जुन एवं आर्यदेव द्वारा की गयी। ह्वेनसांग के अनुसार कनिष्क के काल में अश्वघोष, नागार्जुन, आर्यदेव और कुमारलब्ध ये चार आचार्य संसार को प्रकाशित करने वाले चार सूर्यों के समान थे। आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में जालन्धर या कश्मीर के कुण्डलवन विहार में सम्राट् कनिष्क ने जो बौद्ध साधकों एवं विद्वानों की चतुर्थ संगीति आयोजित की थी, उसी में सर्वास्तिवाद से महायान का भेद स्पष्ट हुआ और सम्भवतः उसके बाद से ही पूर्ववर्ती बौद्ध सम्प्रदायों को 'हीनयान' नाम दिया जाने लगा।

हीनयान से महायान का भेद

हीनयान से महायान के अनेक भेद हैं, किन्तु साधना की दृष्टि से तीन प्रमुख भेद हैं—१. बोधिचित्त के द्वारा ६ या १० पारमिताओं की साधना, २. दशभूमियां तथा ३. त्रिकायवाद।

बोधिसत्त्व साधना

महायान की साधना बोधिसत्त्व की साधना कही जाती है। बोधिसत्त्व-साधना का प्रारम्भ बोधिचित्त से होता है। बोधिचित्त परार्थ-चित्त है। सामान्यतः परार्थ-चित्तता से ऐसा ज्ञात होता है कि यह चित्त की परोपकारी वृत्ति है, वास्तव में यह परार्थता उससे बहुत भिन्न और उत्कृष्ट है। सभी सम्प्रदायों में साधना का मेरुदण्ड चित्त माना जाता है, किन्तु बोधिसत्त्व-साधना का आधार अचित्तता है। इस अचित्तता की भूमि पर ही परार्थचित्तता खड़ी की जा सकती है, यही बोधिसत्त्व साधना का योग-मार्ग है, और बुद्धत्वलाभ उसकी पराकाष्ठा है। दुःखी एवं आर्त्त जनों के उद्धार की अनवरत क्रिया ही बुद्धत्व है। इसलिये किसी भी महायानी साधक की यही तीव्र आकाङ्क्षा रहती है कि अनागत बुद्धों की गणना में वह प्रविष्ट हो सके, इसके लिये वह आत्म-त्याग, जीवनत्याग से भी नहीं चूकता। महायान की मान्यता है कि बुद्धत्व का बीज मनुष्यमात्र में है, इसलिये उस मत में सभी मनुष्य बुद्धगोत्र या

तथागत-गोत्र माने जाते हैं। इसीलिये वे कहते हैं कि सभी में बुद्धत्व-लाभ करने की शक्ति बीजरूप में निहित है। इसके लिये साधक को सर्वप्रथम बोधिचित्त का उत्पाद करना होगा, अर्थात् समग्र जगत् के परित्राण के लिये मैं भी बुद्धत्व प्राप्त करूँ, इस प्रकार की चेतना का प्रणिधान लेना होगा। इस संकल्पित परार्थमार्ग पर ही साधक जैसे-जैसे प्रस्थान करता जायगा, वैसे-वैसे उत्तरोत्तर इस वास्तविकता का उसे ज्ञान होने लगेगा कि साधना की भूमि अचित्तता ही है। हम देखेंगे कि अचित्तता के आधार पर ही वास्तविक रूप में परार्थचित्तता खड़ी हो सकती है।

प्रज्ञापारमिता एवं अचित्तता

अचित्तता साधना की अविकल्प एवं अविकार भूमि है। चित्त को वास्तव में अचित्त ही कहा जा सकता है, क्योंकि अन्य सभी बौद्ध निकायों में उसे प्रकृत्या प्रभास्वर माना गया है। बोधिचित्त की अचित्तता एक ओर करुणा का उत्स है, तो दूसरी ओर प्रज्ञा का। आगे चलकर इनका महाकरुणा और महाप्रज्ञा के रूप में विकास होता है। इनकी युगनद्धता (जोड़ी) से बुद्धत्व का विकास होता है। वास्तव में प्रज्ञापारमिता ही बुद्धत्व की जननी है, अर्थात् बुद्धत्वप्रापक सभी धर्म प्रज्ञा भूमि पर ही उद्गत एवं विकसित होते हैं। महायान की प्रज्ञापारमिता प्राचीनतम अष्टाङ्गिक मार्गों में प्रथम 'सम्मादिट्ठि' का ही विशेष विकास है, इसी प्रकार प्राचीनतम शीलों का भी विनियोग एक विशेष लक्ष्य से महाकरुणा के रूप में हुआ। इसलिये प्रज्ञा की भूमि में करुणा से समन्वित होकर बौद्ध योगी महायान-साधना प्रारम्भ करता है। उसकी साधना की दुरूहता यह है कि वह कहीं भी चित्त के लिये स्थान नहीं बनाता। चित्त का स्थान या ग्राह्य बन भी नहीं सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि में किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है, जिसे वह ग्रहण करे या छोड़े। भगवान् बुद्ध ने 'निमित्तं परिवज्जेहि' आदि वचनों से कहा था कि रागादिमूलक निमित्तों को छोड़ना होगा। महायान के अनुसार उसका फलितार्थ यह है कि धर्ममात्र का परिग्रह नहीं होना चाहिये। वास्तव में महायान साधना का आलम्बन निर्वाण या सर्वज्ञता भी नहीं हो सकता, क्योंकि प्रज्ञापारमिता वह विशेष साक्षात्कार है, जिससे न तो पदार्थों की सत्ता सिद्ध होती है और न उनकी उपलब्धि। जैसे रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कारों की स्वाभाविक सत्ता नहीं है, वैसे ही चित्त में बैठी वस्तुओं के लक्षण भी लक्षण-स्वभाव नहीं हैं और न लक्ष्य लक्ष्य-स्वभाव है। वास्तव में प्रज्ञापारमिता का दर्शन यह है कि आन्तरबाह्य सभी जीव-जगत् अजात एवं अनुत्पन्न हैं।

महाकरुणा एवं उपाय

इस अचित्तता के आधार पर करुणा से प्रेरित होकर साधक अपने चित्त की रक्षा करता है, उसे विगलित नहीं होने देता। शिक्षासमुच्चय में उद्धृत अनेक बुद्ध-

वचनों के आधार पर शान्तिदेव कहते हैं 'सत्त्वोपभोगार्थं आत्मभावादि पालयेत्' (२।६)। यह 'आत्मभाव रक्षा' आत्मत्याग की महायानी प्रक्रिया है। इसलिये बोधिचित्त का प्रकर्ष उसकी अचित्तता में ही है। इस मार्ग का पथिक होने से बोधिसत्त्व की सारी चर्या अनिमित्त-चर्या या अनाभोग-चर्या होती है। अचित्तता की भूमि पर चित्त की रक्षा के बिना लोक-कल्याण के लिये कोई महान् निर्माण नहीं किया जा सकता, सर्व-जगत् का दुःखों से परित्राण करना तो दूर की बात होगी। परित्राण की चेतना मात्र साधना का लक्ष्य नहीं है, प्रत्युत उससे प्रेरित होकर परार्थ के लिये उपायकुशलता एवं अपरिमित सम्भार (सामग्री) जुटाना बोधिसत्त्व की करुणा का अपरिहार्य अङ्ग है। करुणा-परवश साधक समस्त आर्त्त जगत् को अपनी करुणा का आलम्बन बनाता है। यहाँ भी इस बात की ओर विशेष ध्यान देना होगा कि इस महापुरुष की करुणा की उत्पत्ति दुःखी सत्त्व के प्रति नहीं, बल्कि दुःख-सन्तान के प्रति होती है। इस प्रकार बोधिसत्त्व की करुणा अनालम्बन हो जाती है। क्योंकि प्रज्ञा के द्वारा उसकी आत्म-दृष्टि उन्मूलित रहती है। साधना की इस प्रकृष्ट अवस्था को प्राप्त करने के लिये साधक को दो प्रकार के सम्भारों को जुटाना होता है—१. पुण्य-सम्भार, २. ज्ञान-सम्भार। पुण्य-सम्भार से वह सांसारिक अभ्युदय तथा ज्ञान-सम्भार से अज्ञानावरणों का प्रहाण कर अक्लिष्ट हो संसरण करता है।

द्विविध सम्भार

पुण्य-संभार अकुशल कर्मों के प्रहाण एवं कुशल कर्मों के सम्पन्न करने से प्राप्त किया जाता है। इसके लिये सर्वप्रथम दृढ़ अध्यवसाय और दृढ़ आशय चाहिये। दृढ़ अध्यवसाय के द्वारा सब प्रकार के शैथिल्य का निवारण किया जाता है और उससे चित्त और काय इतना विशुद्ध एवं दृढ़ बनाया जाता है कि परार्थ-साधना में लोभमोहादि मारों से किसी भी प्रकार साधक प्रकम्पित न हो। इसी तरह आशय के दृढ़ीकरण का अभिप्राय है, पदार्थ के लिये अकृत्रिम, अकुटिल एवं अविचल निश्चय। इन सब के पीछे करुणा के वेग का ही महत्त्व है। महायान सूत्रों में कहा है कि चक्रवर्ती राजा के चलने पर उसके पीछे जैसे सेना एवं समस्त बलकाय प्रयाण कर देता है, वैसे ही बोधिसत्त्व की महाकरुणा के पीछे सभी बुद्धत्व-प्रापक धर्म अनुगत हो जाते हैं। ज्ञान-सम्भार प्रज्ञा की असङ्गता एवं निःस्वभावता की दृष्टि है। इससे यथार्थता-अयथार्थता, कुशल-अकुशल का भेद-ज्ञान होता है। इसके बिना साधक ऐसे आवरणों से घिरा रहता है कि वह 'सर्व' का साक्षात्कार नहीं कर पाता, फलतः एक सीमा से आगे परार्थ-सिद्धि नहीं कर सकता। जगत् के निरवशेष कल्याण के लिये अचित्तता की भूमिपर निःस्वभावता एवं नैरात्म्य का पूर्ण ज्ञान करना होगा। इस प्रकार के ज्ञान

की परिपूर्णता से ही प्रज्ञापारमिता पूरी होती है, इस कोटि का ज्ञान-संभार ही प्रज्ञापारमिता है। प्रज्ञापारमिता छठी पारमिता है, इसी के प्रकाश में दान, शील, क्षान्ति, वीर्य एवं ध्यान, उत्तरोत्तर वृद्धिङ्गत होते हैं और परिपूर्णता प्राप्त कर बुद्धत्व-लाभ के कारण बनते हैं। ये पाँच पारमिताएं पुण्य-संभार हैं, प्रज्ञापारमिता ज्ञान सम्भार है। महायानसूत्रालङ्कार (पृ० १३९) के अनुसार दान और शील के बल से पुण्यसम्भार, प्रज्ञा से ज्ञान-सम्भार, क्षान्ति, वीर्य और ध्यान से दोनों की उत्पत्ति होती है। किन्तु अन्त में सबका परिणमन प्रज्ञा में ही होता है, अतः पाँचों परिमिताएं प्रज्ञापारिमिता ही हो जाती हैं। पञ्च पारमिताएं प्रज्ञा के बिना अन्धी हैं। किन्तु तब तक प्रज्ञा उपनीत नहीं हो सकती, जब तक ये पारमिताएं पूरी न हों। प्रज्ञा हेतु-फलात्मक दो प्रकार की है। हेतुभूत प्रज्ञा श्रुत, चिन्ता और भावना के अभ्यास से सम्पन्न होती है। इसे भूमिप्रज्ञा भी कहते हैं। इसके अनन्तर उत्तरोत्तर भूमियों का प्रतिवेध करते हुए द्विविध आवरणों (क्लेशावरण-ज्ञेयावरणों) का प्रहाण किया जाता है। द्विविध आवरणों से प्रहीण बोधिसत्त्व चार अतिरिक्त पारमिताओं को भी परिपूर्ण करता है। ये चार हैं—उपाय, प्रणिधान, बल और ज्ञान। प्रथम तीन से दानादि पारमिताओं की अक्षयता, सदातनता और प्रसंख्यानबलिता और चतुर्थ से ज्ञान धर्मकाय की प्रतिष्ठा होती है। इस प्रकार पारमिताएं १० हो जाती हैं।

आवरण-क्षय

नैरात्म्य-बोध ही महायान साधना की प्रकर्षता का मान-दण्ड है। महायानी साधक के उपर्युक्त क्लेश और ज्ञेय सम्बन्धी दो आवरण होते हैं। इन आवरणों का प्रहाण ही उसकी मूल समस्या है। चित्त की निम्नतम भूमियों में जो आवरण हैं, उन्हें ही हटाना पर्याप्त नहीं है, अपितु उत्कृष्टतम भूमि में जाकर निर्वाण भी बुद्धत्व-लाभ के मार्ग में बाधक बन जाता है। इस प्रकार बोधिसत्त्व को अविद्या और शम (निर्वाण) दोनों प्रकार के आवरणों को हटाना होता है। महायान के अनुसार क्लेशावरण प्रहीण करके पूर्ववर्त्ती स्थविरवादी आदि साधकगण साधना की इतिश्री मान लेते हैं, किन्तु बाह्य जगत् के प्रति उनकी आत्मदृष्टि बनी ही रहती है, जिससे नैरात्म्य का पूर्ण अधिगम उन्हें नहीं हो पाता। ऐसे साधकों में अज्ञान की अक्लिष्ट वासना बनी रहती है, उसके प्रहाण के लिये धर्म-नैरात्म्य का अधिगम आवश्यक है। इन द्विविध नैरात्म्यों के साक्षात्कार के लिये ही पारमिता-साधना का उद्भव एवं विकास हुआ।

द्विविध नैरात्म्यों के साक्षात्कार के आधार पर निरवशेष लोक के अपरिमित कल्याण के लिये एक ओर पारमिताओं की तथा दूसरी ओर दश-भूमियों की व्यवस्था की गई है। दशभूमियाँ हैं—१. प्रमुदिता, २. विमला, ३. प्रभाकरी, ४. अर्चिष्मती,

५. सुदुर्जया, ६. अभिमुखी, ७. दूरङ्गमा, ८. अचला, ९. साधुमती, १०. धर्ममेघा। इन दशविध भूमियों में दशविध पारमिताएँ पूर्ण हो जाती हैं। पारमिताएँ तथा भूमियाँ आवरणों के प्रतिपक्ष हैं। दशभूमिक सूत्र एवं मध्यान्तविभाग आदि ग्रन्थों में उन आवरणों तथा उनके नाश का सविस्तर वर्णन है। विशेषतः दशभूमिक सूत्र के आधार पर इन भूमियों का संक्षिप्त विवरण मिल जाता है—

दश भूमियाँ

बोधिचित्त-प्राप्त साधक द्वारा प्रथम प्रमुदिता भूमि में चूँकि परार्थ सिद्ध होना है और महाबोधि लाभ करना है, इससे उसमें तीव्र मोद उत्पन्न होता है, इसीसे इसका नाम 'प्रमुदिता' है। यह साधक निर्भय होकर बोधिसत्त्व की परार्थचर्या में लग जाता है, क्योंकि क्लेश की मूलभूत इसकी आत्म-संज्ञा नष्ट हो चुकी है, अतः उसमें अपने प्रति किसी प्रकार की आसक्ति (आत्मस्नेह) नहीं रह गयी है। इसलिये आजीविका, निन्दा, मरण, दुर्गति एवं सभा-चातुरी से सम्बन्धित भय इसे नहीं रहता। इस भूमि में यह दश प्रकार के प्रणिधान, दश प्रकार की निष्ठाओं और दश प्रकार की निपुणताओं का अर्जन करता है।

द्वितीय 'विमला' भूमि में सभी प्रकार की दुःशीलता समाप्त हो जाती है और दश प्रकार के चित्ताशयों का प्रवर्तन होता है। ये दश हैं—ऋजुता, मृदुता, कर्मण्यता, दम, शम, कल्याण, अनासक्ति, अनपेक्षता, उदारता, माहात्म्य सम्बन्धी आशय। इस द्वितीय भूमि में प्रतिष्ठित बोधिसत्त्व दश कुशल कर्मपथों को सम्पन्न करता है। यह भूमि प्रधानतः शीलपारमिता की भूमि है।

तृतीय 'प्रभाकरी' भूमि में बोधिसत्त्व दशविध चित्ताशयों को अपने-अपने विषयों में लगाता है, जिसे चित्ताशय-मनस्कार कहते हैं। बोधिसत्त्व इन दशविध चित्ताशयों को लोक के समक्ष प्रस्तुत करता है और उन्हें इससे समन्वित करता है। इसमें स्थित होकर वह सभी संस्कारों की अनित्यता, दुःखता, क्षणिकता आदि का प्रत्यवेक्षण कर तथागत-ज्ञान के लिये प्रयत्नशील हो जाता है। सभी प्राणियों को अनेकानेक दुःखों में मग्न देखकर उनके उद्धार के लिये अपने ही ऊपर सारा दायित्व लेता है और उसके लिये उपाय तैयार करता है। इस अवस्था में वह मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का अपरिमित विस्तार करता है। इस भूमि में साधक को विविध प्रकार की ऋद्धियाँ और अभिज्ञाओं का लाभ होता है। इस भूमि में क्षान्तिपारमिता प्रधान रहती है।

चतुर्थ 'अर्चिष्मती' में बोधिसत्त्व विशुद्ध धर्मालोक में प्रविष्ट होकर दश ज्ञान-परिपाचक धर्मों से संयुक्त होता है। इस भूमि में सत्काय दृष्टि से उत्पन्न आत्म,

जीव, पुद्गल, स्कन्ध, धातु, आयतनादि दृष्टियाँ समाप्त हो जाती हैं। इस अर्चिष्मती की ऊष्मा में सभी अकुशल जल जाते हैं, सभी कुशलमूल अराग, अद्वेष, अमोह, सुतप्त हो प्रभास्वर हो जाते हैं। इसी भूमि में सैंतीस बोधिपाक्षिक धर्मों का उद्भव एवं विकास होता है। बोधिपाक्षिक धर्म है—चार स्मृत्युपस्थान (काय, वेदना, चित्त और धर्म), चार सम्यक्प्रधान—जिससे अकुशल उत्पन्न नहीं होने पाते, वर्तमान अकुशलों का प्रहाण, अनुत्पन्न कुशल का उत्पादन, विद्यमान कुशलों का असंप्रमोष एवं वृद्धि, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रियाँ—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा; ५ प्रकार के बल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा; सात प्रकार के बोध्यङ्ग स्मृति, धर्म-प्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा; तथा आठ अष्टाङ्गिक मार्ग—दृष्टि, संकल्प, वाक्, कर्मान्त, आजीव, व्यायाम, स्मृति और समाधि का सम्यक्त्व। यह वीर्यपारमिता-प्रधान भूमि है।

पञ्चम 'सुदुर्जया' भूमि में चित्ताशय-विशुद्धि, समता अथवा चित्त-विशुद्धि कठिनाई से प्राप्त होती है, अतः उसे 'सुदुर्जया' कहते हैं। चित्ताशय समता इसकी विशेषता है जो दश प्रकार से सम्पन्न होती है। यहाँ आर्यसत्यों का तथा उसके सहायक अन्यान्य सत्यों का बोध होता है। इस भूमि में इस यथार्थता का बोध होता है कि जो कुछ उत्पन्न संस्कृत पदार्थ हैं, वे तुच्छ एवं मृषा हैं। इसके फलस्वरूप बोधिसत्त्व से बड़े वेग से प्राणियों के प्रति महाकरुणा अभिमुख हो जाती है और साधक के जीवन में महामैत्री का आलोक फैल जाता है। यह ध्यान-पारमिता की भूमि है। यहाँ सामन्तक और मौल दोनों प्रकार के ध्यानों को पूर्ण हो जाना चाहिए। साधक जिस भूमि पर अवस्थित होता है, उससे निम्नभूमि के क्लेशों का नाश 'सामन्तक' द्वारा होता है। उसके बाद उससे उन्नत भूमि में जो 'ध्यानाङ्ग' उत्पन्न होते हैं, उसे 'मौल' कहते हैं। मौल की पूर्णता ही ध्यान की पूर्णता है। ध्यान की दो भूमियाँ हैं—रूप भूमि और अरूप भूमि। ये ध्यान-लोक हैं। प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ध्यानों के क्रम से रूपी ध्यान चार होते हैं। इसी प्रकार अरूपी भी चार होते हैं—आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन तथा नैवसंज्ञानासंज्ञायतन। ये सभी लौकिक समाधियाँ हैं। लोकोत्तर समाधि इससे अत्यन्त भिन्न है। यह निःस्वभावता या नैरात्म्य का आलम्बन करने वाली समाधि है।

षष्ठ 'अभिमुखी' भूमि प्रज्ञाभिमुखी होती है, वह संसार और निर्वाण दोनों को अभिमुख कर देती है। इस भूमि में आन्तर बाह्य सभी धर्मों के प्रति दशविध समताएँ प्रादुर्भूत होती हैं। वे दश हैं—अनिमित्त समता, अलक्षण समता, अनुत्पाद समता, अजात समता, विविक्त समता, आदिविशुद्धि समता, निष्प्रपञ्च समता, अनाव्यूहानिर्व्यूह समता, प्रतिबिम्बनिर्माण समता, भावाभावाद्वय समता। इस भूमि

में बोधिसत्त्व द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद का परीक्षण करता है और सभी समुत्पन्न पदार्थों को त्रिविध दुःखताओं से ओत-प्रोत देखता है। त्रिविध दुःखताएँ हैं—१. संस्कारदुःखता, २. दुःखदुःखता, ३. परिणामदुःखता। वह साधक जब प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रत्यवेक्षण करता है तो उससे निरात्मता, निःसत्त्वता, कारक-वेदकराहित्य आदि का ज्ञान होता है। इससे उसके समक्ष शून्यता विमोक्षमुख समाधि प्रस्तुत होती है। इस अवस्था में साधक के समक्ष प्रतीत्यसमुत्पादचक्र के परीक्षण से भवाङ्गों के स्वभाव-निरोध का सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है, तब वह इस निश्चय पर पहुँचता है कि धर्मों की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं है। इस अवस्था में 'अनिमित्त विमोक्षमुख' समाधि प्रकट होती है। इस विशेष अवस्था में उस महाकारुणिक में प्राणियों की मनोरथपूर्ति के अतिरिक्त किसी प्रकार की अभिलाषा नहीं रह जाती। इस अभिमुखी बोधिसत्त्व-भूमि में स्थित साधक की प्रज्ञापारमिता पूर्ण हो जाती है।

सप्तमभूमि का 'दूरङ्गमा' नाम इसलिये है कि महायान जो सभी प्राणियों के लिये एकायन मार्ग है, उससे बोधिसत्त्व बहुत दूर तक साधना में पहुँच चुका है। इस भूमि में साधक एक प्रकार से बोधिसत्त्व मार्ग पूर्ण कर बुद्ध-भूमि में प्रविष्ट होता है। इसलिये आगे वह एक विशेष प्रकार के मार्ग का आरम्भ करता है। यहाँ से महायान साधना का और भी विशेष प्रकर्ष होता है। यहाँ पुनः इस उदारतम भूमि में वह सभी दानादि पारमिताओं को पूर्ण करता है। इस भूमि की विशेषता यह है कि यहाँ सभी धर्मों की अप्रमाण (असीम) उपस्थिति होती है और उससे अप्रमाण ही पूर्ति भी होती है। क्योंकि यहाँ साधक के सारे निमित्त एवं आलम्बन अपगत हो गये रहते हैं। षष्ठ भूमि में बोधिसत्त्व क्लेशनिरोध प्राप्त कर चुका है, किन्तु सातवीं भूमि में वह निरोध का साक्षात्कार नहीं करता। वस्तुतः प्रत्येक चित्त-क्षण में वह निरोध एवं व्युत्थान देखता है। इस स्थिति में वह जो भी कायिक, वाचिक एवं मानस कर्म करता है, वह अपरिमित एवं अचिन्त्य होता है। यह भूमि अपरिमित सत्त्वों के अपरिमित अर्थों की सिद्धि के लिये उपाय-कुशलता की भूमि है। इसीलिये उपाय-कौशल्य पारमिता इसमें प्रधान होती है।

अष्टम भूमि 'अचला' में प्रणिधानपारमिता पूरी की जाती है। स्मरणीय है कि साधक साधना के प्रारम्भ में ही परार्थ का प्रणिधान कर चुका है, जिसे 'बोधिप्रणिधिचित्त' कहते हैं। साधना की इस उच्चतम भूमि पर आकर पुनः प्रणिधान लेना इसलिये पड़ता है कि बोधिसत्त्व कहीं निर्वाण में आसक्त न हो जाए, जिससे उसके द्वारा सम्पादित होने वाला जगत् का महार्थ कृत्य रुक न जाए। यहाँ अन्य बोधिसत्त्व गण एक ओर साधक के पूर्वगृहीत प्रणिधान का स्मरण कराते हैं और दूसरी

ओर जगत् की दुःखात्तंता की ओर भी ध्यान आकृष्ट करते हैं। फलतः बोधिसत्त्व साधक परार्थ के लिये पुनः प्रणिधान लेता है। इस भूमि की यह विशेषता है कि साधक इस अवस्था से पुनः निम्न भूमि पर नहीं जा सकता, इसी अर्थ में यह 'अचला' है। यह इस अर्थ में परिनिष्पन्न-भूमि है कि साधना द्वारा एक बार निर्मित कर लेने पर निष्पन्न ही रहती है। इस भूमि को परिनिष्ठित, अधिष्ठान, अनाभोग आदि नामों से भी कहा जाता है। इस भूमि में प्रवेश करते ही साधक को सभी अपेक्षित साधन प्राप्त होने लगते हैं। विगत सात भूमियों में साधक ने प्रयत्नपूर्वक उत्तरोत्तर गुणों का लाभ किया है, किन्तु यहाँ उसके काय, वाक् और चित्त के औत्सुक्य एवं प्रयत्नों का कोई कारण नहीं रहता। जैसे स्वप्न में कोई अपने को महानदी में पड़ा जानकर उसे पार करने के लिये महान् प्रयत्न करे, और उसी तीव्र प्रयत्न से उसकी नींद टूट जाए और जग जाए, तब उसका सारा प्रयत्न और भय दूर हो जाता है और निश्चय करता है कि किसी प्रकार प्रयास की आवश्यकता नहीं। उसी प्रकार बोधिसत्त्व प्राणियों के उद्धार का संकल्प लेकर अनेकानेक प्रयास आरम्भ कर देते हैं, किन्तु इस भूमि में आते ही अनुभव करते हैं कि उस प्रकार का प्रयास अनावश्यक है। इस प्रकार यह भूमि अनाभोग-धर्मता की भूमि हो जाती है। इस भूमि में ही बोधिसत्त्व दशबल एवं चतुर्वैशारद्यों से मण्डित हो जाते हैं।

'साधुमती' नवमी भूमि है। इसमें बोधिसत्त्व कुशल, अकुशल एवं अव्याकृत धर्मों का यथाभूत साक्षात्कार करते हैं। इस स्थिति में वह सत्त्वों के अन्तर्वर्ती क्लेशों को देखते हैं, उसके उपचार को भी यथावत् जानते हैं। यहाँ सत्त्वों की विभिन्न चर्याओं एवं आशयों को जानकर यथानुरूप श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व की देशनाएँ करते हैं। ये तथागतत्व धर्म के रक्षक हैं और प्राणियों में धर्मभाणक के रूप में प्रचार करते हैं। इस अवस्था में बोधिसत्त्व चार प्रकार के प्रतिसंविदों को भी प्राप्त करते हैं– धर्मप्रतिसंवित्, अर्थप्रतिसंवित्, निरुक्तिप्रतिसंवित् तथा प्रतिभानप्रतिसंवित्। इन चारों से क्रमशः धर्मों की स्वलक्षणता (असाधारणता), उनका विभाजन, देशना तथा अतीतानागत धर्मों के अनुप्रबन्ध एवं अनुपच्छेद का ज्ञान होता है। इन प्रतिसंविदाओं से बोधिसत्त्व धर्मों का अनेकानेक यथार्थ दृष्टियों से साक्षात्कार करते हैं। इस भूमि में बोधिसत्त्व को अप्रमेय बुद्धों की देशना सुनने को मिलती है। स्वयं भी अनेकानेक आश्चर्यंकर प्रकारों से धर्म की देशना करते हैं।

'धर्ममेघ' दशमी एवं अन्तिम भूमि है। इसे बुद्ध-भूमि भी कहते हैं। इस भूमि में बोधिसत्त्व पुण्य और ज्ञान सम्भार एवं महाकरुणा को पूर्ण कर चुके हैं। दशबल एवं वैशारद्यादि से मण्डित है और यहाँ बोधिसत्त्व सर्वाकारज्ञता एवं सर्वज्ञता के ज्ञानों से अभिषिक्त होते हैं। इस अभिषेक-भूमि में वह विमल आदि मुख्य दश समाधियों का

लाभ करते हैं। उस समय महारत्नराजपद्म प्रादुर्भूत होता है, और उस पर बोधिसत्त्व 'सर्वज्ञज्ञानाभिषेक' से अभिषिक्त हो निषण्ण होते हैं। उस महारत्नपद्म के परिवारभूत और जितने पद्म उद्गत होते हैं, उन पर दश दिशाओं से आए हुए बोधिसत्त्व अब तक के साधक बोधिसत्त्व को घेर कर बैठते हैं। इसके बाद इस बोधिसत्त्वमण्डल या बुद्धक्षेत्र का विकास होता जाता है। इस अभिषेक भूमि के जितने बोधिसत्त्व होते हैं, उनके कायों के श्रीवत्स और वज्रस्वस्तिकों से 'सर्वमार शत्रुविजय' नाम की महारश्मियाँ निकलती हैं, और दश दिशाओं को अवभासित करती हैं। वे रश्मियाँ दश दिशाओं को प्रतिभासित करके पुनः बोधिसत्त्व के श्रीवत्स और वज्रस्वस्तिक में लीन हो जाती हैं। बोधिसत्त्वों की इन रश्मियों से साधक बोधिसत्त्व का अभिषेक होता है। इसी अवस्था को सम्यक्-सम्बुद्धत्व का अभिषेक कहा जाता है। इसमें दश बल पूर्ण होते हैं। यह जिन-पुत्र महाज्ञान से अभिषिक्त होकर धर्म-चक्रवर्ती हो जाता है और सैकड़ों-हजारों उद्योग करके प्राणियों का उद्धार करता है। इस अवस्था में अपरिमित प्राणियों पर यह महापुरुष मेघ के समान धर्म का वर्षण करता है। इसलिए इसे धर्ममेघसमाधि में प्रतिष्ठित कहा जाता है। बोधिसत्त्व स्वकाय में तथागतकाय को अधिष्ठित करता है और तथागतकाय में स्वकाय को। इस भूमि में अपरिमित सर्वज्ञ ज्ञान होता है, इसलिये यह ज्ञानपारमिता की भूमि है।

अब यहाँ थोड़े में महायान साधना के निकृष्ट फल के रूप में त्रिकाय व्यवस्था का दिग्दर्शन करें। प्रारम्भ में कहा गया है कि महायान साधना अचित्तता की भूमि पर खड़ी है। चित्तमलों को अपगत करना अचित्तता के लिये आवश्यक है। इसके लिये बोधिचित्त के ग्रहण से साधना का सम्भार-मार्ग प्रारम्भ होता है और विभिन्न समाधियों द्वारा चित्तगत निःस्वभावता का आकलन होता है। उसके बाद प्रयोगमार्ग की उत्तरोत्तर चार अवस्थाओं (ऊष्मगत, मूर्धन्, क्षान्ति एवं अग्रधर्म) को विकसित किया जाता है। इससे शून्यता एवं अचित्तता का अधिक स्पष्ट ज्ञान होने लगता है, क्योंकि द्वैतभान नहीं रहता और इस अवस्था से पुनः च्युत होने की सम्भावना भी समाप्त रहती है। इसके अनन्तर दर्शनमार्ग प्रारम्भ होता है। यहाँ निःस्वभावता का प्रत्यक्षतः ज्ञान होने लगता है। क्योंकि यहाँ साधक के क्लेशावरण एवं ज्ञेयावरण प्रहीण होते हैं। इसके अनन्तर भावना-मार्ग प्रारम्भ होता है। उपर्युक्त दश भूमियाँ भावनामार्ग हैं। इसमें उभय आवरणों के बीज भी अत्यन्ततः नष्ट हो जाते हैं। इनके नष्ट होने के साथ ही साधक सम्यक्संबुद्धत्व प्राप्त करता है।

त्रिकाय-व्यवस्था

अपरिमित सत्त्वों की निरन्तर अर्थक्रिया सम्पादन ही बुद्धत्व है। बुद्धत्व के द्वारा सत्त्वों के सन्तर्पण का माध्यम है—बुद्धकाय। अचित्तता एवं शून्यता की भूमि पर ही इस काय की उत्पत्ति होती है। उपर्युक्त ९वीं १०वीं भूमि तक साधक के क्लेश एवं ज्ञेय आवरणों का सूक्ष्मतम लेश भी विनष्ट हो चुका है, उसे दो सत्यों—संवृति एवं परमार्थ सत्यों का पूर्ण ज्ञान है। उसमें सत्त्वों के हित-परिपाक के लिये अपेक्षित १० बल, ४ वैशारद्य आदि तथा १८ आवेणिक धर्म (जो केवल बुद्धों में ही उद्गत होते हैं) परिपूर्ण हैं। काय से अभिप्राय राशि या समूह से है। यहाँ शून्यता और विभिन्न गुणों से मण्डित सांवृतिक चित्त ही काय शब्द से कहा गया है। बुद्धकाय वास्तव में एक सुविशुद्ध धर्मकाय मात्र है, किन्तु सत्त्वार्थ की सिद्धि के लिए कार्य-भेद से उसके ३ या चार भेद किये जाते हैं। तीन हैं—१. स्वभाव काय, २. सम्भोग काय और ३. निर्माण काय। स्वभाव काय—यह अकृत्रिम एवं परमार्थभूत विशुद्ध धर्मों का समूह है, जो सब मलों से अपगत एवं पूर्व धर्मों से परावृत्त है। वह नित्य विशुद्ध काय है। इन विशुद्धतम धर्मों के आश्रयभूत ज्ञान को एक अतिरिक्त काय के रूप में 'ज्ञानधर्मकाय' कहा जाता है, जिससे कायों की चार संख्या हो जाती है। वास्तव में प्रज्ञापारमिता जो सम्पूर्ण महायान साधना का आधारभूत ज्ञान है, वही यह ज्ञानधर्मकाय है। ये दोनों काय वास्तव में एक ही हैं। फल की दृष्टि से ज्ञान का तीन स्थूल विभाग किया जा सकता है—१. सर्वाकारज्ञता, २. मार्गज्ञता और ३. सर्वज्ञता। महायान की दृष्टि में सर्वज्ञता एवं मार्गज्ञता के अनन्तर ही सर्वाकारज्ञता पूर्ण होती है। बोधिसत्त्व को प्रथम बोधिचित्तोपाद से लेकर सर्वाकारज्ञता तक अभिगम करना होता है। इस त्रिसर्वज्ञता का आधारभूत प्रतिनिधि ज्ञानधर्मकाय है। ज्ञानधर्मकाय सहित स्वभावकाय की एक संज्ञा 'धर्मकाय' है। बोधिसत्त्व को इसका साक्षात्कार अभिसमय (सक्षात् अनुभव) के एक क्षण की सम्बोधि के अनन्तर होता है।

सम्भोगकाय एवं निर्माणकाय पूर्ण रूप से सांवृतिक हैं, प्रयोजनवश वे अनेक और अनन्त हो सकते हैं। बुद्ध सम्भोगकाय के द्वारा देवमण्डलों में धर्मसंभोग करते हैं। वहाँ देशना आदि भी करते हैं और इहलोकों में निर्माण-काय द्वारा सत्त्वार्थक्रिया करते हैं। इन दोनों का स्पष्ट भेद यह है कि प्रथम स्वार्थ लक्षण है, दूसरा परार्थ लक्षण। अन्ततः देखा जाए तो वह धर्म संभोग भी परार्थ में ही विनियुक्त होता है।

पहले सातवीं भूमि के सम्बन्ध में कहा गया है कि बोधिसत्त्व सत्त्वार्थ के लिये पुनः उत्कट प्रणिधान लेते हैं और आठवीं-नवों भूमियों में क्षेत्र-विशुद्धि करते हैं। क्षेत्र-विशुद्धि के द्वारा वह अपना कार्य-क्षेत्र तैयार करते हैं, जिसे बोधिसत्त्वों का क्षेत्र या मण्डल कहा जाता है। सम्भोगकाय भी कुछ उत्कृष्ट धर्मों का ही सम्पुञ्जित रूप है। इसके पाँच विनियत धर्म होते हैं, इनसे बोधिसत्त्व का स्थान, विनेय, काय, धर्म और काल निश्चित रहते हैं। निर्माणकाय के रूप में गौतम बुद्ध आदि थे, जिन्हें गयाशीर्ष में बोधिलाभ हुआ, सारनाथ आदि स्थानों में जिनके द्वारा धर्मचक्रप्रवर्त्तन हुआ।

बोधिसत्त्व बुद्धत्व प्राप्ति कर इन त्रिविध कायों द्वारा बुद्धकृत्य करते हैं। यह ध्यान देने की बात है कि बुद्ध के ये सारे कर्म 'निराभोग' एवं 'निरन्तर' होते रहते हैं, यही अचित्तता के आधार पर महायान साधना का आदर्श है। इसी परमार्थ भूमि पर आगे चल कर वज्रयान आदि का विकास हुआ जो बहुत गम्भीर किन्तु महत्त्वपूर्ण है।

• • •

तान्त्रिक बौद्धसाधना

श्री सेम्पा दोर्जे

तन्त्रयान का उद्गम

यह तो स्पष्ट है कि तान्त्रिक विद्या का उद्भव बहुत पहले ही हो चुका है। यह भी माना जाता है कि बौद्ध तान्त्रिक देशना भगवान् शाक्यमुनि ने स्वयं दी है। बौद्ध तान्त्रिक परम्पराओं के अनुसार शाक्यमुनि ने 'श्री धान्यकूट' (धान्यकटक) नामक स्थान में अनुत्तर-'तन्त्रनय' का तृतीय धर्मचक्र प्रवर्त्तन किया था। यह स्थान दक्षिण भारत में अमरावती के निकट अवस्थित है। तान्त्रिक इतिहास में यह स्थान अत्यन्त प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'श्री पर्वत' तथा 'मलय' पर्वत आदि का भी तन्त्रों में बहुधा उल्लेख मिलता है, जिनमें कुछ छोटे-मोटे तन्त्रों की देशना हुई थी। 'मलय' पर्वत सिलोन में 'सुमनकूट' नाम से प्रसिद्ध है। 'विमलप्रभा' (श्री कालचक्र तन्त्र की टीका) आदि प्रामाणिक शास्त्रों के अनुसार तृतीय तान्त्रिक धर्मचक्रप्रवर्त्तन, बुद्ध ने परिनिर्वाण के एक वर्ष पहले किया था। अन्य विद्वान् द्वितीय तथा तृतीय धर्मचक्र-प्रवर्त्तन एक साथ मानते हैं। प्रथम धर्मचक्रप्रवर्त्तन सर्वप्रसिद्ध है। द्वितीय तथा तृतीय (तान्त्रिक) धर्मचक्रप्रवर्त्तन बहुत प्रसिद्ध नहीं है; फिर भी इनकी सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तान्त्रिक इतिवृत्त सर्वसाधारण लोगों में अप्रसिद्ध होने पर भी अप्रामाणिक नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकार बौद्ध तान्त्रिक विचारधारा अति प्राचीन काल से ही प्रचलित है। 'तन्त्रनय' या तान्त्रिक विज्ञान अत्यन्त गम्भीर एवं विशिष्ट है। उच्चकोटि का अधिकार प्राप्त न हो जाने तक इसमें प्रवेश नहीं होता। उसकी तीव्र शक्तिमत्ता के कारण दुरुपयोग की आशङ्का से आचार्य तान्त्रिक साधना को जनसाधारण के लिए या उसके समक्ष प्रकाशित नहीं करते थे। गुप्त-भाव से ही इसका अनुष्ठान होता था। इसलिए तान्त्रिक इतिवृत्तों की प्रसिद्धि सर्वसाधारण रूप से नहीं हो सकी।

साधारणतया यह कहा जाता है कि तान्त्रिक परम्परा भगवान् बुद्ध से ही प्रचलित है। बाद की परम्पराप्रवाह सुचन्द्र, इन्द्रभूति[1] आदि आचार्यों के माध्यम से जिन्होंने बुद्ध से साक्षात् तान्त्रिक उपदेश सुने थे, आदि से लेकर आज तक अविरल

१. यह इन्द्रभूति प्रथम इन्द्रभूति है, यों तो बहुत-से इन्द्रभूति हुए हैं।

रूप से चलती आ रही है। परन्तु तान्त्रिक विकास-क्रम के स्रोतों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि सुव्यवस्थित तान्त्रिक मतों का उद्भव ईसा पूर्व द्वितीय शताब्दी के आसपास में ही हुआ था। यह तो निर्विवाद है कि आचार्य 'राहुल भद्र' एक विख्यात तान्त्रिक सिद्ध थे। राहुल भद्र नागार्जुन के पूर्ववर्त्ती आचार्य हैं। उनके जीवन के अन्तिम चरणों में नागार्जुन उनके शिष्य बने। कहने का तात्पर्य है कि आचार्य राहुल भद्र के समय में 'गुह्यसमाज' आदि तन्त्रों का अस्तित्व विद्यमान था। मैत्रेयनाथ के समय में भी इन तन्त्रों का आभास मिलता है। बाद में आर्य नागार्जुन ने इन तन्त्रों पर बहुत-से भाष्य भी लिखे थे। नागार्जुन से लेकर लगभग तीन-चार सौ वर्षों तक तान्त्रिक साधनों के अनुष्ठानों का विधि-विधान आंशिक रूप से गुप्त ही रहा। धर्मकीर्त्ति के युग से तथा विशेषकर पाल नरेशों के युग से तान्त्रिक साधना की परम्परा बहुत प्रसिद्ध हो गई।

तन्त्र के स्वरूप एवं भेद

स्वरूप—साधारणतः तन्त्र शब्द का प्रयोग बहुत-से अर्थों में होता है। शब्द-शास्त्र के अनुसार 'तन्त्रि-कुटुम्बधारणे' धातु से निष्पन्न यह शब्द कुटुम्ब-धारणार्थक है। 'चान्द्र' के अनुसार यह धारणार्थक है (धारयते, कुटुम्बयते)। परन्तु मन्त्रनय के लिए प्रयुक्त 'तन्त्र' शब्द का अर्थ 'प्रबन्ध' है। तान्त्रिक व्युत्पत्ति के अनुसार इसका प्रयोग तीन प्रकार से होता है। जैसे कहा गया है—

'प्रबन्धं तन्त्रमाख्यातं तत् प्रबन्धं त्रिधा भवेत्।' इत्यादि।

योगी के स्कन्धों की प्रवहमान सन्तति, जो मार्ग आदि की प्रक्रियाओं की प्रवृत्ति या अवतरणा का आधार है, को 'तन्त्र' कहते हैं। मार्ग आदि प्रतिपद-उपायों तथा अभिनिहार्य अर्थात् साध्य-फल (अनाभोगिक वज्रपद) को भी तान्त्रिक शब्दावली में 'तन्त्र' ही कहा जाता है। जैसे गुह्यसमाज तन्त्र के अठारहवें पटल में कहा गया है—

"आधारः प्रकृतिश्चैव असंहार्यप्रभेदतः॥
प्रकृतिश्चाकृतेर्हेतुरसंहार्य्यफलं तथा।
आधारस्तदुपायश्च त्रिभिस्तन्त्रार्थसंग्रहः॥" इति।

इस प्रकार अभिधेय की दृष्टि से तन्त्र के मुख्य तीन भेद हैं। अभिधान की दृष्टि से उपर्युक्त विषयों का प्रतिपादन करने वाले सभी शास्त्र तन्त्र हैं। यहाँ विषयी के लिए विषय का नाम उपचरित होता है। प्रसङ्गवश यहाँ तन्त्रयान के बारे में दो शब्द प्रस्तुत करना आवश्यक है।

तन्त्रयान—तन्त्रयान महायान के अन्तर्गत एक यान है। जैसे अद्वयवज्रसिद्धि में कहा गया है—"महायानं च द्विविधं, पारमितायानं मन्त्रयानञ्चेति— ।" तन्त्र की व्युत्पत्ति ऊपर की जा चुकी है। 'यान' से तात्पर्य सिद्धान्त या मार्ग है। तान्त्रिक मार्ग का दूसरा नाम 'तन्त्रयान' है। इसे मन्त्रयान भी कहा जाता है। वास्तव में मन्त्रयान, वज्रयान, तन्त्रयान, उपाय-यान आदि सब पर्यायवाची हैं। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य श्रद्धाकरवर्म ने किया है। इनके 'अनुत्तर योगावतार' नामक ग्रन्थ में भी इन सब नामों का पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया गया है। अन्यत्र इसे 'फल-यान' भी कहते हैं। इसका संकेत 'गुह्य निर्वचन तन्त्र' में भी मिलता है। 'वज्रसत्त्व-समाधि' तन्त्रयान का प्रधान विषय है। इसलिए इसे वज्रयान भी कहते हैं। इसका दूसरा नाम मन्त्रयोग भी है। मन्त्रयोग की चर्चा आगे की जायगी।

साधना की दृष्टि से तन्त्रों का भेद

यह तो सर्वविदित है कि तन्त्रों का भेद बहुत अधिक है। किन्तु पूर्ववर्त्ती आचार्यों के अनुसार मुख्यतया इनके चार भेद हैं–क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तरयोग। यद्यपि कुछ परम्पराओं में महायोग, अनुयोग और अतियोग तन्त्र आदि का व्यवहार होता है, पर वे सब उपर्युक्त चार के अन्तर्गत अन्तर्भूत हो जाते हैं। सभी तन्त्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय कोई विशेष साधना ही होती है। 'मन्त्रयोग' सभी तन्त्रों का समान विषय है। विभिन्न तन्त्रों में इसका स्वरूप एवं क्रियाविधि भिन्न रूप से ही पाई जाती है। सामान्यतः तान्त्रिक शब्दावली में 'मन्त्र' का अर्थ बहुत व्यापक है। यहाँ 'मन्त्र' शब्द 'मन्त्रि-गुप्तभाषणे' के अर्थ में नहीं प्रतीत होता। अतः यह शब्द 'मन्त्रि' धातु से 'इदि-तो नुम्-धातोः' (सूत्र) द्वारा निष्पादित नहीं है। यह 'मनः' एवं 'त्राण' इन दो शब्दों का संयुक्त वाक्य है। 'मन' से अभिप्राय ज्ञान या गति है। 'त्राण' का तात्पर्य गतिपालन, रक्षण या करुणा है। जैसे गुह्यसमाजतन्त्र में कहा है—

"प्रतीत्योत्पद्यते यद्यदिन्द्रियैर्विषयैर्मनः।
तन्मनो मननं ख्यातं कारकत्राणनार्थतः॥
लोकाचारविनिर्मुक्तं यदुक्तं समयसंवरम्।
पालनं सर्ववज्रैस्तु मन्त्रचर्येति कथ्यते॥ इति।

इस प्रकार के मन्त्र-मार्ग को मन्त्रयान या मन्त्रनय कहते हैं। इसके प्रति-पादक ग्रन्थ भी मन्त्रनय में गृहीत होते हैं। मन्त्रनय-विषयक शास्त्र विद्याधरपिटक भी कहा जाता है। कुछ विद्वान् मन्त्रनय और वज्रयान आदि को मूलतः भिन्न मान-

कर कुछ मनोरञ्जनात्मक व्याख्या करते हैं। वास्तव में ये भिन्न नहीं है। इनकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है।

'मन्त्र' शब्द की चर्चा की जा चुकी है। 'मन्त्रयोग' में प्रयुक्त 'योग' शब्द भी साधारण योग-अर्थक नहीं है; जैसे 'योगः समाधिः'—(पतञ्जलि योगशास्त्र) या बौद्धों के अन्य शास्त्रों में कहा गया है कि 'योगः एकाग्रता' इत्यादि। यहाँ योग से अभिप्राय है—सर्वविभु शून्यता का ज्ञान एवं अपरिवर्तनीय महाकरुणा का समायोग, जिसके आधार पर योगी को सभी प्रकार के तान्त्रिक रहस्यों का अधिगम होता है। उपर्युक्त अपरिवर्तनीय करुणा से अभिप्राय सहजानन्द है। अतः यहाँ योग से तात्पर्य विशेष समापत्ति है। जैसे कहा गया है—

"प्रज्ञोपायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते"। (गुह्यतन्त्रे)।

इस प्रकार के मन्त्रनय या तान्त्रिक साधनाओं का मुख्य भेद निम्न प्रकार से है।

क्रिया—क्रियातन्त्र, किसी एक तन्त्रविशेष का नाम नहीं है। इसमें अनेक प्रकार के तन्त्र संगृहीत हैं। इनमें संसिद्धि, सुबाहुपरिपृच्छा, ध्यानोत्तर तथा गुह्य-सामान्यतन्त्र आदि प्रमुख है। ये सब मूलतन्त्र है। गुह्यसामान्यतन्त्र में 'क्रियातन्त्र' के तीन-हजार आठ सौ भेद बताये गये हैं। इसका 'क्रिया' नाम प्रतिपाद्य साधना की दृष्टि से पड़ गया है। 'क्रिया' से तात्पर्य है कर्मप्रधान योग या साधना। इस साधना-प्रणाली में आन्तरिक ध्यान-भावना की अपेक्षा बाह्य शारीरिक क्रिया पूजा, उपासना आदि की प्रधानता रहती है। इसे साधना की शब्दावली में कर्मयोग भी कहते हैं। कर्म-योग का अर्थ कर्म करना मात्र नहीं है। इसका अर्थ 'सनैमित्तिकयोग' से अनुप्राणित कर्म है; अर्थात् भावना (संस्थान योग) के माध्यम से किया जाने वाला कर्म है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में 'सनैमित्तिक' और 'अनैमित्तिक' योग का भी विधान है। इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

इनमें और भी बहुत से तन्त्र ऐसे हैं जो धारणी के नाम से जाने जाते हैं। धारणियों का उल्लेख प्राचीन त्रिपिटकों में भी यदा कदा मिलता हैं। द्वितीय संगीति के अवसर पर संगृहीत किये गये त्रिपिटकों में भी इसकी चर्चा है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय भी धारणियों का उपयोग होता था। पालित्रिपिटक में निहित 'परित्राणसूत्र' धारणी का ही दूसरा नाम प्रतीत होता है।

धारणी-सम्बन्धी साधना में प्रत्येक विद्याओं के मन्त्रों की प्रयोग-विधि दिखलाई गई हैं। इनमें 'सरस्वती साधना विधि' आदि अनेक विद्याओं की साधना-विधि निहित हैं। धारणी-सम्बन्धी सभी तन्त्र 'क्रियातन्त्र' के अन्तर्गत आते है।

चर्यातन्त्र—चर्यातन्त्र का मुख्य विषय समाधि है। इसमें समाधिचर्या की प्रधानता रहती है। इसलिए इसे चर्या कहा गया है। इसका 'पञ्चाभिसंबोधि' नामक समाधि या योग बहुत प्रसिद्ध हैं। इसका विस्तृत विवेचन वैरोचन-अभिसम्बोधि नामक ग्रन्थ में पाया जाता है। पञ्च-अभिसम्बोधि का विवेचन यहाँ सम्भव नहीं है। इसका सारभूत तत्त्व 'सनैमित्तिक' एवं 'अनैमित्तिक योग' है। सनैमित्तिक साधना-योग में स्वयं दिव्य तनु (शरीर) के रूप में समुत्थित होकर अद्वैत भावनापूर्वक करुणा-सहचरित उपासना या समाधि लगाना होता है। अनैमित्तिकयोग में करुणा-सहचरित शून्यता की भावना की जाती है। सामान्यतः सभी साधना प्रक्रियाओं में करुणा-संवलित भाव से अनुप्राणित होना अत्यावश्यक है।

इस तन्त्र के बहुत से मूलग्रन्थ दीर्घकाल से ही लुप्त हो चुके हैं। इनके भाषान्तरों में अनुवाद भी बहुत कम है। इसके विद्यमान तन्त्रों में से 'वैरोचन-अभिसंबोधि' सबसे प्रधान है। इसमें २६ अध्याय हैं। इसका उत्तरतन्त्र नामक और एक तन्त्र है, जिसके ७० अध्याय हैं। इसके अतिरिक्त 'वज्रपाणि-आभिषेकतन्त्र' भी बहुत प्रसिद्ध है।

योगतन्त्र—योगतन्त्र का प्रतिपाद्य विषय सामान्य रूप से पूर्ववत् है। विशेषतः इसमें चार महामुद्राओं की व्याख्या की गई है। महामुद्रा नामक योग इस प्रकार है—'महामुद्रा' धर्ममुद्रा, समयमुद्रा और कर्ममुद्रा। साधक का साधारण शरीर उसकी साधना का मूलाधार है। आधारभूत उस शरीर के स्थान पर अपने इष्टदेव के सरूप एक 'दिव्य तनु' को प्रतिष्ठित किया जाता है। इसी की भावना की जाती है। इस भावना के पराकाष्ठा-प्राप्त होने पर तदनुरूप दिव्य तनु की अभिव्यक्ति होती है, इसे 'महामुद्रा' कहते हैं। मन्त्रों के सहोच्चारण की साक्षाद् अभिव्यक्ति, 'धर्ममुद्रा' है। समाधि भावना आदि से उपलब्ध प्रश्रब्धि से जनित सुखादि से संप्रयुक्त शून्यता का साक्षाद् अधिगम, 'समयमुद्रा' है। अनाभोगिक रूप से सभी प्रकार के कार्यों का सम्पादन 'कर्ममुद्रा' है। इन मुद्राओं के सम्बन्ध में सूक्ष्म विवेचन करना आवश्यक नहीं है। इन साधनाओं के मूलभूत तन्त्र निम्नाङ्कित हैं—

'तत्त्वसंग्रह' नामक तन्त्र योगतन्त्र का मूलभूत ग्रन्थ है। इसके अतिरिक्त वज्रधातु, त्रिधातुविजेता, जगद्दमन और वज्रशिखर आदि प्रसिद्ध हैं। 'वज्रशिखर' वास्तव में मूलतन्त्र का उपबृंहण है। इसके बहुत से तन्त्र विलुप्त हैं। आज जो थोड़े बहुत हैं, वे भी केवल अनुवाद के रूप में ही हैं।

उपर्युक्त तीनों तन्त्रों की परम्परा में बहुत से आचार्य हुए हैं। उनमें से आचार्य शाक्यमित्र, गुह्यबुद्ध और आनन्दगर्भ प्रधान हैं। इन्होंने तत्त्वसंग्रह, वज्रशिखर आदि पर अनेक भाष्य एवं व्याख्याएँ लिखीं और इन तन्त्रों के आधार पर साधन-

माला आदि अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। इन आचार्यों का काल अनिश्चित है। शाक्यमित्र नागार्जुन के शिष्य थे। 'गुह्य बुद्ध' पञ्चम या छठी शताब्दी के आस-पास के हैं। पालयुग से इनका सम्बन्ध आवश्यक है। कुछ लोग इन्हें प्रज्ञाकर गुप्त के के समकालीन मानते हैं (तारा नाथ)।

अनुत्तर तन्त्र—सामान्यतः अनुत्तर तन्त्र उसे कहते हैं, जिसके द्वारा अनुत्तर योग का प्रतिपादन होता है। अनुत्तर योग से तात्पर्य 'वज्रसत्त्व समाधि' है। 'वज्र-सत्त्व समाधि' एक समाधिविशेष का नाम है। विभिन्न तन्त्रों में यह विभिन्न नामों से जानी जाती है। जैसे वज्रयोग, मन्त्रयोग, अनुत्तर योग इत्यादि। साधना प्रक्रिया की दृष्टि से अनुत्तर तन्त्र के दो भेद हैं—मातृतन्त्र और पितृतन्त्र। गुह्यसमाज, शूरमञ्जुश्री तन्त्र आदि पितृतन्त्र हैं। हेवज्र, चक्रसंवर, कालचक्र आदि मातृतन्त्र हैं। इन तन्त्रों में साधना की विविध विधियाँ दिखलाई गई हैं। ये सब संक्षेप में चार भागों में विभक्त की गयी हैं—विशुद्धयोग, धर्मयोग, मन्त्रयोग और संस्थानयोग। इन्हें वज्रयोग भी कहते हैं। प्रत्येक वज्रयोग से एक-एक प्रकार की शक्ति या सामर्थ्य की प्राप्ति होती हैं। इसके पूर्ण विकास या प्रकर्ष से वज्रभाव का उदय होता है। स्थूल दृष्टि से साधक की सत्ता चार भागों में विभक्त की जाती है—काय, वाक्, चित्त और क्रिया। क्रिया से तात्पर्य है प्रवृत्तिविज्ञान। प्रथम वज्रयोग से 'काय-वज्रभाव' का उदय होता है। इस प्रकार वाक्, चित्त आदि में भी समझना चाहिए। ये चारों वज्रभाव समष्टि अथवा एक ही सन्तति में परस्पर संपृक्त रूप से रहते हैं।

योगों का स्वरूप—प्रथम वज्रयोग का नाम विशुद्ध-योग है। करुणा का लक्षण ज्ञान-वज्र है (विशेष तान्त्रिक शब्दावली में)। इसी का नामान्तर सहजकाय है, जो प्रज्ञा एवं उपाय की साम्यावस्था है। इसी का दूसरा नाम 'विशुद्ध योग' है। द्वितीय है धर्मयोग। धर्मयोग से तात्पर्य चित्तवज्र है, जो चित्त की धर्मता एवं प्रज्ञा की अद्वैत अवस्था है। इसी की अन्तिम परिणति ज्ञान-काय के रूप में होती है। तृतीय है 'मन्त्रयोग', यह मन्त्रयोग उपर्युक्त मन्त्रयोग से भिन्न है। यहाँ मन्त्रयोग से अभिप्राय वाग्वज्र है। इसका अन्तिम फल सम्भोगकाय है। चतुर्थ 'संस्थानयोग' को 'कमल-नयन' भी कहते हैं। यह प्रज्ञोपाय की साम्यावस्था या सामरस्य स्वरूप एक विशेष संस्थान है। इसी का प्राधिगम या साक्षात् अधिगम, संस्थानयोग है। इन सब योगों का अभिसाधन 'उत्पत्तिक्रम' (योग) तथा 'निष्पन्नक्रम' (योग) अर्थात् संहारयोग द्वारा होता है।

अधिकार—तान्त्रिक साधना का लक्ष्य वज्रयोग की सिद्धि है। जब तक साधक का आधार या क्षेत्र योग्य नहीं होता, तब तक इसकी साधना नहीं की जा सकती।

पारमितानय का साधन नीति तथा चर्या की विशुद्धि पर प्रतिष्ठित होता है। किन्तु तान्त्रिक साधना आध्यात्मिक योग्यता पर निर्भर करती है। इससे स्पष्ट है कि तान्त्रिक साधना के लिए अधिक योग्यता की आवश्यकता होती है।

आचार्य परम्परा

तान्त्रिक मत का उद्गम और प्राचीन परम्परा की चर्चा की जा चुकी है। बाद की परम्परा प्रायः 'आचार्य सरहपाद' से प्रारम्भ होती है। गुह्यसमाज आदि पितृतन्त्रों की परम्परा आचार्य सरहपाद तथा नागार्जुन से चलती है। इसकी एक दूसरी परम्परा भी है, जो आचार्य ज्ञानपाद से आरम्भ होती है। ज्ञानपाद नागार्जुन से कुछ बाद के थे। चक्रसंवर का प्रवाह बीच-बीच में टूटता रहा (योगो नष्टः परन्तप)। बाद में विशेषतः कृष्णचर्यापाद ने इसका पुनरुद्धार किया। इसके बाद वह परम्परा चलती रही। कृष्णचर्यापाद का काल विवादग्रस्त है, सम्भवतः ये सातवीं शताब्दी से पहले के थे।

विशेष तन्त्र

विशेष तन्त्रों की परम्परा इस प्रकार है—बुद्धकपाली की परम्परा सरहपाद से, योगिनीतन्त्रों की परम्परा 'लवपाद' (लुईपाद) से, समायोगविन्दु की परम्परा कृष्णचर्यापाद से, यमान्तकालत्रिवेणी की परम्परा ललितवज्र से, वज्रामृत की परम्परा गम्भीरवज्र से, महामाया की परम्परा कुक्कुरीपाद से और श्री कालचक्र की परम्परा आचार्य 'वितोपाद' से प्रारम्भ होती है। इनमें श्री कालचक्र सबसे बाद का तन्त्र है। इसकी परम्परा ई० ७०० से प्रारम्भ होती है। 'वितोपाद' का काल प्रज्ञाकर गुप्त के समकालीन माना जाता है।

यह ज्ञातव्य है कि परम्पराओं के अनुसार श्री कालचक्र तन्त्र को आचार्य वितोपाद 'शम्भल' नामक स्थान से ले आये। 'विमलप्रभा' (टीका) आदि के अनुसार शम्भल नामक स्थान सीता नदी के तट पर स्थित है। इस स्थान का दूसरा नाम 'कलाप' भी है। उपर्युक्त सीता नदी आजकल उत्तरी भारत में बहने वाली सीता नदी नहीं प्रतीत होती। 'कलाप' नामक स्थान के चारों ओर विशाल हिम-शिखरों का वर्णन है, हमारे भौगोलिक इतिहास में इसका वर्णन कहीं भी नहीं मिलता। सम्भवतः यह स्थान उत्तर की ओर कहीं अवश्य है।

• • •

भोट देश में बौद्धधर्म एवं साधना

श्री सेम्पा दोर्जे

पाँचवीं शताब्दी प्राच्य देशों के लिए एक वरदान के रूप में सामने आती है; जिसमें अनेक पिछड़े देशों के भाग्यशाली लोगों को सद्धर्म का अमृत सन्देश मिला। विशेष रूप से छठी एवं सातवीं शताब्दी, तिब्बती लोगों के लिए भी मङ्गलमय युग था। इसी काल में बौद्धधर्म के अमृत प्रवाह की प्रथम धारा तिब्बती जनजीवन के क्षेत्र में बहने लगी।

तिब्बत में धर्म एवं साधना का उद्गम

जब ईसवीय सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो राजगद्दी पर बैठे, तो उन्हें ऐसा लगा कि उनकी प्रजा और सम्पूर्ण राज्य बौद्धिक एवं आध्यात्मिक दोनों दृष्टि से असभ्य एवं अज्ञान के अन्धकार में डूबे हुए हैं। उस समय तिब्बत में पठन-पाठन की कोई व्यवस्था नहीं थी। यहाँ तक कि वहाँ न कोई सुविकसित भाषा और न कोई लिपि ही थी। यह स्थिति सम्राट् स्रोङ्चन के लिए असह्य थी। अतः उन्होंने थोनमी सम्भोट आदि अनेक युवकों को अध्ययन के लिए भारत भेजा। उन्होंने आचार्य कुसरः, शीलमञ्जु, विमलमित्र आदि भारतीय विद्वानों को तिब्बत बुलाया। जब सम्भोट सुशिक्षित होकर स्वदेश लौटे, तो उन्होंने 'नई भाषा' और 'लिपि' का निर्माण किया तथा व्याकरण सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों की रचना की। उपर्युक्त भारतीय आचार्यों की सहायता से उन्होंने बहुत से बौद्धधर्म सम्बन्धी शास्त्रों एवं सूत्रों का भाषान्तर भी किया। सम्राट् स्रोङ्चन ने थोड़े ही समय बाद पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था की और स्वयं भी अनेक महत्त्वपूर्ण शास्त्रों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने लगे। यहीं से भोट देश में पठन-पाठन तथा धर्म-दर्शन के लेखन एवं विमर्श-विचार का सूत्रपात होता है।

उस समय तक साधारण लोगों के लिए यह धर्म सर्वथा नवीन एवं अपरिचित था। तिब्बती लोगों में सम्राट् स्रोङ्चन ही धार्मिक, आध्यात्मिक एवं तान्त्रिक रहस्यों के विशेषज्ञ थे। उन्होंने अनेक सुमेध प्रतिभावान् लोगों को 'आर्यलोकेश्वर' सम्बन्धी साधनाविधि के अनुसार शिक्षित एवं दीक्षित किया। फलतः उनके बाद बड़ी मात्रा में लोग साधनानुष्ठानों में प्रविष्ट होने लगे। ऐसा कहा जाता है कि सम्राट् स्रोङ्चन ने तिब्बत के पाँच सौ जटिल सम्प्रदाय वालों को एक साथ दीक्षा

दी और उन्हें साधना में लगाया। कहा जाता है कि सम्राट् ने जिन लोगों को अपने उपदेशों एवं अववादों से दीक्षित किया था, उनकी एक संगीति बुलाई, जिसे तिब्बती में "काछेम का खोलमा" कहा जाता है और उन उपदेशों के संग्रह को "मणिकाबुम"। इस प्रकार सम्राट् स्रोङ्चन तिब्बती विद्वानों में सर्वप्रथम उपदेशक के रूप में सामने आते हैं, और 'मणिकाबुम' भोट देशीय ग्रन्थों में सबसे पहला संग्रह ग्रन्थ है। भोटदेश के साधना-सम्बन्धी इतिहास के ज्ञान के लिए 'मणिकाबुम' के बारे में कुछ जानना आवश्यक होता है।

मणिकाबुम

कहा गया है कि मणिकाबुम एक साधना या योग विषयक संग्रह शास्त्र है। इसमें आर्य लोकेश्वर के विभिन्न रूपों और उनसे सम्बन्धित साधनाओं का विवेचन है। साथ ही यह ग्रन्थ तान्त्रिक रहस्यों से भी भरा हुआ है। इसके बहुत से पहलू इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ से राजवंशों के इतिहास एवं समकालीन धार्मिक स्थिति तथा विकास के बारे में काफी प्रकाश पड़ता है। इन विषयों के रहते हुए भी इस ग्रन्थ को योगशास्त्र से अलग नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसमें साधना एवं आचार के विभिन्न अङ्गों का प्रायोगिक रूप से विशद प्रतिपादन मिलता है, जो इस ग्रन्थ को मौलिक योगशास्त्र के रूप में सिद्ध करता है। इसमें जिन साधना-विधियों का प्रतिपादन किया गया है, वे करुणाप्रधान साधनाविधि हैं। इसके कुछ परिच्छेद, 'मूल तन्त्र' के रूप में हैं, जिनमें आर्य लोकेश्वर को एक करुणा-देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

यद्यपि इस ग्रन्थ में प्रतिपादित साधना-विधियाँ भारतीय बौद्धसाधना से बहुत भिन्न नहीं थीं, फिर भी इस पर सम्राट् स्रोङ्चन गम्पो के व्यक्तित्व की अमिट छाप पड़ी हुई है। इसके अतिरिक्त देश, काल एवं सामाजिक वातावरण की भिन्नता के कारण इसकी प्रतिपादित साधनाप्रक्रियाओं में बहुत कुछ अन्तर दिखलाई पड़ता है, इसके बावजूद, इससे साधना के सिद्धान्तों एवं मूल आधारों में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं आती। जो कुछ हो, तिब्बत में प्रचलित साधनाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि क्या थी, इसे जानने के लिए इस ग्रन्थ की सूचनाएँ जानना अत्यावश्यक है।

भोटदेशीय प्राचीन साधना का मूलाधार

यह तो सर्वविदित है कि बौद्ध प्रस्थान सामान्यतया एक निवृत्तिप्रधान प्रस्थान है; जिसका मुख्य उद्देश्य मोक्ष ही होता है। कोई भी बौद्ध परम्परा इस

उद्देश्य से मुक्त नहीं हो सकती। यही स्थिति तिब्बती साधनासंहिता के बारे में भी कही जा सकती है। विशेष रूप से तिब्बती साधक आज भी इस लक्ष्य को अपने जीवन का अनिवार्य अङ्ग बनाये हुए हैं। वास्तव में दुःखनिवृत्ति की आकाङ्क्षा ही योग-अनुष्ठानों का आधार एवं प्रेरक है। यही बौद्ध साधना की आत्मा है। यह बात भोटदेशीय साधना के सम्बन्ध में भी पूरी तरह से लागू होती है।

विशेषाधार—भोटदेश में प्रचलित साधनाप्रणाली को संक्षेप में दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—'पारमितानय' तथा 'तान्त्रिकनय'। पारमितानय से सम्बन्धित साधनाओं का आधार साधारणतया 'करुणा' और 'प्रज्ञा' को माना जाता है। करुणा से अभिप्राय है, सत्त्वों को दुःख से निवृत्त करने की प्रबल आकाङ्क्षा और 'प्रज्ञा' से तात्पर्य है धर्म-प्रविचय, अर्थात् वस्तुओं की यथार्थ स्थिति को जानने वाले ज्ञान तथा नैरात्म्यज्ञान आदि। इसे बौद्ध साधना की शब्दावली में 'साधना वस्तु' कहा जाता है। कोई भी साधना यदि इन दोनों वस्तुओं से रहित या विमुक्त है, तो उसे साधना की कोटि में नहीं रखा जा सकता। साधना के सम्बन्ध में तिब्बती साधकों का भी यही निश्चय रहा है। अतः यह स्पष्ट है कि भोटदेशीय साधना-संहिताओं का मूलाधार कारण की दृष्टि से 'करुणा' तथा 'निःसरणचित्त' अर्थात् दुःखनिरोध प्राप्ति की इच्छा ही रहा है और उद्देश्य या प्रयोजन की दृष्टि से निरुपधिशेष निर्वाण एवं अप्रतिष्ठित निर्वाण रहा है।

तान्त्रिकाधार

तान्त्रिक नय के अनुसार साधना का आधार केवल महाकरुणा ही हो सकती है; विशेषतया उसे भी अनालम्बन ही होना आवश्यक है। तान्त्रिक शब्दावली में साधना का लक्ष्य 'वज्रपद' की प्राप्ति है। भोट साधक 'वज्रपद' की प्राप्ति को अपनी साधना का परम उद्देश्य बताते हैं। यों तो तान्त्रिक साधना का प्रायोगिक आधार मण्डलादि होता है[1], तथा फलावस्थाओं के अनुरूप[2] ही योगानुष्ठानों का पालन

१. मण्डल से तात्पर्य है दिव्य मण्डल, जिसमें साधक तन्त्रनय के विधानों के अनुसार प्रवेश करता है। यह प्रायः समाधि द्वारा ही निर्मित होता है।

२. फलावस्था के अनुरूप से अभिप्राय अपने 'इष्टदेव से योग की भावना' है। गुह्य वज्रयान में इसे अत्यन्त 'गम्भीर उपाय' कहा जाता है। यह रूपी काय की प्राप्ति का असाधारण हेतु है। इसके द्वारा फलावस्था में जो रूपी काय की प्राप्ति होने वाली है, उसकी आकृति एवं स्थान आदि की अपनी आकृति एवं स्थान आदि से समानता के आधार पर भावना की जाती है।

करना होता है किन्तु यदि हमें इन बातों को एक ही वाक्य में कहना हो तो कहा जा सकता है कि तान्त्रिक साधना का क्षेत्र अलौकिक देवमण्डल आदि होता है और अन्य साधनाओं का कार्यक्षेत्र दृश्य जगत ही होता है।

साधना की विभिन्न शाखाएँ

साधारणतया तिब्बत में अनेक प्रकार की साधनाप्रणालियाँ देखने में आती हैं, फिर भी ये सिद्धान्तों के आधार पर एक दूसरे से भिन्न नहीं हैं; अपितु इनकी भिन्नता का कारण आचार्यों का प्रयोगभेद मात्र है। अतः यहाँ इस प्रकार की छोटी-मोटी भिन्नताओं में न जाकर उनकी मौलिक भिन्नताओं के कारणों को समझना चाहिये।

यह पहले ही कहा गया है कि तिब्बत में प्रचलित सभी प्रकार के योगानुष्ठानों के दो विभाग हैं—पारमितानय और मन्त्रनय। 'परमितानय' के दो विभाग हैं—'शमथ' और 'विपश्यना'। 'शमथ' के अन्तर्गत प्रथम एकाग्रता-चित्त से लेकर ध्यान-भूमियाँ और अरूपावचर आदि की समाहित चित्त-भूमियाँ आती हैं। इन भूमियों में 'विपश्यना' गौण रूप से ही रहती है। विपश्यना के अन्तर्गत मुख्य रूप से ज्ञान-मार्ग आदि आते हैं। मार्ग के अन्तर्गत आठ श्रावकभूमि, एक प्रत्येकबुद्धभूमि, दश बोधिसत्त्वभूमि और एक बुद्धभूमि आती है।[1] इन शाखाओं का भेद योग के आलम्बन एवं प्रहातव्य अन्तरायों के आधार पर ही किया जाता है। इनकी शाखाओं के रूप में समाधियों का भेद या उसकी शाखाएँ आती हैं।

तान्त्रिक शाखाएँ

उपर्युक्त साधनासंहिताओं के अतिरिक्त बहुत सी साधनाएँ ऐसी भी हैं, जिनका सम्बन्ध 'मन्त्रनय' से है। तिब्बती साधना परम्परा में 'मन्त्रनय' का समावेश इतना सार्वत्रिक एवं गहराई से हो गया है कि आज साधारण लोगों के लिए 'पारमितानय'

---

१. आठ श्रावक भूमियाँ–श्वेतविदर्शनाभूमि, कौलभूमि, अष्टमी भूमि, दर्शनभूमि, काठिन्यभूमि, वैराग्यभूमि, कायाधिगमभूमि और श्रावकभूमि। प्रत्येकबुद्धभूमि, इसको कभी श्रावकभूमि में गिना जाता था, इसके अनुसार श्रावकभूमि के नौ भेद हो जाते हैं। अतः इसे नवम भूमि कहा जाता है।

दश बोधिसत्त्वभूमियों का नाम इस प्रकार है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेधा। एक बुद्ध-भूमि—समन्तप्रभा।

से 'मन्त्रनय' की मौलिक भिन्नता समझना बहुत कठिन है। फिर भी यहाँ कुछ ऐसी विशेष साधना-प्रक्रियाओं का उल्लेख किया जा रहा है, जिसके आधार पर इसका कुछ परिचय मिल सके।

महामुद्रायोग, हठयोग, [यह हठयोग वैदिक परम्परा में प्रचलित हठ-योग से बहुत भिन्न है] षष्ठ-योग, प्रायोगिक षष्ठ योग, पंचाङ्गयोग, षष्ठनिकाय सम-रसयोग, सहज-योग, गुह्यचर्याविवृत्तियोग, पञ्चाङ्ग अमृतबिन्दु, उत्पत्ति-क्रमयोग [क्येद रिम] समाहार या प्रत्याहार योग आदि इस प्रसङ्ग में विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त कुछ साधना साधक या योगी के इष्टदेव के नाम से भी प्रचलित हैं, जैसे—लोकेश्वर साधनाप्रणाली, अक्षोभ्य साधनाविधि, काल-चक्रसाधना आदि। यह ज्ञातव्य है कि लोकेश्वर आदि के नाम से प्रचलित साधना-विधियों में किसी प्रकार की व्याख्या नहीं होती। इसमें केवल कर्म-काण्डों का विधानमात्र रहता है और उसीके आधार पर परस्पर भिन्नता होती है।

तिब्बत में विशेष रूप से प्रचलित 'लामाई नलजोर' नामक और एक विशेष साधना है, जिसके स्वरूप में मन्त्रनय और पारमितानय दोनों का समन्वय होता है! इसका आधार 'तन्त्र' एवं 'सूत्र' दोनों में पाया जाता है। कहा जाता है कि इस साधना में अद्भुत सामर्थ्य निहित रहता है। इससे साधक की इष्टसिद्धि बहुत ही जल्दी होती है।

आचार्यों का संक्षिप्त परिचय

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि महाराज स्रोङ्गचन गम्पो सम्राट् होने के साथ-साथ एक महान् धार्मिक उपदेशक भी थे। इनके बाद तिब्बत में आचार्यों एवं साधकों की विशाल परम्परा चली।

तिब्बती धार्मिक विकास के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह प्रतीत होता है कि तिब्बत में 'विनय' एवं 'अभिधर्म' सम्बन्धी साधना-परम्पराओं से पहले 'मन्त्रनय' की साधना पहुँची। इसके सर्वप्रथम प्रचारक आचार्य विमलमित्र, शील-मञ्जु और कुसर आदि थे। ये लोग सम्राट् स्रोङ्गचन के द्वारा आमन्त्रित भारतीय आचार्य थे। कहा जाता है कि इनमें से आचार्य शीलमञ्जु नेपाली थे। इनमें से आचार्य विमलमित्र को तान्त्रिक दृष्टि से प्रधान आचार्य माना जा सकता है; परन्तु परवर्ती तिब्बती परम्परा आचार्य 'पद्मसम्भव' [सरोजवज्र] को ही तान्त्रिक मत का प्रवर्तक मानतो है। तान्त्रिक साधना की दृष्टि से लोचावा 'वैरोचन', भिक्षु गगनगर्भ [नम खई ञिङ्पो], मारवा लोचावा, ख्युङ्पो नलजोरपा आदि का भी महत्त्व कम नहीं है। इन आचार्यों एवं विद्वानों का काल एवं मत निम्नाङ्कित तालिकाके अनुसार है—

	सन्	आचार्य	मत	देश
लगभग	६१५	स्रोङ्गचन गम्पो	ञिङ्मापा	[तिब्बती]
	"	थोनमी सम्भोट	"	"
	६२५	विमलमित्र	ञिङ्मापा	[भारतीय]
	"	शीलमञ्जु	"	नेपाल
	"	कुसर	"	[भारतीय]
	८१५	ख्रिसोङ देउचन	ञिङ्मा	[तिब्बती]
	८२५	शान्तरक्षित	"	[भारतीय]
	८२५से३५	पद्मसम्भव	ञिङ्मा	[भा०]
	"	भिक्षु गगनगर्भ	"	[ति०]
	"	लोचावा वैरोचन	"	[ति०]
	१०७५	मारवा छोस क्यि लोडो	काग्युद्पा	[ति०]
लगभग	१०४०	ख्युङ्पो नल जोरपा	"	"
	१०५०	दीपङ्कर श्रीज्ञान, रत्नभद्र	कादम्पा	[भा० ति०]
	१०८०	दम्पा संग्या	शिजेदपा	[भा०]
	"	मचिकलवडोन	छोद	[ति०]
	१३५७	चोङ्खापा सुमतिकीर्ति	गेलुगपा	[ति०]
	१०३४	खोनकोन छोग ग्यलपो	साक्यापा	[ति०]
लगभग	१२५०	साक्या पनछेन कुन०	साक्यापा	[ति०]

इन आचार्यों के काल के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत नहीं हैं। अतः यहाँ तिब्बती रब्लो [शताब्दी] के अनुसार कुछ विद्वानों का मत दिया गया है।

साधना की पद्धति

तिब्बत में साधना एवं योग परम्पराओं की संख्या बहुत अधिक है। उन सब परम्पराओं की पद्धति भी कुछ भिन्न ही होती है। परन्तु उनके मूल स्रोतों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि उन भेदों का कोई मौलिक आधार नहीं है। अपितु ये केवल आचार्यों की भिन्न प्रक्रियाएँ हैं। अतः हम इन भेदों को सैद्धान्तिक तौर पर दो ही भागों में विभक्त कर सकते हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य योगसंहिता के पात्र के भेद से साधना के तीन भेद हो जाते हैं—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध और बोधिसत्त्व सम्बन्धी पद्धतियाँ। इन्हें 'यान' के नाम से भी जाना जाता है। प्रक्रिया या प्रायोगिक दृष्टि से प्रत्येक यानों की अनेक शाखाएँ होती हैं।

विशेष साधना-प्रणाली में 'मन्त्रनय' सम्बन्धी साधना आती है। इसमें भी सैद्धान्तिक दृष्टि से मुख्यतया चार भेद माने गये हैं। क्रिया, उपाय, योग, महायोग

या अतियोग। इनमें भी प्रत्येक के अन्तर्गत असंख्य समधियाँ एवं कर्मविधियाँ समाविष्ट हैं। संक्षेप में यह कहना असंगत नहीं होगा कि 'महासुख' एवं 'शून्यता ज्ञान की समरसता' ही मन्त्रनय सम्बन्धी योगसाधना का नियामक होता है, जब कि 'पारमितानय' सम्बन्धी साधनापद्धति में तीन प्रकार के विमुक्तिद्वार ही योग-साधना के नियामक होते हैं।

तिब्बत में प्रचलित चार प्रमुख सम्प्रदाय

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तिब्बत में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं। उनमें से कुछ के नाम काल की दृष्टि से और कुछ के नाम उपदेश एवं स्थान की दृष्टि से रखे गए हैं। इनमें से प्रधान चार माने जाते हैं। ये चार हैं—ञिङ्मापा, साक्यापा, काग्युद्पा और गेलुग्सपा।

ञिङ्मापा—यह तो सर्वविदित है कि तिब्बत में बौद्धधर्म की दो विचार-धाराएँ प्रचलित हैं, पारमितायान और वज्रयान। इनमें से वज्रयान के विकास के कालक्रम के आधार पर तिब्बत में मुख्यतया दो मत प्रचलित हुए थे—ञिङ्मापा [प्राचीन परम्परा] और सरमापा [नयी परम्परा]। बौद्धधर्म के पूर्व-उदयकाल से लेकर स्वामी स्मृतिपाद के तिब्बत में पहुँचने के काल तक जितना तान्त्रिक ग्रन्थों का अध्ययन अध्यापन एवं सिद्धान्त प्रचलित हुए, उन्हें पूर्व-परम्परा कहते हैं और उन सिद्धान्तों के माननेवाले लोग 'ञिङ्मापा' कहे जाते हैं।

ञिङ्मापा आचार्य पद्मसम्भव को अपना प्रधान आचार्य मानते हैं। पद्म-सम्भव ८१० ई० सन् के विख्यात तान्त्रिक आचार्य हैं। ञिङ्मा सम्प्रदाय का प्राचीन धार्मिक केन्द्र सम्या छिम्बु है।

यह तो पहले ही कहा जा चुका है कि तिब्बती बौद्ध परम्परा में ञिङ्मापा, सरमापा दो मत प्रचलित हैं। इनमें से सरमापा उसे कहते हैं, जो परम्परा लोचावा रिन्छेन जङ्पो [रत्नभद्र, ई० सन् ९७८] आदि से लेकर बाद में चली। इनके आभ्यन्तर तीन भेद माने जाते हैं—काग्युद्पा, साक्यापा और गेलुग्सपा।

काग्युद्पा—काग्युद्पा यह नाम परम्परा की दृष्टि से पड़ा है। सन् १०१२ ई० में 'मर वा छोस क्यि लोडो' (धर्ममति) नामक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ। वयस्क हो जाने पर उन्होंने अध्ययन के लिए भारत की तीन यात्रा की। महापण्डित नरोपाद [नडपाद], आचार्य मैत्रीपाद आदि अनेक गुरुओं, पण्डितों का चरणसेवन कर इन्होंने प्रायः समस्त बौद्धवाङ्मय का अध्ययन किया। स्वदेश लौट कर उन्होंने तान्त्रिक रहस्यों से परिपूर्ण अपना पृथक् मत चलाया। इनके द्वारा प्रवर्तित तथा 'जेचुन मिला रसपा' और 'ग्रमभेद दगपो ल्हाजे' आदि मनिषियों द्वारा संवर्द्धित परम्परा काग्युद्पा कही जाती है। इसके कुछ उपभेद भी माने जाते हैं, जैसे कम् छङ्पा, डिगुङ्पा आदि आदि।

साक्यापा—साक्यापा यह नाम स्थान की दृष्टि से पड़ा है। १०३४ ई० सन् में तिब्बत के पश्चिमी भाग में 'खोन कोनछोग ग्यलपो (रत्नराज) नामक एक महापुरुष का जन्म हुआ। समय के अनुसार उन्होंने सरमापा और ञिङमापा दोनों परम्पराओं से सम्बन्धित विषयों का सफलतापूर्वक अध्ययन किया; विशेष रूप से 'डोगमी लोचावा' के मुख से आचार्य धर्मपाल [नालेन्दा के उपाध्याय] और आचार्य 'गयाधर' द्वारा प्रवर्तित परम्पराओं के मार्ग एवं फल विषयक उपदेश सुने। बाद में उन्होंने साक्या नामक स्थान में एक मठ की स्थापना की और वहीं से अपने मतों का प्रचार किया। इनके द्वारा प्रवर्तित एवं पश्चात् सछेन गोङमा लोगों द्वारा संवर्द्धित मतानुयायियों को साक्यापा कहा जाता है।

गेलुग्सपा—गेलुग्स भी एक स्थान से सम्बन्धित नाम है। सन् १३५७ ई० में तिब्बत के पूर्वी क्षेत्र 'चोङ्खा' नामक स्थान में सुमतिकीर्ति नामक एक महापुरुष का प्रादुर्भाव हुआ, जो चोङखापा नाम से भी जाने जाते हैं। वे बाद में बहुत बड़े विद्वान् एवं सिद्ध बन गये। उन्होंने उस समय के प्रचलित सभी विषयों का साङ्गोपाङ्ग अध्ययन किया। बाद में ल्हासा से कुछ दूर 'गेदन' नामक पर्वत पर उन्होंने एक मठ की स्थापना की। वहीं से उनकी परम्पराएँ चलीं। इस तरह उनके द्वारा प्रवर्तित एवं ग्यल छपजे, खडुबजे आदि द्वारा संवर्द्धित परम्परा 'गेलुग्स' अथवा 'गेदनपा' कहलाती है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भोट देश में प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायों का कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। इन परम्पराओं का भेद केवल स्थान आदि के आधार पर ही है। वे सब परम्पराएँ विनय की दृष्टि से सर्वास्तिवाद हैं और दर्शन एवं साधना की दृष्टि से महायान हैं। शून्यता और करुणा सभी को मान्य हैं।

बोन परम्परा में साधना

भोट देश में बौद्ध धर्म के अतिरिक्त एक और धार्मिक सम्प्रदाय है, जिसको लोग 'बोन' के नाम से जानते हैं। 'बोन' सम्प्रदाय एक व्यापक एवं विशाल सम्प्रदाय है। साहित्य एवं साधना की दृष्टि से इसकी तुलना बौद्ध धर्म के साथ की जा सकती है। इसका उदय बहुत पहले हो माना जाता है। परन्तु तिब्बती राष्ट्रिय जीवन में 'बोन' धर्म का प्रवेश ईसवी प्रथम शताब्दी के आस-पास में ही हुआ था। बोन सम्प्रदाय के प्रवर्तक परम्पराओं के अनुसार 'मेफो शेन रब मुनि' हैं। जिस प्रकार बौद्ध लोग भगवान् गौतम बुद्ध को अपना शास्ता मानते हैं, उसी प्रकार बोन लोग भी भगवान् 'मेफो शेन रब' को अपना शास्ता मानते हैं। 'शेन रब मुनि' स्वयं गौतम बुद्ध के समान एक बुद्ध हैं। यद्यपि 'बोन और बौद्ध' इन दोनों में बहुत सी समानताएँ हैं, फिर भी 'बोन' बौद्धेतर ही माने जाते हैं।

साधनाओं की स्थिति

बोन सम्प्रदाय कोई दार्शनिक सम्प्रदाय नहीं है। वह एक साधना सम्प्रदाय है। इनका धार्मिक साहित्य बहुत विशाल है। इनकी आचारसंहिता ऊपर से लेकर अन्त तक साधनाविधि-विधानों से भरी हुई है। इनमें प्रतिपादित साधना विधियाँ प्रायः तान्त्रिक ही हैं। इसमें बौद्धों की तान्त्रिक साधना के समान इष्ट देव की भावना और मन्त्रों का उच्चारण आदि का भी विधान किया गया है। यह ज्ञातव्य है कि प्रारम्भिक बोन परम्पराओं में मन्त्रों का प्रयोग केवल 'इहश्री' के लिए ही होता था। इनके साधना सम्बन्धी कार्य-क्रमों में यज्ञ-याग आदि का भी विस्तृत विधान मिलता है। इसके अतिरिक्त इनकी साधना विधियों में 'रसायन' सम्बन्धी साधनाओं का भी उपयोग होता है। यदि हम 'बोन' साधना-परम्पराओं की सीमा खोजें, तो यह कहना पड़ेगा कि इनकी सीमा देखने के लिये एक ही जीवन पर्याप्त नहीं है, अपितु इसके लिए अनेक जन्म लेना पड़ेगा।

बोन सम्प्रदाय का केन्द्र

बोन सम्प्रदाय का खास केन्द्र कहाँ था, यह विवादास्पद प्रश्न है। बोन परम्पराओं का प्राचीन केन्द्र सम्भवतः 'शङ्ग शुङ' नामक प्रदेश में था, जो आजकल तिब्बत के अन्दर आता है। यह स्थान मानसरोवर और कैलाश पर्वत के आस-पास था। बाद में बोन धर्म इस स्थान से तिब्बत (ल्हसा आदि), 'कोङ्पो' मंगोलिया, होर, तक-सिक, आदि की ओर फैला। सम्भवतः भारत के पश्चिमी भागों में भी इसका अस्तित्व काफी दिनों तक रहा होगा; परन्तु आज कोई खास प्रमाण नहीं मिलता, केवल बोन परम्पराओं के कथन पर ही हमें विश्वास करना पड़ता है। मँगोलिया, होर (यरकेन) आदि के बहुत से भागों में प्राचीन बोन परम्पराओं के अवशेष आज भी काफी संख्या में मिलते हैं। तिब्बत के दक्षिणी एवं पश्चिमी भागों में तो 'बोन' लोग धार्मिक दृष्टि से काफी सम्पन्न रूप में रहते हैं।

यद्यपि बोन परम्पराओं के प्रति लोगों की दृष्टि बहुत अच्छी नहीं है, प्रायः उन्हें बुरी नजर से देखा जाता है; परन्तु वास्तविक रूप से देखा जाये तो प्रतीत होगा कि जीवन की 'इहश्री' के लिए बौद्ध एवं अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा 'बोन' सम्प्रदाय अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है।

• • •

जापान की बौद्ध साधनाएँ

श्री चन्द्रचूडमणि त्रिपाठी

भारत की विशिष्ट दार्शनिक परम्पराओं में और उसी प्रकार पाश्चात्य अध्यात्मवाद के पीछे एक अनन्त रहस्य का जाल बुना हुआ दिखाई देता है। इससे साधना का परिशुद्ध रूप दब सा जाता है और काल-भेद से साधक की अवस्था का एक व्यामोहात्मक रूप (Semi Trance State) खड़ा हो जाता है। इसीलिए मध्य-कालीन सन्तों, सूफियों और उनका अनुसरण करने वाले देववाही योगियों की परम्परा में अनेक चमत्कारों के सृजन पर जोर दिया जाने लगा। ईसाई साधकों का पुराने ज्ञात सन्तों के साथ संलाप उनकी साधना के अनेक रहस्यों में से एक आवश्यक तत्त्व बना। देल्फी का संदेशवहन (Oracle) इसी कोटि में आता है।

बौद्ध साधना इस प्रकार की साधना से सर्वथा भिन्न है। जब तक मनुष्य तृष्णा से विमुक्ति नहीं पा लेता और जब तक उसके हर प्रकार के चित्त-संशय विच्छिन्न नहीं हो जाते, उसकी साधना शुद्ध नहीं होती।

चित्त की एकाग्रता पहली सीढ़ी है। चित्त का स्वरूप वायु की तरह चञ्चल है। उसे एकाग्र करना पड़ता है। एकाग्र होने पर वह जगत् की सबसे बड़ी शक्ति में परिणत हो जाता है। पञ्च स्कन्धों और प्रतीत्यसमुत्पाद (Dependent Origination) की प्रक्रियाओं को अच्छी तरह समझ लेने पर मनुष्य आत्म-जन्य भय अथवा दुःख की बाधाओं पर विजय प्राप्त कर लेता है। उसमें निर्विकार समत्व की प्रतिष्ठा होने लगती है और वह भव (संसार) के कार्यकारण सिद्धान्त को जानकर द्वन्द्वात्मक प्रतीति (Dualistic Essence) को सृष्टि का रहस्य मानकर सब कुछ एक खेल की तरह देखने लग जाता है। क्रमिक अभ्यास से साधक सब प्रकार के अकुशल कर्मों से निःसङ्ग हो जाता है। उसमें प्रत्येक व्यवहार ज्ञान, सदाशयता और मैत्री से परिपूर्ण होने लगते हैं।

अभिधम्म (संस्कृत < अभिधर्म) दर्शन में चित्तक्षण, उसका उत्पाद (आरम्भ), स्थिति एवं भङ्ग (विलय) अच्छी तरह समझाए गए हैं। इन्हीं चितक्षणों से संस्कार बनते हैं, जो विचार प्रक्रिया को जन्म देते हैं।

बौद्ध साधना में प्रज्ञामय श्रद्धा को विशेष महत्त्व दिया जाता है। भावना या समाधि का वही प्रस्थान बिन्दु है। इसीलिए 'मेत्ता' अथवा मैत्री पर विशेष रूप से बल देते हुए चित्तपथ में अकुशल वितर्कों—काम, व्यापाद और विहिंसा का त्याग कर कुशल वितर्कों का सञ्चय करने की शिक्षा दी गई है। कुशल वितर्क नैष्क्रम्य, अव्यापाद और अविहिंसा हैं।

'भावना' ब्रह्मविहारों में से एक है। भावना द्वारा ही 'मध्यम मार्ग' सुगम हो सकता है। मध्यम मार्ग दो अन्तों के बीच का मार्ग है—शाश्वत दृष्टि से आत्मा का सिद्धान्त मानने वाला मार्ग, जो पूर्वान्त में अनुपतित होता है और दूसरा उच्छेद दृष्टि से आत्मा को अस्वीकार करने वाला सिद्धान्त जो दूसरे अन्त में अनुपतित होता है। इन अन्तों के लिए बौद्ध परिभाषा में 'कामसुखानुयोग' और 'आत्म-क्लमथानुयोग' पदों का व्यवहार हुआ है, जिनका परिहार 'मध्यमा प्रतिपदा' प्रक्रिया को समझने के लिए आवश्यक है।

तथागत के दार्शनिक सिद्धान्तों को बोधगम्य कर लेने वाले साधक के लिए शीलव्रतों का पालन—पातिमोक्ख (सं० > प्रातिमोक्ष) के २२७ विनय के नियम, चार स्मृतिप्रस्थानों की भावना और तीन समाधियों—क्षणिक, उपचार एवं अर्पणा का अभ्यास आवश्यक है। इनसे चार आर्यसत्यों का ज्ञान हो जाता है, जो 'विपश्यना ज्ञान' है। विपश्यना साधना की वह प्रक्रिया है, जो ऊर्जा की ओर ले जाती है, जिसे आधुनिक परिभाषा में हम 'मनुष्य का उच्च आरोह' (Ascent of Man) कह सकते हैं। 'निर्वाण' का पथ यही है।[1]

साधना का उद्देश्य थेरवाद और महायान में प्रायः समान है, किन्तु परिस्थिति-भेद के कारण दोनों के बाह्यार्थ में काफी भेद आ गया। फिर भी यह भेद उतना नहीं है, जितना पाश्चात्य देशों की विशीर्ण साधनाओं (Discursive Meditations) में परिलक्षित होता है। एशिया में शीलव्रतों और नेक्खम्म (नैष्क्रम्य) की उपासना से उसकी रक्षा हो गई। महाश्रमण ने 'हेतु' से उत्पन्न होने वाले धर्मों के हेतु बतलाए और उनके निरोध का उपाय भी बतलाया—

'ये धम्मा हेतुप्पभवा हेतुं तेसं तथागतो आह।
तेसञ्च यो निरोधो एवंवादी महासमणो॥'

विधायिनी अहिंसा ने मैत्री[2] की प्रेरणा दी और मुदिता ने संसार को दुःखमय कोलाहल (जिसके लिए तिब्बती भाषा में मुझे एक बड़ा उपयुक्त शब्द मिला है 'दुङ् हल') से उबार लिया।

---

१. त्रिपिटक के विभिन्न स्थलों के अनुशीलन से साधना की एक व्यापक प्रक्रिया (मेथॉडॉलॉजी) का संग्रह किया जा सकता है।

१. मैत्री भावना आकाश तरङ्गों की तरह सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित हो उठती है और मनुष्य के चित्त को समाहित कर उसके 'पर्युत्थान' में सहायक होती है। इस विषय में एक पाश्चात्य बौद्ध विचारक के शब्द हैं—

'Thoughts of Universal; undiscriminating benevolence like radio waves reaching out in all directions sublimate the creative energy of the mind.' (Buddhist Meditations, Bodhi Leaves B 15, Buddhist publication Society, Kandy, Ceylon, 1963).

एशिया में बौद्ध साधना के सम्बन्ध में जितने प्रयोग जापान में हुए हैं, सम्भवतः उतने अन्य किसी देश में नहीं हुए हैं। वहाँ बौद्ध धर्म के प्रवेश के समय के विषय में भी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। ऐसा प्रतीत होता है कि जापान में बौद्ध धर्म कोरिया से पहुंचा। यह घटना सातवीं शती ईसवी की है। उस समय जापान में सम्राट् शोतोकु का शासन था, जो जापान के अशोक कहे जाते हैं। उनके समय में बौद्ध धर्म का काफी प्रचार हुआ और होर्योजी के विशाल मन्दिर की स्थापना हुई। अजन्ता के सुरम्य भित्तिचित्रों से अभिप्रेरित तथा कोरिया और चीन की कलाओं से मण्डित यह मन्दिर एशिया का एक महान् संग्रहालय है।

शोतोकु के उपरान्त धर्म क्रमशः विभिन्न युगों में विभिन्न रूपों में संगठित होता रहा। यथा—

क. प्रथम युग (लगभग ५२५ ई०—ल. ८२५ ई०)
ख. द्वितीय युग (ल. ८२५ ई०—ल. १२०० ई०)
ग. तृतीय युग (ल. १२०० ई०—ल. १३५० ई०)
घ. चतुर्थ युग (ल. १३५० ई०—वर्तमान समय तक)

साधारणतः इतिहासकार यह मानते हैं कि भारतीय संस्कृति के प्रसार की दो धाराएँ सम्राट् अशोक के युग में चलीं—पहली धारा क्रमशः लंका, बरमा, सिआम (थाईलैण्ड), जावा, सुमात्रा में गई और दूसरी पामीर एवं हिन्दुकुश की शृङ्खलाओं को लाँघकर हिमालय के पारवर्ती देशों में मध्य एशिया, गान्धार, यवन, पारसीक (ईरान) आदि प्रदेशों में पहुँची। आगे चलकर दूसरी धारा कनिष्क के राजत्वकाल (ईसा की प्रथम शती) में और तदुपरान्त तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया एवं जापान में जा फैली।

परन्तु इस धारणा का खण्डन बौद्ध साहित्य के पालि ग्रन्थ 'महानिद्देस' और 'अपदान' से होता है। महानिद्देस उन सभी बन्दरगाहों का उल्लेख करता है, जहाँ ईसा से पूर्व भारतीय व्यापारी पहुँचे थे और इसी प्रकार अपदान, जिसकी रचना कनिष्क से निर्भ्रान्त रूप से पूर्व की है, चीन के साथ भारतीय व्यापार का सामुद्रिक मार्ग से सम्बन्ध सिद्ध करता है। ऐसी स्थिति में ऐतिहासिक कालक्रमों पर हमें फिर से विचार करने की आवश्यकता है।

इतिहासकारों का एक और भी मत इस प्रसङ्ग में प्रायः चिन्त्य है। वह यह है कि जापान में महायान धर्म का ही प्रचार हुआ। यह सच है कि महायान की वहाँ विशेष प्रतिष्ठा है, परन्तु थेरवाद से संबंधित दो ऐतिहासिक सम्प्रदाय 'कुश'

और 'जो-जित्सु' भी वहाँ प्रतिष्ठा पा चुके हैं। जापानी भाषा में थेरवाद के लिए 'शोजो' और महायान के लिए 'दायिजो' शब्द व्यवहृत होते हैं।

इस परिप्रेक्ष्य में तथा सम्प्रदायों के आश्रय-भेद से उत्पन्न साधनाओं के मूल रूप में विशिष्ट परिवर्तनों के विकासक्रम में जापान के विभिन्न सम्प्रदायों की मूल प्रवृत्तियों और साधना के पक्षों को लेकर हम एक अनुशीलन यहाँ रख रहे हैं।

जापान में ग्यारह बौद्ध सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहे हैं। वे सम्प्रदाय-भेद से क्रमशः दो वर्गों में रखे जा सकते हैं, जिनके अनुसार उनकी साधनाओं में भी अवान्तर भेद पाये जाते हैं।[1]

क. थेरवादाश्रयी सम्प्रदाय
१. कुश (आभिधार्मिक)
२. जो-जित्सु (आभिधार्मिक)
ख. महायानाश्रयी सम्प्रदाय
३. सनरॉन (शून्यतावादी)
४. होस्सो (आदर्शवादी)
५. कैगोन (प्रत्येकबुद्धानुसारी)
६. तेण्डइ (प्रत्येकबुद्धानुसारी)
७. शिगोन (प्रत्येकबुद्धानुसारी)
८. जेन (प्रत्येकबुद्धानुसारी)
९. जोडो (सुखावतीव्यूहानुसारी)
१०. शिशु (सुखावतीव्यूहानुसारी)
११. निचिरेन (सद्धर्मपुण्डरीकानुसारी)

कुश सम्प्रदाय

जापान में कुश सम्प्रदाय की स्थापना ६५८ ई० में दो जापानी पुरोहितों द्वारा हुई—चित्सु और चितत्सु उनके नाम थे। उन्होंने चीन से बौद्ध धर्म और साधना की शिक्षा ग्रहण की थी। इस सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है जिसके रचयिता वसुबन्धु थे। कुश नाम भी 'कोश' शब्द का अपभ्रष्ट रूप है।

इस सम्प्रदाय की स्थापना नारा में हुई जहाँ तोदाइ-जी और कोफुकु-जी तथा उनसे भी प्राचीन होर्यूजी के स्वर्ण और कांस्यमय बुद्ध प्रतिमायुक्त विशाल मन्दिर अवस्थित हैं। नारा में ही दायी-वुत्सु (महा बुद्ध) की साढ़े तिरपन फुट ऊँची

१. देखिए, ई. स्टाइनबेर-ओबर्लिन (E. Steinilberoberlin)-कृत 'दि बुद्धिस्ट सेक्ट्स ऑव जापान' अंग्रेजी भाषान्तर, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, १९३८।

एवं बारह हजार दो सौ पचहत्तर मन भारी पीतल की मूर्ति उस काल की धार्मिक आस्था का परिचय देती है।

कुश सम्प्रदाय की साधना जो-जित्सु और सनरॉन सम्प्रदाय की साधना से बहुत मिलती है, क्योंकि इन तीनों साधनाओं में शून्यता (Vacuity) पर जोर दिया गया है। साधना का स्वरूप बहुत कुछ वही है, जो भारत में प्राचीन बौद्ध साधना में पाई जाती है, जिसके संकेत त्रिपिटक में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। 'सुत्तनिपात' के 'राहुलोवाद' 'मोनेय्यसुत्त' एवं 'विजयसुत्त' की भावना के समान ही इन साधना पद्धतियों की भावना प्रारम्भ होती है।

कुश साधक यह मानते थे कि 'आत्मा' जैसी कोई वस्तु नहीं है। यह केवल भ्रम है। 'मिलिन्द प्रश्न' में नागसेन ने जिस प्रकार रथ का दृष्टान्त देकर आत्मा का खण्डन किया है, वही ढंग कुशों ने अपनाया। उन्होंने कहा कि एक घण्टा भी यदि इसकी भावना की जाय कि आत्मा नहीं है तो मनुष्य का चित्त काफी समाहित हो सकता है। 'बोधि' की प्राप्ति के लिए छ पारमिताओं (पालि>पारमी)—ध्यान, शील, दान, वीर्य, अधिष्ठान, प्रज्ञा का सतत अभ्यास अपेक्षित है। पारमी को जापानी में 'रोकुडो' कहते हैं।

कुश सम्प्रदाय का मूल दर्शन यही है—आत्मा की अस्वीकारोक्ति एवं तत्त्वों (संज्ञा, स्मृति, प्रज्ञा) की, जिन्हें वह 'धर्म' (जापानी > हो) कहता है, यथार्थता।

जो-जित्सु सम्प्रदाय

जो-जित्सु सम्प्रदाय ६२५ ई० के आसपास कोरिया से क्वानरोकु और एकवान नामक बौद्ध साधुओं (वॉज) के द्वारा जापान में प्रविष्ट हुआ। इसका मूल ग्रन्थ जापानी में 'जो-जित्सु-रॉन' (सं० > सत्य-सिद्धि-शास्त्र) है। सत्यसिद्धिशास्त्र संस्कृत की गुप्तकालीन रचना है, जिसके रचयिता हरिवर्मन् थे। इस ग्रन्थ से कुश और सनरॉन सम्प्रदायों के बीच के विभेद का मूलाधार प्राप्त होता है।

जो-जित्सु साधक 'आत्मा' और 'तत्त्व' दोनों की असारता बतलाते हैं। यह कुश की अपेक्षा अधिक शून्यतावादी दर्शन है। इसलिए जो-जित्सु साधक दो शून्यताओं की भावना करते हैं। उनके अनुसार भूत और भविष्य दोनों नहीं हैं; जो है वह केवल वर्तमान है। परन्तु यह वर्तमान भी क्षणिक है। जो एक क्षण है, वह दूसरे क्षण शून्य में मिल जाता है। यथार्थता बिजली की चमक की तरह केवल एक क्षणिकता भर है। जो-जित्सु साधक संसार को 'ओस की बूंद' के समान देखते हैं।

सनरॉन सम्प्रदाय

सनरॉन सम्प्रदाय के आधार तीन धर्मग्रन्थ हैं, जो मध्यम मार्ग के दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। वे ग्रन्थ हैं—

१. माध्यमिक शास्त्र (जापानी > थू क्वानरॉन)
२. शतशास्त्र (ह्याकुरॉन), और
३. द्वादश-निकाय-शास्त्र (जुनिमॉनरॉन)।

इनमें प्रथम और द्वितीय ग्रन्थ के रचयिता सुप्रसिद्ध बौद्ध आचार्य नागार्जुन तथा तृतीय के रचयिता देव नामक दार्शनिक थे।

सनरॉन सम्प्रदाय ६२५ ई० में एकवान द्वारा कोरिया से जापान आया। सनरॉन सम्प्रदाय जापान में अब लुप्त हो गया है। परन्तु उसके आधार ग्रन्थ आज भी मान्य ग्रन्थ के रूप में पढ़े जाते हैं। होर्योजी का सुप्रसिद्ध मन्दिर, जो आजकल होस्सो सम्प्रदाय वालों का हो गया है, किसी समय सनरॉन सम्प्रदाय का था।

नागार्जुन द्वारा प्रवर्तित सिद्धान्त जापान में भी अपने अ-परिवर्तित रूप में मान लिया गया। पदार्थ की सत्ता, अणु की अविभाज्यता, आत्मा का अस्तित्व, तत्त्वों में विश्वास, संज्ञा की अवस्थिति—ये सभी अमान्य हैं, केवल 'शून्यता' ही सिद्ध है। परन्तु शून्यता भी न तो यथार्थ है और न 'नास्तिमूलक'।

होस्सो सम्प्रदाय

जापान के प्रचलित सम्प्रदायों में होस्सो (६५३ ई० में दोशो नामक भिक्षु द्वारा संस्थापित) एक पृथक् सम्प्रदाय चला। इसके प्रवर्तक दोशो को चीन में प्रसिद्ध चीनी पर्यटक युवान् च्वाङ् ने दीक्षा दी थी। दोशो के अतिरिक्त जेम्बो ने भी आगे इस मत का प्रचार किया।

होस्सो सम्प्रदाय के अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें प्रमुख हैं—

केगोन-क्यो (अवतंशक सूत्र)
जे जिम्मि-क्यो (सन्धिनिर्मोचन सूत्र)
र्योग् क्यो (लङ्कावतार सूत्र)
कोगोन् क्यो (गण्डव्यूह)
युगशिजिरॉन (योगाचारभूमि)
दायिजोशोगोनरॉन (महायानसूत्रालङ्कार)
शूर्योरॉन (प्रमाणसमुच्चय)
शोदायिजोरॉन (महायानसम्परिग्रह)
जूजिरॉन (दशभूमि)
निजूकिशिकिरॉन (विंशतिका)
बेन्चू बेनरॉन (मध्यान्तविभाग)
अबिदात्सुमजोशूरॉन (अभिधर्मसङ्गीति)

इस सम्प्रदाय से संबन्धित जापान में ४४ मन्दिर और विहार हैं, जिनमें अनेक भिक्षु हैं। गृहस्थ भी होस्सो के अनुयायी हैं। इस सम्प्रदाय में बौद्ध धर्म के साथ शिन्तो को भी मान्यता प्राप्त है।

होस्सो साधक मूलतः यह विश्वास करते हैं कि जगत् में केवल 'विचार' की सत्ता है, अन्यथा सब कुछ स्वप्न है। जगत् विचार का आलम्बन भर है। इसी प्रकार तीन लोक भी—तृष्णा लोक (योह), रूपलोक (शिकि) और अरूपलोक (मु-शिकि) भी विचार से उद्भूत हैं। यदि जगत् का वैचारिक विश्लेषण करें, हम बानबे धर्मों (तत्त्वों) से उसे आवृत पाएँगे। बौद्ध सिद्धान्त यद्यपि जगत् को नाशवान् कहता है, होस्सो साधक यह मानते हैं कि एक शाश्वत बोधि सत् सदा वर्तमान रहता है। इस प्रकार यह मत आदर्शवादी मतों के निकट पहुँचता है। याकूशिजी और कोफुकुजी के मठों में इस सम्प्रदाय के साधक हैं।

केगोन सम्प्रदाय

केगोन सम्प्रदाय का आयात भी जापान में कोरिया से ७३६ ई० में चीनी साधक दोसेन द्वारा हुआ। सर्वप्रथम नारा के तोदायिजो मन्दिर के पुरोहित र्‌योबेन ने इसे ग्रहण किया। ८वीं शती में जापान के सम्राट् शूमू ने कोरिया के भिक्षु शुइशो पर इसके प्रचार का भार डाला।

वर्तमान समय में केगोन के बहुत थोड़े अनुयायी जापान में हैं। इस सम्प्रदाय से सम्बन्धित २७ मन्दिर बतलाए जाते हैं और पुरोहितों की संख्या भी पचास के लगभग है।

इस सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ 'केगोन्-क्यो' (सं > अवतंशक सूत्र) है। इसके अनुसार विचार और द्रव्य सभी एक ही आधार से समुत्पन्न हैं, एक ऐसी अवस्था, जिसमें बुद्ध या साधारण प्राणी सबमें 'बुद्ध-तथता' (बुद्ध-गुण) की व्याप्ति है। वह दशा एक महासमुद्र के समान है, जिसमें इन्द्रियमूलकता तरङ्गाघातों की तरह निरन्तर पर्यवसित होती रहती हैं।

केगोन दर्शन भावमय है। वह एक आशावादी दर्शन है, जिससे उसकी साधना भी काव्यमय है। उसके अनुसार संसार के संघर्ष में केवल प्राणी ही संघर्षरत नहीं हैं, तथागत उनके साथ हैं। तोदायिजी का मन्दिर केगोन साधना का केन्द्र है।

केगोन भी होस्सो की तरह बौद्ध धर्म के साथ शिन्तो के उपासक हैं। वे प्रायः कलाप्रिय, स्वप्नद्रष्टा और भावना-संप्रज्ञ होते हैं।

तेण्डइ सम्प्रदाय

तेण्डइ सम्प्रदाय का आयात जापान में चीन से ९वीं शती में हुआ। चीन में यह भारत से कब पहुँचा, यह शोध का विषय है। तेण्डइ सम्प्रदाय के मूलशास्त्र निम्नलिखित हैं :

होक्के-क्यो (सद्धर्मपुण्डरीक)
कों कोम्यो,क्यो (सुवर्णप्रभाससूत्र)
नेहन-ग्यो (निर्वाणसूत्र)
दायिनिचिक्यो (महावैरोचन-अभिसंबोधि-सूत्र)
कोंगो चोक्यो (वज्रशेखरतन्त्रराज-सूत्र)
सोशिजिक्यो (सुसिद्धिकरमहातन्त्रराज)
बोदायिशिरॉन (बोधिहृदयशास्त्र)

इस सम्प्रदाय के जापान में प्रवर्तक साइचो अथवा देञ्ज्यो-दायिशी थे। सम्प्रदाय का मूलग्रन्थ सद्धर्मपुण्डरीक (होक्के-क्यो) ही है, जिसके आधार पर तेण्डइ साधक प्रत्येक अणु में बुद्धगुण का आधान मानते हैं। केगोन दार्शनिकों ने केवल जीवधारी सत्ता में ही बुद्धगुण माना था, किन्तु यहाँ सारा ब्रह्माण्ड ही बुद्धगुणोपेत है।

इस सम्प्रदाय के एक बड़े विचारक ने हर प्रकार के चर-अचर, सदसत्, स्थूल-सूक्ष्म व्यापारों के भीतर बुद्धगुण की सान्तता का गान किया था और उसके अनुयायियों ने उस शिक्षा को मानकर जापान में आशावादिता का एक वातावरण उत्पन्न कर दिया था।

तेण्डइ साधक बड़े उल्लासपूर्ण स्वर में कहते हैं : 'हन्न मो जोबुत्सु सुरु' (फूल भी बुद्ध हो सकते हैं)।

इसी विशेषता के आधार पर आज भी तेण्डइ साधक निचिरेन साधकों के साथ स्वर में स्वर मिलाकर अपने प्रसिद्ध मन्त्र 'नम्यो-अमिद बुत्सु' (अमिताभ बुद्ध को नमस्कार) के साथ निचिरेन मन्त्र 'नम्योहो-रेंगे-क्यो' का समवेत गान करते हैं। तेण्डइ मन्दिरों की संख्या ६००० के लगभग है और लाखों व्यक्ति इसके अनुयायी हैं। इन मन्दिरों में आसाकुसा, मीदेरा और संजुसञ्जेन-दो के मन्दिर विशेष प्रसिद्ध हैं।

शिंगोन सम्प्रदाय

शिंगोन सम्प्रदाय (९वीं शती में स्थापित) जापान का वस्तुतः एक गुह्य (रहस्यमय) सम्प्रदाय है। इसके संस्थापक जापानी साधक कूकै अथवा कोबो-दायिशी थे। इस सम्प्रदाय के विशिष्ट ग्रन्थ हैं—

दायिनिचिक्यो
कोंगोचोक्यो
सोशिजिक्यो
युजिक्यो
दायिबिरुशनबुस्सेत्सुयार्यकुनेञ्जुक्यो तथा
कोबो दायिशी के टीका-ग्रन्थ।

वज्रयानी साधन और मुद्राओं पर आधारित शिंगोन सम्प्रदाय का प्रचार पहले काफी था, किन्तु कालान्तर में उसमें ह्रास हुआ। इस सम्प्रदाय की साधना में 'मंदार' (एक प्रकार के यन्त्र) का बहुशः व्यवहार पाया जाता है और पूजा एवं जप के लिए बाह्य उपकरणों का, जिनमें माला मुख्य है, विशेष आश्रय लिया जाता है।

इस सम्बन्ध में यहाँ एक विचार आवश्यक प्रतीत होता है। 'जप' के विषय में थेरवादी महायानियों के कुछ प्रतिरोधी जान पड़ते हैं। उसका कारण उनकी बाह्यार्थ-दृष्टि है; अन्यथा अभिधर्म की भाषा में भी इसका सुन्दर समाधान मिलता है। यहाँ एक समीक्षा देते हैं :

बौद्ध धर्म में 'माला' के प्रयोग को लेकर प्रायः बड़ी भ्रान्ति फैली हुई है। यदि यह केवल मन्त्रों का यन्त्रवत् जप ही है, जो धर्म का अन्य धर्मों की तरह एक आनुषङ्गिक अङ्ग बन गया है तो इसका यथार्थ मूल्य कुछ नहीं हो सकता। परन्तु यथार्थता यह है कि मन को एकाग्र करने का और उसे सतत शुद्ध रखने का माला बड़ा भारी उपकरण है। महायान के अनुयायी इसे मानते ही हैं, थेरवादी इसे भी चित्त-प्रशम का साधन मानने लगे हैं।[1]

जापान के शिंगोन साधकों का कहना है कि यद्यपि बुद्ध और पुण्डरीक में समान हृदय वर्तमान है, परन्तु हमें संसार के रहस्य को अन्तर्दृष्टि से समझने की आवश्यकता है।

---

1. The value of this in terms of Abhidhamma psychology lies in the wholesome nature of the Cittakkhana, or 'Consciousness-moment' in its uppada (arising), thiti (static) and bhanga (disappearing) phases, Each of these wholesome cittakkhana contributes to the improvement of the Sankhara, or aggregate of tendencies, in other words, it directs the subsequent thought-moments into a higher realm and tends to establish the character on that level.'
—Buddhist Meditation, p. 14, Buddhist Publication Society, Candy, Ceylon, 1963.

शिंगोन प्रतीकों में कुछ मुख्य यहाँ दिये जाते हैं, जिनका उनकी साधना में बराबर व्यवहार होता है।

प्रतीक	व्यञ्जना
दक्षिण-कर	बुद्ध लोक
वाम-कर	संसार
अङ्गुष्ठ	आकाश (शून्य)
तर्जनी	वायु
मध्यमिका	अग्नि
अनामिका	जल
कनिष्ठिका	पृथ्वी

महायान धारणी मन्त्रों की तरह शिंगोन साधकों की भी अनेक धारणियाँ हैं और उनका धर्मचक्र तिब्बती 'मानी' की तरह निरन्तर चलता रहता है, उसे 'तेन-हो-रिन्' कहते हैं।

जोडो सम्प्रदाय

जोडो सम्प्रदाय की स्थापना जापान में ११७५ ई० में हुई। उसके संस्थापक गेन्कू—जो होनेन के नाम से विख्यात हैं—थे। 'जोडो' का अभिप्राय पवित्र भूमि है। इस सम्प्रदाय की साधना अमिताभ बुद्ध की साधना है। इसका मूल ग्रन्थ 'सुखावती व्यूह' है। प्राचीन काल में जोडो के अधिक अनुयायी थे।

जोडो सम्प्रदाय के अनुयायी यह मानते हैं कि संसार से जाने पर वे सुखावती (पवित्र भूमि) में प्रवेश पा सकें, इसके लिए इस जीवन में उन्हें पवित्र और दयामय जीवन बिताना चाहिए। अमिताभ की कृपा ही उनका सर्वस्व है। यों तो जोडो मन्दिर जापान में बहुत हैं, किन्तु वे कुरोदानी के मन्दिर पर विशेष श्रद्धा रखते हैं, जो सन्त होनेन की साधना भूमि रहो है।

जोडो मन्त्र है : 'नम्यो-अमिद-बुत्सु'।

शिशु सम्प्रदाय

जोडो सम्प्रदाय की तरह शिशु सम्प्रदाय भी सुखावतीव्यूहानुसारी है। इसके संस्थापक शोनिन शिनरॉन (११७३ ई०–१२६२ ई०) थे। जापान में इस सम्प्रदाय की बड़ी प्रतिष्ठा है। इसके हजारों मन्दिर हैं और अनुयायी भी लाखों हैं। इसकी लोकप्रियता का कारण इसकी अमिताभ में भक्तिभावना और निर्वाण की सहज साधना ही कही जा सकती है। इसके सिद्धान्तों के अनुसार तथागत ने इसीलिए पृथ्वी पर

जन्म ग्रहण किया क्योंकि उन्हें मानवता को कष्टों से छुटकारा दिलाना था। 'नम्यो-अमिद-बुत्सु' मन्त्र के जप में वह शक्ति है, जो मनुष्य को उसके सभी अकुशल कर्मों से शीघ्र उन्मुक्त कर देती है।

शिंशु साधना के प्रसिद्ध मन्दिर क्योतो में हैं। वहाँ उनके विख्यात निशि-होंगवानजी और हिगाशी-होंगवानजी के पवित्र तीर्थ-स्थल हैं। जोडो मन्दिरों में यात्रियों की बराबर भीड़ रहती है। इसका कारण यह है कि जोडो जीवन की एक लम्बी यात्रा मानते हैं।

शिंशु साधकों का यह विश्वास है कि जब तक मनुष्य अपनी तृष्णा का क्षय नहीं कर देता, उसे विश्व में अनन्त रूपों में व्याप्त चराचर सत्य का आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता।

ज़ेन सम्प्रदाय (ध्यान सम्प्रदाय)

ज़ेन अथवा ध्यान सम्प्रदाय जापान का विशिष्टतम सम्प्रदाय है, जिसके प्रवर्तक भारतीय साधक बोधिधर्म माने जाते हैं। जापान की संस्कृति पर इस सम्प्रदाय की गहरी छाप है। इसके प्रति आकर्षण का कारण अन्य साधनाओं की अपेक्षा इसकी सरलतम साधना है। दार्शनिक शास्त्रार्थ और विज्ञानवाद की विश्लेषण-पद्धतियों के स्थान में यह काव्यमय अन्तस्साधना तथा एक रहस्यमय वातावरण को जन्म देता है जो कभी छोटे दार्शनिक परिसंवादों, जिन्हें 'प्रश्नमाला' (मॉडो) कहना उचित होगा, और कभी मोहक लघु गीतों अथवा सुरुचिपूर्ण चित्रों में व्यञ्जित होता है।

ज़ेन को दर्शन कह सकते हैं और उसकी अपनी परिभाषा के अनुसार उसे दर्शन नहीं भी कह सकते हैं। यह वस्तुतः प्रेममय योग की एक प्रक्रिया है, जो संसार के बीच प्रकृति के सुरम्य वातावरण में, किसी पर्वत की उपत्यका में, नदी या कछार के निभृत एकान्त में ले जाकर हमें आत्म-बोध का अनुभव करा देती है।

जापान में ज़ेन सम्प्रदाय के तीन वर्ग हैं। क. रिंजइ, ख. सोतो और ग. ओबाकू। उनकी साधना में अन्तर नहीं है, केवल इतिहास भिन्नता की ओर इङ्गित करता है। रिंजइ की साधना चीन में होती थी, जिसे जापानियों ने बारहवीं शती में अपनाया। इसका श्रेय एइसेयी को है। दूसरी शाखा सोतो के प्रवर्तक दोगेन (१२००–१२५३ ई०) थे। दोगेन जापानी थे। तीसरी शाखा ओबाकू की स्थापना १६५३ ई० के आसपास ईंजेन नामक चीनी भिक्षु द्वारा जापान में हुई।

चीनी अनुभूतियों के अनुसार ध्यान साधना का मूलोद्भव राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर स्वयं भगवान बुद्ध के संघोपदेश के एक अवसर पर हुआ, जबकि देवाधिपति ब्रह्मराज ने उन्हें एक स्वर्ण-उत्पल प्रदान किया और धर्म की देशना के लिए प्रार्थना

की। भगवान् ने वह स्वर्णोत्पल संघ को दिखलाया। संघ मौन रहा। इस बीच महाकाश्यप ने उत्पल को देखकर स्मित हास किया, जैसे उनकी समझ में सब कुछ आ गया। यह उन्हें धर्म-चक्षु प्राप्त हुआ। वही चक्षु आनन्द को भी मिला। इस धर्म-रहस्य को धारण करने वाले बोधिधर्म परम्परा से अट्ठाइसवें माने जाते हैं।

साधना की यह संवाहन (Transmission) प्रणाली आज तक चली आ रही है और ज़ेन साधक एक विचित्र ढङ्ग से प्रज्ञा की गुत्थियाँ स्वानुभूति के द्वारा सुलझाने की प्रेरणा देते रहते हैं। ज़ेन प्रसङ्ग बड़े रोचक हैं और उनके 'मॉडो' का तो कहना ही क्या।

'प्रज्ञापारमिता' को जीवन-दर्शन के रूप में स्वीकार करनेवाले ज़ेन साधक प्रत्येकबुद्धानुसारी हैं। वे विज्ञान से प्रश्नों का समाधान नहीं ढूँढ़ते। वे शून्यतावादी भी नहीं हैं। इसीलिये वे प्रकृति के विशेष निकट हैं। उनका प्रकृतिप्रेम उनके काव्यों (हाइकायी एवं वाका), नाटकों (नो-ह्), चित्रों (समिये) आदि में अपने मधुरतम रूप में अभिव्यञ्जित पाया जाता है। ज़ेन काव्य को समझे बिना उनकी साधना को समझना असम्भव है। 'हाइकू' का एक उदाहरण यहाँ देते हैं—

'योशिनो में जब चेरी के फूलने का समय आता है, उल्लास से भरा हुआ मेरा हृदय पर्वत के शिखर पर इन वसन्तकालीन प्रभातों में चमकने वाले श्वेत बादलों की ओर अनायास खिंच उठता है।'

(सकावादा मासातोशी, १५८०-१६४३ ई०)[1]

काव्य का यह माधुर्य और भी मिठास उत्पन्न कर देता है यदि कहीं झरने के निर्बाध रव के बीच बाँसों के झुरमुट में किसी ज़ेन की झोपड़ी में 'छा-नो यू' (चाय का विशेष निमन्त्रण) मिल गया हो। उस समय काल को भी प्रज्ञा के आह्लाद के आगे मौन रह जाना पड़ेगा।

इस प्रकार मॉडो द्वारा ज़ेन के समझाए जाने का एक स्वरूप यहाँ देते हैं।

ज़ेन गुरुओं ने साधकों को इसी प्रकार की शिक्षाएँ दी हैं—एक साधक ने गुरु से बौद्ध धर्म का मूल अभिप्राय जानना चाहा। गुरु ने उत्तर दिया—

पर्वत से एक जल धारा निकलकर बह रही है। वह अबाध गति से बहती जा रही है। इसी तरह सुवर्ण तारों से खचित जैसे पहाड़ी फूल खिले हुए हैं; यहाँ मञ्जुश्री तुम्हारे सामने विद्यमान हैं।

वन के प्रान्तर में चिड़ियाँ चहचहा रही हैं, जानते हो वे क्या कहती हैं, वे अवलोकितेश्वर की वाणी में तुम्हें सन्देश दे रही हैं। साधक, तुम क्या सोच रहे हो।

१. देसेत्ज तेतारो सुज़ूकी के जापानी हाइकू के अंग्रेजी भाषान्तर से रूपान्तरित।

मॉडो कभी-कभी हमें उपनिषत्कालीन ऋषियों, रहस्यमार्गी सिद्धों अथवा कबीर की बानियों का भी स्मरण दिला देते हैं। इसका कारण अन्तस्साधना का मार्ग है। जब सिद्धों में प्राचीन सरह (=सरोजवज्र) कहते हैं—

जहि मन पवन न सञ्चरइ, रवि ससि नाहि पवेस।
तहि वट चित्त बिसाम करु, सरहे कहिय उवेस॥

उस समय हमें ज़ेन साधक की संवाहात्मक साधना ध्यान में आ जाती है। जेन साधक सही कहते हैं कि शब्दों के जाल में हम इतने उलझे रहते हैं कि प्रायः यह भूल जाते हैं कि शब्द यथार्थता का प्रतिनिधित्व भर करने वाले हैं, वे यथार्थ नहीं हैं। जब हम इसका आभास पा जाते हैं, उस समय हम अनुभव करते हैं कि हम उन्मुक्त जीव हैं, जिनका कोई प्रयोजन नहीं है (बू-शिह-चिह ज़ेन)।

संवाहात्मक साधना की एक अक्षय राशि हमें जापानी ग्रन्थ 'केइतोकू देन्तो रोकू' (जिनका अंग्रेजी भाषा में 'Records of the Transmission of the Lamp' शीर्षक से अनुवाद हुआ है) में मिलती है। प्रकृति के अत्यन्त निकट होने के कारण कुछ लोग जेन साधना में प्रकृतिवाद (Naturalism) का आरोप कर सकते हैं। परन्तु किसी वैज्ञानिक चक्र के बिना ही स्वानुभूति द्वारा जेन विराट् सृष्टि के अनन्त रहस्यों का क्षण भर में उद्घाटन करने को प्रस्तुत रहता है। एक जापानी जेन का कथन है कि—'पतझर और फूलों का आगम दोनों ही भगवान बुद्ध के सद्धर्म की पवित्रता के द्योतक हैं।' प्रज्ञावान् ही श्रद्धामय अनुभूति से 'महाप्रज्ञा' का दर्शन पाता है। 'प्रज्ञापारमिता' को जापानी भाषा में 'हन्या-हरमित्सु' कहते हैं।

महाप्रज्ञा को एक मॉडो में समझने का यह प्रयास बड़ा श्लाघ्य है—

शेइशो (बॉज) का कथन है कि—'हिम-पात का समय है, प्रकृति कुहरे से ढक गई है।'

इस पर साधक चुप रहता है।

गुरु ने प्रश्न किया—'समझते हो?'

साधक निरुत्तर रहता है।

शेइशो एक हाइकू द्वारा सब स्पष्ट कर देते हैं:

'यह न तो बतलाई जा सकती है और न ग्रहण की जा सकती है, यदि साधक स्वयं समझने में असमर्थ है।

वायु शीतमय है, हिमपात होता जा रहा है।'

इसी तरह प्रश्नों की शृङ्खला बन जाती है।

साधक प्रश्न करता है—'आत्मा क्या है?'

गुरु का सीधा उत्तर होता है—'आत्मा से क्या करोगे?'

जेन संवाहन का एक रोचक विवरण यहाँ प्रस्तुत है। हन्या पगोडा के धर्मगुरु केइजू धर्मसभा में उपस्थित हुए। तीन बार धर्म-दुन्दुभि बजी। धर्मगुरु ने सभा को सम्बोधित कर कहा—

'आश्चर्य है—दुन्दुभि तीन बार बजी—

भिक्षुसंघ यहाँ आ उपस्थित हुआ।

भिक्षुसंघ जानता है कि समय की सूचना कैसे प्राप्त होती है। मुझे यह सब दुहराने की आवश्यकता नहीं है।'

इतना कहकर धर्मगुरु सभा मण्डप से प्रस्थान कर देते हैं। (केइतोकु देन्तो रोकु)

जेन संवाहन का मुझे स्वयं अनुभव उस समय हुआ, जब सारनाथ के खंडहरों में मूलगन्ध कुटी के पास बैठकर इस विषय के लिखते समय मेरे पास से उठकर मेरी धर्मपत्नी और सुपुत्र के घर लौटने पर अकस्मात् जापान के एक शिष्टमण्डल के साथ एक बहुत बड़े जेन साधक बुत्सु कोकुजी के मन्दिर के बॉज मेरे पास आ उपस्थित हुए। जापानी साधक के भी आश्चर्य की सीमा नहीं थी कि उन्हें मैं इस भावमयी मुद्रा में बैठा मिलूँगा। जेन के सम्बन्ध में अधिक बातें न होकर ज़ेन साधना का प्रकृत रहस्य ही खुलने लगा। यह संयोग स्वतः आह्लादमय था। बॉज ने मुझसे शीघ्र एक शब्द लिखने के लिए कहा। मैंने एक वाक्य लिख दिया—'Flowers are lovely' (फूल सुन्दर हैं)। बॉज के लिए इतना बहुत था। एक अन्य मित्र के साथ उन्होंने मेरे फोटो खींचे और मङ्गल की प्रार्थना की। जो बात मैं विशेष रूप से यहाँ लिखना चाहता हूँ, वह मेरी भेंट का विषय अथवा आत्मप्रशंसा नहीं है। आकर्षण की बात तो यह रही कि कुछ फोटो लेने के उपरान्त जब वे अन्तिम फोटो खींचने चले—सहसा कैमरा रिक्त हो चुका था। इस पर वे आनन्द से चिल्ला पड़े—'Excellent' (बहुत अच्छा)। यह शब्द 'जेन' का अनुभूति-परक शब्द है।

जेन सान्त और अनन्त के बीच एक मधुर साम्य स्थापित करता है। वह निरपेक्ष अथवा अमूर्त्त सत्य (Absolute Truth) में आस्था नहीं रखता। वह एक गत्यात्मक सौन्दर्यानुभूति है जो विराट् में व्याप्त है। मुझे 'आत्मानं विद्धि' का ध्यान आ गया।

जेन साधना जापान में कामाकुरा युग में प्रचलित हुई थी और अपनी प्रकृत विशेषताओं के कारण हर वर्ग के लोगों में उसी समय से लोकप्रिय हो गई। उसके समर्थक समुराई योद्धा भी रहे हैं और पहाड़ी गुफाओं में निवास करने वाले सिद्ध भी।

प्रज्ञापारमिता सभी का लक्ष्य है।[1]

---

१. जेन साधना के विषय में 'केइतोकु देन्तो रोकु' के अतिरिक्त भी अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थों की रचना हुई है, जैसे 'जेन्सो-मॉडो' (जेन बॉजों के प्रश्न-रहस्य), 'जेन्शु जितेन' (जेन सम्प्रदाय कोश) एवं देसेत्ज तेतारो सुजुकी के 'जेन बुद्धिज्म ऐण्ड इट्स इन्फ्लुएन्स ऑन जापानी कल्चर' (दि ईस्टर्न बुद्धिस्ट सोसाइटी, ओतानी बुद्धिस्ट कालेज, क्योटो (१९३८) एवं 'स्टडीज इन जेन' राइडर, लण्डन १९५५ जैसे ग्रन्थ।

निचिरेन सम्प्रदाय

जापान में जेन की तरह निचिरेन सम्प्रदाय भी काफी मान्य है। उसके प्रवर्तक निचिरेन (१२२२ ई०-१२८२ ई०) एक बड़े सिद्ध पुरुष थे। निचिरेन सम्प्रदाय का धर्मग्रन्थ केवल एक 'सद्धर्मपुण्डरीक' है। इसके मन्दिर जापान में बहुत बड़ी संख्या में हैं; विशेषतः इकेगामी और मिनोबू मन्दिर। निचिरेन देश प्रेम को भी बहुत महत्त्व देता है। इसलिए इसका काफी प्रचार है। इसके तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं-

१. इस मन्त्र विशेष का जप 'नम्यो होरेंगे क्यो' (सद्धर्मपुण्डरीकाय नमः),

२. भगवान् (तथागत) की प्रतीकात्मक उपासना,

३. बौद्धधर्म का सार्वभौमिक प्रसाद।

ये तीनों सिद्धान्त क्रमशः 'दाइमोकु' (मन्त्र), 'होन्जो' (उपासना-विषय) एवं 'कावोदान' (प्रसार-भूमि) हैं।

मन्त्र में निचिरेन साधकों का अभिन्न विश्वास है। उनका समवेत स्वर सागर की लहरों के समान जीवन की आस्था का प्रतीक है। मन्त्र से वे निर्वाण (नेहान) की सिद्धि मानते हैं। यह मार्ग ज्ञानी और भक्तिमार्गी सभी के लिए खुला हुआ है। इतनी विशेषता और है कि राष्ट्रीय उद्बोधन (रिसोहो-अंकोकु-रॉन) भी एक आवश्यक तत्त्व के रूप में जुड़ गया है, जो वर्तमान जापान की प्रगति के लिए आधार बन गया है। भारत में प्रसिद्ध निचिरेन भिक्षु निचिदात्सु फ्यूजी, जो जापान बौद्ध संघ के अध्यक्ष हैं, की प्रेरणा से पिछले वर्ष राजगृह में विश्वशान्ति पगोडा का निर्माण हुआ था। फ्यूजी गुरुजी के अनुसार राजगृह वह स्थान है, जहाँ तथागत ने 'सद्धर्म-पुण्डरीक' का प्रथम उपदेश किया था, जिसके आधार पर जापान में निचिरेन सम्प्रदाय की स्थापना हुई है। विश्वमङ्गल निचिरेन की एक निर्दोष कल्पना है। निचिरेन साधक अन्य शुभ साधकों की तरह उसीकी सिद्धि चाहता है।

जापान की साधनाओं पर बौद्धधर्म के अतिरिक्त कनफूची और शिन्तो प्रभाव भी काफी पड़े हैं। परन्तु जब हम वैदिक और तन्त्र प्रक्रियाओं से भी उन्हें दूर नहीं पाते तो इसका कारण जापानियों की ग्राह्य-बुद्धि ही मानी जा सकती है।

इस सम्बन्ध में मुझे पिछले वर्ष सारनाथ आये दो जापानी साधकों का स्मरण है, जिनमें एक ओसाका विश्वविद्यालय के संस्कृत के अवकाश प्राप्त प्रोफेसर टी० सहोद थे। उनसे यह जानकर कि साधना की दिशा में जापानी 'अथर्ववेद' और 'उपनिषदों' की भी खोज करने में लगे हुए हैं, मुझे उस समय तो आश्चर्य हुआ

परन्तु अब आश्चर्य नहीं हो सकता, जब मैंने जापानी साधनाओं का कुछ संकलन कर लिया है।[1]

जापान की साधनाओं में हमें एक प्रकार का भाव बराबर दिखलाई देता है—वह है जीवन को प्रभञ्जन की दीपशिखा मानने वाले[2] साधकों का 'सतत स्वप्न'। यह विचार एक जापानी कविता में जो 'उता' शैली की एक उत्कृष्ट रचना है, इस प्रकार व्यक्त हुआ है—

योरु बाकारी
मिरु मोनो नारी तो
ओ मोऊ—नाथो!
हिरु साये युमे नो
उकियो नारी-केरी।

'स्वप्नद्रष्टा केवल रात में ही स्वप्न नहीं देखता; दुःख से पूर्ण संसार का स्वप्न हम दिन में देखते रहते हैं।'

परन्तु साधक की अन्तःदृष्टि ने स्वप्न की स्थिति को अपनी मैत्री भावना से मानवता के पर्युत्थान में बदल दिया है। जापानी मन्दिरों में 'नेम्बुत्सु' (प्रार्थना) के अवसर पर 'मोकुग्यो' (धर्म-भेरी) के स्वर के बीच उनकी भावमयी त्रिशरण-वन्दना हृदय के सभी संशय छिन्न कर देती है, मैं ऐसी कल्पना कर सकता हूँ। वह स्वर है—

वारे बुत्सुनी किएइशी ताते मात्सेरो
वारे होनी किएइशी ताते मात्सेरो
वारे सोनी किएइशी ताते मात्सेरो

---

१. पाश्चात्य अन्वेषक स्तीनबेर ओर्बलिन ने इस सम्बन्ध में अपने विचार इस प्रकार व्यक्त किये हैं, जो मुझे कुछ विद्रोहात्मक प्रतीत होते हैं, परन्तु जापान गत्यात्मक (डाइनमिक) है, यह आवश्यक सत्य है—

If Would be difficult to determine in what measure the sects of the Pure Land-purely Japanese creations, but whose canonical texts are ancient sutras bearing expressly those simplificaions of doctrine and practice which they advocate have themselves and by the effect of a natural evolution, become adapted to the exigencies of contemporary life, and in what measure their religious leaders, alarmed by Christian rivalry, have very legitimately been able to voluntarily accentuate their modernistic tendencies.'

(दि बुद्धिस्ट सेक्ट्स ऑव जापान, इण्ट्रोडक्शन, पृ० २१)

२. एक जापानी कहावत—'इनोची वा फुजेन नो तोमो शीबी।'

आधुनिक संशयवाद के युग में साधना के महत्त्व को स्वीकार कर पाश्चात्य विचारक भी आजकल उसकी प्रक्रियाओं और सम्भावनाओं की खोज में बड़े व्यापक रूप में लग गये हैं। नागार्जुन की 'निर्वाण' विषयक शून्यवादी व्याख्या के आधार पर आधुनिक जर्मन विचारक पाल ढालके (Dr. Paul Dahlke) ने अपना मत व्यक्त करते हुए कहा था कि 'निर्वाण' की कल्पना जगत् से भिन्न किसी अज्ञात लोक की कल्पना नहीं है।[1] जीवन की विविधता में अनन्त सौन्दर्य का हम दर्शन कैसे पा सकते हैं, इस सम्बन्ध में एक अन्य विचारक रूथ वेल्श (Ruth Walshe) कहते हैं कि बाहरी आवरण, जो हमारे सच्चे रूप को ढँके हुए है, के हटते ही हम उस विशाल सौन्दर्य का दर्शन कर सकते हैं, जो अखिल जगत् में परिव्याप्त है। रूथ गेटे के 'फास्ट' से उद्धरण देते हुए इस तत्त्व को विशद रूप से सञ्चालित देखना चाहते हैं और यही धारणा अन्य बहुत से आधुनिक विचारकों की है। गेटे का अभिप्राय मूल जर्मन भाषा में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है :

'Greift nur hinein ins volle Menschenleben ! Ein jeder leb'ts-nich vielen ist's bekannt Und wo Ihr' pact, da ist's interessant !'

इससे इतना तो सिद्ध है ही कि साधना—मैत्रीभावना जिसका आनुषङ्गिक अङ्ग है—जीवन में अवधारित करने की बड़ी व्यापक आवश्यकता है।

मानवता ने प्राचीन युग में साम्राज्यों के पतन के रूप में जो कुछ देखा और मध्य युग के अवशेषों को लेकर जिस प्रकार नए राजतन्त्रों का सृजन कर फिर वर्तमान शासनों की ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियों को जिस निरीहता से देख रही है, उसके निरोध के लिए साधना उपयोगी है। उसमें क्रान्तिमूलक सभी अभिप्रेरणाएँ और शक्तियाँ सन्निहित हैं, जिनके लिए मनुष्य को नई भाषा को जन्म देना होगा अथवा भाषा के माध्यम के बिना ही सब कुछ बदल जायगा।

● ● ●

१. 'The Samsāra, this ever-changing world of ever new births, of ever new act of becoming 'world' again, is precisely so canstituted that Nibbāna, Deliverance, Salvation, does not lie in any Beyond that can be reached only by a transcendental leap out of the world; but Samsāra bears Nibbāna wihin itself as its final fulfilment; a fulfilment that takes place in a process of radical detachment experienced in a progressive inner awareness (Verbewusstung)'.

—From 'Die Brockensammluug', 1929.

बौद्ध एवं अन्य भारतीय योगसाधना

संस्कृत-निबन्ध

आरभध्वं निष्क्रामत युज्यध्वं बुद्धशासने ।
धुनीत मृत्युनः सैन्यं नडागारमिव कुञ्जरः ॥
यो ह्यस्मिन् धर्मविनयेऽप्रमत्तश्चरिष्यति ।
प्रहाय जातिसंसारं दुःखस्यान्तं करिष्यति ॥
(दिव्यावदानम्—१८६ पृ०)

समाहितो यथाभूतं प्रजानातीत्यवदन्मुनिः ।
शमाच्च न चलेच्चित्तं बाह्यचेष्टानिवर्तनात् ॥
(शिक्षासमुच्चयः, ९ का०)

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः,
कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य ।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः
स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या ॥
(बोधिचर्यावतारः ८।४)

भारतीयविविधयोगसम्प्रदायाः

डॉ० शिवशङ्कर अवस्थी

योगरन्धितकर्माणो हृदि योगविभाविते ।
योगिनो यं प्रपश्यन्ति योगेशं तं नतोऽस्म्यहम् ॥ (भागवतम्)

१. जगति योगाविर्भावस्येतिहासः

सृष्टेरादौ ब्रह्मणा हिरण्यगर्भेण[1] नारायणाख्येन[2] एक एवाव्ययो योगः सनकादीन् प्रति प्रथमम्, तदनु विवस्वन्तं प्रति उक्तोऽभूत् । समाहितासमाहितान्तःकरणतया अधिकारिभेदादसौ योगः ब्रह्मनिष्ठतैकफलः द्विशाखतां गतः । एकः ब्रह्मयोगोऽपरः कर्मयोग इति । शुद्धान्तःकरणतया सनकादयः[3] ब्रह्मयोगपरायणाः[4] निवृत्तिमार्गिणो बभूवुः । सा च परम्परा [5]सनकसनन्दनसनातनकपिलासुरिबोढुपञ्चशिखादीनां नारदशुकप्रभृतीनां च । एषु अयं ब्रह्मयोगः, साङ्ख्ययोग इति, ज्ञानयोगः, अध्यात्मयोग

---

१. (क) हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः (योगियाज्ञवल्क्ये)
(ख) इदं हि योगेश्वरयोगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगाद यत् ।
(श्रीमद्भागवतम् ५।१९।१३)

२. (क) नारायणाख्यो भगवान् ब्रह्मा लोकपितामहः ।३। (विष्णुपुराणम् । प्र० अंश, अ० ३)
(ख) आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माग्रे समवर्तत ।
यमाहुः पुरुषं हंसं प्रधानं परितः स्थितम् ॥
हिरण्यगर्भं कपिलं छन्दोमूर्तिं सनातनम् । (कूर्मपुराणम्—४।३८-३९)

३. सनकश्च सनन्दश्च तृतीयश्च सनातनः ।
आसुरिः कपिलश्चैव बोढुः पञ्चशिखस्तथा ॥
इत्येते ब्रह्मणः पुत्राः सप्त प्रोक्ता महर्षयः (महाभारतम्)
(गौडपाद—सां० का० टीका)

४. (क) बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥ (गीतायाम् ५।२१)
(ख) सनन्दनादयो ये तु ब्रह्मभावनया युताः । (विष्णुपु० ६ अं० ७ अ०)

५. पितृतर्पणपद्धतावेषा परम्परा प्रसिद्धा ।

इति चापरनामधेयैः सुप्रथतां गतः। एष पन्थाः [1]श्रमणमार्गाख्ययापि प्रसिद्धः। गते च बहुतिथे काले गौतमो बुद्धः साङ्ख्यगुरुणा सकाशादधीतविद्यः पुनरेनमेव श्रमणमार्गं नवीनरूपेण प्रवर्तयामास।

अपरा च परम्परा वैवस्वती। विवस्वान् मनवे, मनुः इक्ष्वाकवे, इक्ष्वाकुश्च प्रजाभ्यः राजर्षिभ्यः। तथा हि—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः॥

अस्याः परम्परायाः छान्दोग्योपनिषदि अपि उल्लेखः सुलभः।

'तद् ह एतत् ब्रह्मा प्रजापतये, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः।'

(छान्दोग्य० ३।११।४)

अत्र शङ्कराचार्यः—**'ब्रह्मा हिरण्यगर्भो विराजे प्रजापतये उवाच। सोपि मनवे। मनुरिक्ष्वाक्वादिभ्यः प्रजाभ्यः प्रोवाच।'**

किञ्च—

'ब्रह्मा हिरण्यगर्भः परमेश्वरो वा तद्वारेण प्रजापतये काश्यपाय उवाच। असावपि मनवे स्वपुत्राय। मनुः [2]प्रजाभ्यः।'—(छान्दोग्योपनिषद्भाष्यम् ८।१५।१)

व्युत्थितान्तःकरणत्वात् तथाधिकारिणां लोकशासनं विदधानानां सृष्टिचक्रप्रवर्तनपराणां राजर्षीणां मन्वादीनामाहिताग्नीनाञ्चान्येषामियं कर्मयोगपरम्पराऽभ्यर्हिताभूत्।

१. वातरशना ह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमन्थिनो बभूवुः। (तै० आ०—२।७)
श्रमणशब्दः शतपथब्राह्मणे १४।७।१।२२।

२. एषा परम्परा साङ्ख्यकारिकाटीकायां युक्तिदीपिकायामपि यथा—'यतश्च नारायणमनुजनकवशिष्ठद्वैपायनप्रभृतिभिराचार्यैः प्रधानपुरुषादयः पदार्थाः परिगृहीताश्चोपदिष्टाश्च प्रशस्ताश्च····(कारिका ७२)।

अन्ये च [1]कात्यायनगौतमगार्ग्यावटथायनप्रभृतयः, जैगीषव्यासितदेवल[2]-केशिध्वजखाण्डिक्यजनकादयोऽपरे च भार्गवोलूकवाल्मीकिहारीतवाद्धलिकैरातपौरिकर्षभेश्वरपञ्चाधिकरणपतञ्जलिवार्षगण्यकौण्डिन्यमूकादयः, इतरे च भृगुवशिष्ठकरालजनकपराशर-याज्ञवल्क्यादयश्च तमेकमेव योगमधिगम्य यथाकालं आहिताग्नयः यथावसरे चाभिजातान्तःकरणप्रवृत्तिमाकलय्य प्रव्रजिता बभूवुः।

२. एकस्यैवाव्यययोगस्य स्वरूपम्

'योगः कर्मसु कौशलम्' इति मूलसूत्रं गीतासूपनिषत्सु सूत्रितम्। कौशलेन क्रियमाणं कर्म नहि लोकं पुण्यापुण्यैर्निबध्नाति। किं तत्कौशलम्? तदाह—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥ ३।९॥

यज्ञार्थमेव कर्म करणीयम्। यज्ञो हि विष्णुः परमात्मा। विश्वरूपाय परमात्मने आत्मदानपूर्वकं क्रियमाणेन नियतकर्मणा नहि बद्धो भवति पुण्यापुण्यैर्जनः। कर्मणां फलं तु भवत्येव, किन्तु तद्धि लोकसङ्ग्रहायैव प्रभवति। **'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा'** इति नीत्या अवशिष्टं च तत्फलं वस्तुतोऽकर्तुः कर्तुः पक्षे पतति। तं च यज्ञशिष्टाशनं प्रतिगृह्णन्नसौ सर्वकिल्बिषैः मुच्यते।

अयमेवार्थः **'ददाति प्रतिगृह्णाति नान्यथैषा प्रसीदति'** इति देवीमाहात्म्यकीलकस्तोत्रे सुनिपुणं प्रतिपादितः। एष एव उत्कीलनमन्त्रः। दानप्रतिग्रहरूपया यज्ञात्मिकया कुञ्चिकया विविधसुखदुःखरागद्वेषमानामानसामग्रीसञ्चीयमानवेश्मनि संसारयन्त्रभवने प्रविश्य, तदाहिण्डनतद्भ्रमणतत्तदाचरन्नपि वस्तुतो नैव कुर्वन्न कारयन्, तत्र वर्तमानः निष्क्रामन् वा समग्रं कर्म प्रविलापयन् परं पुरुषमुपैत्येव युक्तो जनः।

माध्यन्दिनसंहितायामपि अर्थोऽयमुपस्थापितः। यथा—

१. महाभारतम्, शान्तिपर्व।

२. एतानुत्पाद्य पुत्रांस्तु प्रजासन्तानकारणात्।
कश्यपः पुत्रकामस्तु चचार सुमहत्तपः॥
तस्यैवं तपतोऽत्यर्थं प्रादुर्भूतौ सुताविमौ।
वत्सरश्चासितश्चैव तावुभौ ब्रह्मवादिनौ॥
असितस्यैकपर्णायां ब्रह्मिष्ठः समपद्यत।
नाम्ना वै देवलः पुत्रो योगाचार्यो महातपाः॥ (कूर्मपुराण अ· १९।१,२,५)

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

कस्यस्विद्धनमित्यासक्तेर्निरासः मा गृधः इति कामसङ्कल्पवर्जनम्। विश्वा-त्मनि परमेश्वरे सर्वस्वार्पणपूर्वकं उपभोग इति—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः इत्येतेन विवृतम्। त्रिषु लोकेषु यत्किञ्चिज्जडं जङ्गमं वा सर्वं परमेश्वर एवेति ज्ञात्वा शतं वर्षाणि यावत् कर्माणि कुर्यादेव। एवं विधानेन पुण्यापुण्यैर्न बद्धो भवति नरः। कर्मशब्देनेह पुण्यापुण्ययोर्ग्रहणम् तदभावो मोक्षः। तदुक्तं गीतासु—

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥

समारभ्यन्त इति समारम्भाः व्यापाराः। काम्यत इति कामः फलम्। तत्सङ्कल्परहिताः ब्रह्मज्ञानाग्निदग्धकर्माणः। अनित्येभ्यः फलेभ्यः व्यावृत्तचेता नित्येन परमात्मना तृप्तः, फलसाधनभूत आश्रयो यस्य न विद्यते। स कुर्वन्नपि न करोति फलानुषङ्गाभावात्।

अयमभिसन्धिः—लौकिकानां वैदिकानां च कर्मणां नाहं कर्ता गुणा गुणेषु केवलं वर्तन्ते। ईश्वरायैव राज्ञ इव भृत्यः कर्माणि करोमीति। अध्यात्मचेतसा—ब्रह्मैवेदं सर्वमिति धिया ब्रह्मार्पणन्यायेन वा परमेश्वरे ब्रह्मणि सर्वकर्मणां सम्यगर्पणं विधाय निराशीः फलप्रार्थनारहितः निर्ममश्च भूत्वा विगत-सन्तापः सन् कर्माणि कुर्यात्। सर्वासु क्रियासु कारकेषु च ब्रह्माभिगतं पश्यन् स्वयं ब्रह्मास्मीति भावितात्मा, ब्रह्मात्मकं ब्रह्मणे ब्रह्मणि च कर्म ब्रह्मकर्म तदेव समाधि-र्योगस्तेन ब्रह्मैव गम्यते—इत्ययं सनातनो योगः समुपदिष्टः। तदाह—

मयि सर्वाणि कर्माणि सन्न्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥
ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
योगसन्न्यस्तकर्माणं ज्ञानसञ्छिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय॥
तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत॥

३. सनातनस्याव्यययोगस्य पक्षद्वयम्

उभाभ्यामेव पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्॥

इति धर्मसंहितायां हारीतः। अस्मिन् योगे ज्ञानांशः कर्मांशश्चेति पक्षद्वयम्। ज्ञानांशः साङ्ख्ययोगाख्यया कर्मांशश्च कर्मयोगसंज्ञया प्रसिद्धिं गतः। भक्तिः, श्रद्धा, आदरो वा उभयत्र संयुज्यते, विशेषतः कर्मयोगे। परमेश्वराराधनाय कर्मणः भक्ति विनानुपपत्तेः। एतेन भक्तिसम्प्रदायः परवर्तीतिवादिनः ज्ञानलवलाम्पट्यलुलित-बुद्धयः प्रत्युक्ताः।

यद्यपि एतस्मिन् योगे भागकल्पना नोचिता तथापि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

इति नीत्या ये आत्मस्मृतिं लब्ध्वा संसारं सर्वथा विस्मरन्ते ते निवृत्तिमार्गिणो साङ्ख्ययोगिनः। ये च तादृशीमेवात्मस्मृतिं समधिगम्यार्जुनवत्फलासङ्गरहितं लोक-सङ्ग्रहार्थं कर्म कुर्वन्ति ते कर्मयोगिनः प्रवृत्तिपन्थानमध्यासिताः। द्वावपि पन्थानौ मोक्षमधिगमयत इति ध्येयम्। तथा हि महाभारते—

द्वाविमावथ पन्थानौ यस्मिन्वेदाः प्रतिष्ठिताः।
प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तिश्च विभाषिता॥ (शान्तिपर्व २४१।६)

अयमर्थः विष्णुपुराणे केशिध्वजखाण्डिक्यसंवादे इत्थं प्रपञ्चितः—

बोधाधिकारयुक्तेषु हिरण्यगर्भादिषु ब्रह्मकर्मात्मिका उभयरूपा भावना विद्यते। सनन्दनादयो केवलं ब्रह्मभावनया युक्ताः। देवाद्याः, स्थावरा जङ्गमाश्च कर्मभावना-समन्विताः सन्ति। इत्थं त्रिविधा भावना। तथा हि—

त्रिविधा भावना भूप विश्वमेतन्निबोधताम्।
ब्रह्माख्या कर्मसंज्ञा च तथा चैवोभयात्मिका॥
कर्मभावात्मिका ह्येका ब्रह्मभावात्मिका परा।
उभयात्मिका तथैवान्या त्रिविधा भावभावना॥
सनन्दनादयो ये तु ब्रह्मभावनया युताः।
कर्मभावनया चान्ये देवाद्याः स्थावराश्चराः॥

हिरण्यगर्भादिषु च ब्रह्मकर्मात्मिका द्विधा।
बोधाधिकारयुक्तेषु विद्यते भावभावना ॥ ४८–५१ ॥

(अंशः ६, अ० ७)

अत्र ब्रह्मकर्मात्मिका या भावना सैव पूर्वोक्तः सनातनो योगः हिरण्यगर्भेण लोकानां हितकाम्यया प्रवर्तितः। कर्मभावना च सामान्यकर्मपरा, नेयं हि कर्मयोगः, स्थावरेषु अन्तःसंज्ञेषु असंज्ञभेदभिन्नेषु, चरेषु च स्वभावतोऽबुद्धिपूर्वकं कर्मयोगानुपपत्तेः। किञ्च—

केशिध्वजो विमुक्त्यर्थं स्वकर्मक्षपणोन्मुखः।
बुभुजे विषयान् कर्म चक्रे चानभिसंहितम् ॥ १०५ ॥

'अनभिसंहितं कर्म चक्रे' अमुना ग्रन्थेन कर्मयोगः समुपदर्शितः। वस्तुतस्तु कर्मयोगः ब्रह्मयोगश्च पूर्वोक्तनीत्या एकस्यैव योगस्य पक्षद्वयं, न तु योगद्वयमिति ध्येयम्।

४. साधनभूता अन्ये योगाः

अयं सनातनोऽव्ययो योगो न सुलभः। यतो हि—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूः तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन् ॥

(कठोपनिषद्)

सर्वो हि जनः स्वभावतः बहिर्मुखः जगति जायते। तेषां विरल एव कश्चन योगी, अमृतत्वकामनया अन्तर्मुखः सन् प्रत्यगात्मानं पश्यति। अतोऽस्य योगस्योपलब्धये साधनभूता अन्ये योगाः क्रमेण प्राचलन्। तेषु महामतिपतञ्जलिनाऽनुशासिते दर्शने, अष्टाङ्गयोगः, तपोयोगः, स्वाध्याययोगः, ईश्वरप्रणिधानयोगश्च सूपदिष्टः। तपसा हठयोगस्य, स्वाध्यायेन मन्त्रयोगस्य, ईश्वरप्रणिधानेन भक्तियोगस्य चाभ्युपगमस्तत्र जातः। यथा गीतासूपनिषत्सु **'तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्'** इत्यनेन वियोग एव योगत्वेनोपदिष्टः। तथेहापि—

पतञ्जलिमुनेरुक्तिः काप्यपूर्वा जयत्यसौ।
पुम्प्रकृत्योर्वियोगोऽपि योग इत्युदितो यया ॥ इति।

भोजराजवचसा वियोग एव योग उक्तः। अत एव च योगः समाधिरिति भाष्यम्; योगो युक्तिः समाधानम्—युज् समाधाविति भोजवृत्तिः, 'युज् समाधौ इत्यस्माद् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो, न तु 'युजिर योगे' इत्यस्मात् संयोगार्थं इति तत्त्ववैशारदी च सङ्गच्छते।

वियोगस्येदमेवाकूतम्—स्वरूपेऽवस्थानं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरित्येव योगफलम्। स्वरूपावरकाणि यानि विकारजातानि अविद्यादीनि, तेषाञ्चाधारभूतं यच्चित्तं व्यष्टिप्रकृतिर्वा तस्याः विप्रलये आत्मकल्पावस्थाने वा शुद्धः चिन्मात्रः केवल आत्मा समुदेति। आत्मकल्पावस्थानं च चित्तसत्त्वस्य शुद्धावेव जायते। अत उक्तम्—**'सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्'** इति। शुद्धौ सति साम्यमैक्यमित्याशयः।

५. अस्पर्शयोगः

गौडपादाचार्यैः यश्च—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ (गौ० का० ३।३९)

इति कारिकया सूचितः सोऽपि वियोगरूप एव। अस्य चास्पर्शयोगस्य स्वरूपमित्थमुपन्यस्तं तत्र—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥

सम्पूर्णशब्दस्मृतिविगमे, सर्वविचारातीते 'स्पर्शान् कृत्वा बहिर्बाह्यान्' इति नीत्या सर्वविषयवियोगे सति मनसोऽमनीभावे प्रशान्तकल्लोलोदधिप्रख्यः निखिलाज्ञानतमोध्वंसिप्रभाभास्वरः सुषुम्नायां समीकृते प्राणापानवाहे हाटकस्तम्भ इव निमेषोन्मेषवर्जितः निर्वातनिष्कम्पदीपशिखाकारः निखिलहेयप्रत्यनीकः, अत एव अभयः येन योगी भवति, सोऽयं समाधिरस्पर्शयोग इति। अयं च नासम्प्रज्ञाताख्यसमाधेरन्यः।

६. शब्दपूर्वयोगः

अस्मिन् लोके द्वौ शब्दात्मानौ। एकः नित्यः अन्यश्च कार्यरूपोऽनित्यः। यः शब्दः श्रूयते उच्चार्यते वा स लोकव्यवहाराय प्रवृत्तः वैखरीरूपः कार्योऽनित्यः। परावागात्मनः शब्दब्रह्मणः बिम्बस्य वर्णपदवाक्यमयोऽयं कार्यरूपः प्रतिबिम्बवद्भासते। नित्यस्तु परावागात्मा परपश्यन्तीरूपो वा सर्वस्य साध्यसाधनरूपस्य पदपदार्थभेदव्यवहारस्य च योनिरुपादानकारणम्। संहृतककारखकारादिक्रमः, सर्वस्य चराचरस्यात्मरूपतयाऽन्तःसन्निविष्टः, सर्वेषां जन्मादिविकाराणां प्रभवः, कर्मणामाश्रयः, सुखदुःखयोरधिष्ठानं, सर्वत्रापि अप्रतिहतकार्यशक्तिरपि घटादिनिरुद्धप्रकाश इव भोगायतनशरीरमात्रप्रकाशकः सर्वमूर्तीनां—वर्णानां, पदानां, वाक्यानां पदार्थानां चाक्षय्यप्रकृतिः, पर्जन्यवद् दवाग्निवच्च प्रसवोच्छेदशक्तियुक्तः सर्वेश्वरः सर्वशक्तिः महान् शब्दवृषभः शब्दानामुच्चारयितुर्जनस्य हृदि तिष्ठति। वाग्योगविदः तेनैव सायुज्यं कामयन्ते। तदाह—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम् ।
प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ १३० ॥

(वा० पदीयम् का० १)

अस्य शब्दब्रह्मापरपर्यायस्य परब्रह्मणः उपलब्धये शब्दपूर्वयोगः व्याकरणागमे प्रसिद्धः । शब्दपूर्वयोगमेव युञ्जानो योगी—यथा लिपिचिह्नानि अक्षरस्मृतेः निमित्तानि तथैव यस्मिन् प्रकाशे नित्यस्य शब्दस्य निमित्तभूता अभिव्यञ्जकाः वैखर्यादयः तिस्रः वाचः प्रतिबिम्बवत् पश्यति । तथा हि—

यत्र वाचो निमित्तानि चिह्नानीवाक्षरस्मृतेः ।
शब्दपूर्वेण योगेन भासन्ते प्रतिबिम्बवत् ॥ २० ॥

(वा० प०, १ काण्ड)

अयं योगः क्रमसंहारपदेनाप्युक्तः । तदाह—

"शब्दस्वरूपस्यात्मनाभेदतत्त्वज्ञः क्रमसंहारेण शब्दपूर्वं योगं लभते । साधुप्रयोगाच्चाभिव्यक्तधर्मविशेषः, अहमेव महान् शब्दात्मेति भावयन् प्रत्याहृतबाह्यकरणवृत्तिवैखरीशब्दः जनः वैकरण्यं लभते इत्येकः क्रमः । तदनन्तरं अनपभ्रंशामनृतादिभिरसङ्कीर्णां सूक्ष्मप्राणमात्रवृत्तिमध्यमाख्यां वाचमभिगम्य वाग्विकाराणां वैखर्यादीनां प्रकृतिं प्रतिभामनुपरैति अपरपश्यन्तीं बुद्धिस्थामिति द्वितीयः क्रमः । तस्माच्च सत्तानुगुण्यमात्रात्—सत्तासामानाधिकरण्यमात्रात् प्रतिभाख्यात् शब्दपूर्वयोगभावनाभ्यासाक्षेपात् प्रत्यस्तमितसर्वविकारोल्लेखमात्रां परपश्यन्तीं लोकव्यवहारातीतां परां प्रकृतिं प्रतिपद्यते ।" अन्यच्चाह भगवान् भर्तृहरिः स्वोपज्ञे—**'व्यवस्थितसाधुभावेन हि रूपेण संस्क्रियमाणे शब्दतत्त्वे, अपभ्रंशोपघातापगमादाविर्भूते धर्मविशेषे नियतोऽभ्युदयः । तदभ्यासाच्च शब्दपूर्वकं योगमधिगम्य प्रतिभां तत्त्वप्रभवां भावविकारप्रकृतिं सत्तां साध्यसाधनशक्तियुक्तां सम्यगवबुध्य नियता क्षेमप्राप्तिरिति ।**

७. राजयोगः

'राजविद्या राजगुह्यमिति' गीतासूपनिषत्सु योगस्यास्य सूचना लभ्यते । वस्तुतोऽष्टाङ्गयोग एव राजयोग इति तत्र तत्र निर्देशः । यमादीनि चत्वारि हठयोगस्याङ्गानि तथा प्रत्याहारतो समाध्यन्तानि चत्वारि राजयोगस्येति हठयोगो राजयोगस्य साधनम् । अत आह—

केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते । (हठयोगप्रदीपिका)

राजयोगस्य षोडशाङ्गानि भवन्ति । तथा हि—

कलाषोडशकोपेतराजयोगस्य षोडश ।
सप्त चाङ्गानि विद्यन्ते सप्तज्ञानानुसारतः ॥
विचारमुख्यं तज्ज्ञेयं साधनं बहु तस्य च ।
धारणाङ्गे द्विधा ज्ञेये ब्रह्मप्रकृतिभेदतः ॥
ध्यानस्य त्रीणि चाङ्गानि विदुः पूर्वे महर्षयः ।
ब्रह्मध्यानं विराड्ध्यानं चेशध्यानं यथाक्रमम् ॥
ब्रह्मध्याने समाप्यन्ते ध्यानान्यन्यानि निश्चितम् ।
चत्वार्यङ्गानि जायन्ते समाधेरिति योगिनः ॥
सविचारं द्विधाभूतं निर्विचारं तथा पुनः ।
इत्थं ससाधनं राजयोगस्याङ्गानि षोडश ॥ (राजयागसंहिता)

८. हठयोगः

तपसा हठयोगस्य सूचना पातञ्जले दर्शने प्राप्नोति । किञ्च **'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'** (योगसू० पा० २ सू० ५२) इति सूत्रभाष्ये—**'तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य'** इति पञ्चशिखाचार्यप्रमाणात् प्राणायामः परमं तप इति ज्ञायते । हठयोगे प्राणायाम आधारभूतस्तथा हि—

हठिनामधिकस्त्वेकः प्राणायामपरिश्रमः ।
प्राणायामे मनःस्थैर्यं स तु कस्य न सम्मतः ॥

किञ्च—

हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोः योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥

सूर्येण पिङ्गला नाडी प्राणवायुश्च सूचितः; चन्द्रेण इडाऽपानवायुश्च तयोर्योग एव हठयोगः । अयं हठयोगः पूर्वं मार्कण्डेयेनानन्तरं मत्स्येन्द्रनाथगोरक्षादिभिः स्वीकृत आसीत् । यथा—

द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधकैः ।
अन्यो मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥

हठयोगस्य सप्ताङ्गानि प्रसिद्धानि । तथा हि—

षट्कर्मासनमुद्राः प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः ।
ध्यानसमाधी सप्ताङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य ॥

स्थूलशरीरस्य शोधनार्थं दृढतायै च हठयोगे धौतिबस्तिनेत्यादीनि षट्कर्माणि, पद्मसिद्धादीन्यासनानि, खेचर्यादयो मुद्राः प्राणायामश्च विशेषत उपदिश्यते । **अयं** हठयोगः राजयोगस्य सोपानभूत इति प्राक् प्रतिपादितम् ।

९. लययोगः

अयं योगः नादयोगशब्देनाप्युच्यते । दक्षिणे कर्णेऽनाहतं नादं शृणोति साधकः। अभ्यासे कृते सति क्रमशः घण्टादीनां दशविधो नादः श्रूयते। चरमे ओङ्कारनादः, तत्रैव मनसो लयः कार्यः तदानीमेव स्वरूपस्थितिः ।

सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ॥
(नादबिन्दूपनिषद्)

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ।
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥
(हठयोगप्रदीपिका ४।२९)

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ।
पश्चाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥
कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥
(ह० प्र० ४।८३।५९)

केचन एनमेव योगमित्थमनुसन्दधते—देहे मेरुदण्डस्याधस्तादेकः कन्दोऽस्ति मूलाधारनाम्ना प्रसिद्धः। द्वाविंशतिसहस्राणि नाड्यस्ततो निष्क्रम्य निखिले शरीरे व्याप्नुवन्ति । तासु तिस्रः नाड्य इडापिङ्गलासुषुम्नाख्याः मुख्याः । मेरुदण्डस्य वामभागे चन्द्ररूपिण्या इडायाः, दक्षिणभागे च सूर्यरूपिण्याः पिङ्गलायाः, मध्ये च सुषुम्नायाः पन्था अस्ति । भ्रूमध्ये सङ्गता भूत्वा एताः शिरसि ब्रह्मरन्ध्रं यावत्प्रयान्ति। मूलाधारतो ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं नाडीग्रन्थिरूपाणि षट्चक्राणि सन्ति । मूलाधारे महाशक्तिः कुलकुण्डलिनी शेते । ध्यानेन जपेन च तां सम्बोध्य पार्यन्तिके सहस्रारचक्रे समासीने परमेश्वरे तस्याः लयः कार्य इत्ययं लययोगः कुण्डलिनीयोगो वेति ज्ञेयः ।

लयक्रियासाधनेन सुप्ता सा कुलकुण्डली ।
प्रबुद्धय तस्मिन्पुरुषे लीयते नात्र संशयः ॥
शिवत्वमाप्नोति तदा साहाय्यादस्य साधकः ।

१०. मन्त्रयोगः भक्तियोगश्च

क्रियायोगसूत्रभाष्ये 'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा' इत्युक्तम् । प्रणवपूर्वाणां मन्त्राणां जप इति भोजराजाः। प्रणवादयः पुरुषसूक्तरुद्रमण्डलब्राह्मणादयो वैदिकाः, पौराणिकाश्च ब्रह्मपारायणादय इति वाचस्पतिमिश्रा आहुः । किञ्च—

मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादिगुणान्वितम् ॥
(योगतत्त्वोपनिषद्)

अन्यच्च—

नामरूपात्मिका सृष्टिर्यस्मात्तदवलम्बनात् ।
बन्धनान्मुच्यमानोऽयं मुक्तिमाप्नोति साधकः ॥
तामेव भूमिमालम्ब्य स्खलनं यत्र जायते ।
उत्तिष्ठति जनः सर्वोऽध्यक्षेणैतत्समीक्ष्यते ॥
भवन्ति मन्त्रयोगस्य षोडशाङ्गानि निश्चितम् ।
यथा सुधांशोर्जायन्ते कलाः षोडश शोभनाः ॥
भक्तिः शुद्धिश्चासनं च पञ्चाङ्गस्यापि सेवनम् ।
आचारधारणे दिव्यदेशसेवनमित्यपि ॥
प्राणक्रिया तथा मुद्रा तर्पणं हवनं बलिः ।
यागो जपस्तथा ध्यानं समाधिश्चेति षोडश ॥
(मन्त्रयोगसंहिता)

भक्तियोगः पातञ्जले ईश्वरप्रणिधानपदेनोक्तः । 'ईश्वरप्रणिधानं च सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसन्न्यासो वा' इति भाष्यम् । परमगुरुर्भगवानीश्वरस्तस्मिन्, यत्रेदमुक्तम्—

कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।
तत्सर्वं त्वयि सन्न्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥

तत्फलसन्न्यासो वा । फलानभिसन्धानेन कार्यंकरणम् इति वाचस्पतिमिश्राः । एतेन शरणागतियोगः प्रपत्तियोगो वा लक्षितः । शरणागतिः प्रपत्तिर्वा नानुरक्तिमन्तरा सम्भाव्यते। अत एव परानुरक्तिरेवेश्वरे भक्तिरिति शाण्डिल्यः, परमं प्रेम वेति नारदः । एवं भक्तियोगः भावयोगो वान्यत्र विततः ।

११. शिवयोगः पाशुपतयोगश्च

वीरशैवानां सम्प्रदाये शिवयोगः प्रसिद्धः । वस्तुतः राजयोग एव शिवयोगः । यतः—

न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः ।
शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धेः प्रवृद्धये ॥

स च पञ्चधा । यथा—

ज्ञानं शिवमयं भक्तिः शैवी ध्यानं शिवात्मकम् ।
शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ॥

वीरशैवानां यानि भक्तमहेशप्रसादिप्राणलिङ्गिशरणैक्यनामभिः प्रसिद्धानि षट्स्थलानि तानि यमनियमादिषु अष्टाङ्गेषु अन्तर्भवन्ति ।

पाशुपतयोगस्य वायुपुराणे वर्णनमुपलभ्यते । तस्यापि आसनप्राणरोधप्रतिहार-धारणाध्यानादयोऽष्टावङ्गानि सन्ति । तमिलभाषायां व्याकरणविषये लिखितः प्राचीनतमः **'तोलकाप्पियम्'** नाम ग्रन्थोऽस्ति । ईसातः पूर्वं चतुर्थे पञ्चमे वा शतकेऽयं लिखितः । अष्टानां योगाङ्गानां तत्रोल्लेखो विद्यते । सिन्धुप्रदेशे प्राप्तध्वंसावशेषाणा-मध्येतारः प्रतिजानते यद् भारते वर्षे ईसातः पूर्वं त्रिसहस्रतमेऽब्दे ततोऽपि पूर्वं वायं पाशुपतो योगः प्रचलित आसीत् ।

१२. बौद्धयोगः

बुद्धदेवेन राजयोगापरनामधेयं ध्यानयोगमाश्रित्य ज्ञानमुपलब्धमिति नात्र विवादावसरः । 'परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' इति योगसूत्ररीत्या तेनापि योगिना दुःखरूपं जगदितिनिर्णीतम् । सामशाखाप्रवक्ता कश्चन प्राचीनतमोऽयं योगसूत्रकर्ता पतञ्जलिरिति बहवोऽभिप्रयन्ति । अतः बुद्धदेवादयं पूर्ववर्ती । मा वा अस्तु, तथापि साङ्ख्ययोगाचार्या एवैतस्य गुरव आसन् इत्यत्र नास्ति शङ्कालेशः ।

समस्तदुष्प्रवृत्तीनां दुष्कर्मणां च मूलमात्मवादमेवाकलय्य गौतमबुद्धः तथाविधां शाश्वतीं सत्तामनभ्युपजगाम । वंशाभावे कुतो वंशोरव इत्याभाणकमेवोन्नीतमत्र । एवं सत्यपि महायानप्रभावात् हठयोगस्य राजयोगस्य च परम्परा बौद्धसमाजेऽपि प्रच्छन्नरूपेण प्रचचाल । अत्र चित्तमात्मपदे शून्यता च परमात्मपदे प्रतिष्ठिताऽभूत् । चित्तमेव भवस्य निर्वाणस्य मूलम् । आह चानङ्गवज्रः—

अनल्पसङ्कल्पतमोऽभिभूतं प्रभञ्जनोन्मत्ततडिच्चलं च ।
रागादिदुर्वारमलावलिप्तं चित्तं हि संसारमुवाच वज्री ॥
प्रभास्वरं कल्पनया विमुक्तं प्रहीणरागादिमलप्रलेपम् ।
ग्राह्यं न च ग्राहकमग्रसत्त्वं तदेव निर्वाणवरं जगाद ॥

बौद्धयोगस्य ज्ञानाय गुह्यसमाजाख्यो ग्रन्थः द्रष्टव्यः । अस्मिन् ग्रन्थे उपायस्य सेवा, उपसाधनं, साधनं, महासाधनं चेति चत्वारो भेदा निरूपिताः । सेवा च द्विविधा सामान्यसेवा, उत्तमसेवा च । वज्रचतुष्टयमिति सामान्यसेवाया अपरः पर्याय । उत्तमसेवा च ज्ञानसुधाख्या । देवताविशेषस्य साक्षात्काराय विहिता चतुर्विधा प्राक्रियैव वज्रचतुष्टयम् । तच्च (१) शून्यताप्रत्ययः, (२) शून्यताया बीजमन्त्रस्वरूपः परिणामः, (३) बीजमन्त्रस्य देवताकृतिस्वीकारः, (४) देवतायाश्च सुषमायुक्तायाः तजोमय्याः

मूर्तेः परिग्रहः । षडङ्गयोगसाधनमेवोत्तमसेवा । तानि च योगाङ्गानि—प्रत्याहार-ध्यानप्राणायामधारणानुस्मृतिसमाध्याख्यानि । गुह्यसमाजतन्त्रमतिरिच्य साधनमाला-श्रीचक्रसंवर-सद्धर्मपुण्डरीक-सुखावतीव्यूहसूत्रादयो ग्रन्था एतदर्थं परिशीलनीयाः । किञ्च बुद्धघोषरचितौ 'शमथयानम्' विसुद्धिमग्गो इत्याख्यौ ग्रन्थौ च द्रष्टव्यौ ।

१३. जैनयोगः

जैनाचार्यैः योजनार्थकाद् युज्-धातोः योगनिष्पत्तिः स्वीकृता । यथा—

मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते ।
(द्वात्रिंशिका—यशोविजय)

मुक्खेण जोयणाओ जोगो । (योगविंशका)

जैनागमेषु विशेषतः ध्यानमेव योग इत्युल्लिखितम् । ध्यानं तच्चतुर्विधम्—आर्तं, रौद्रं, धर्मं, शुक्लं च । आद्ये योगानुपयुक्ते, चरमे योगायोपयुज्यतः । तत्र शुक्लध्यानं परिशुद्धमव्यवहितं मोक्षसाधनम् । एतदर्थं त्रिविधो मोक्षमार्गोऽवलम्बनीयः ।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । —(उमास्वाति—तत्त्वार्थसूत्रम्)

तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् । अन्यत्सुगमम् । अष्टाङ्गयोगोऽपीह केनापि रूपेण स्वीकृत इति शिवम् ।

द्वैताद्वैतानुसन्धानमादधानैः सुयोगिभिः ।
संयोगो विप्रयोगश्च द्विधा योगो हि कीर्तितः ॥

• • •

बौद्धवैष्णवयोर्भक्तिसाम्यम्

प्रो० जगन्नाथ उपाध्यायः

शाङ्करवेदान्त-बौद्धविज्ञानवादिनोः परस्परं साम्यवैषम्यमधिकृत्य वैष्णवाचार्य्यैः शाङ्करवेदान्तादिषु विज्ञानवादित्वसमारोपो बहुधा विहितः, अर्वाचीनतमैः भारतीयैः पाश्चात्यैश्च विद्वद्भिः एतन्मतं प्रगाढम् आलोचितं समर्थितं च। किन्तु बौद्धवैष्णव-योर्मिथ उपजीव्योपजीवकत्वविचारे प्राचीनैरर्वाचीनैश्च विद्वभिरङ्गीकृतः प्रायशस्तूष्णी-म्भावः एतद्विषये मीमांसौत्सुक्यं वर्धयति। कृतायां तु उभयविधशास्त्रचिन्तायां नितरां द्वयोः साम्यसूत्रं सुप्रबुद्धं लभ्यते। तत्रैतन्मीमांस्यं भवति यद् द्वयोः साम्यमापातिकं स्वाभाविकं वा? ईश्वरानीश्वरवादिनोः आत्मानात्मवादिनोः परस्परमनुगतं साम्यं नावगाहते स्वभावैक्यमिति प्रायो बुद्धया प्रतीयते, किन्तु तन्न कथञ्चित् सावकाशम्। यथा नित्यब्रह्म-क्षणिकविज्ञानवादिनोरात्मानात्मवादिनोः सतोरपि पृथक् प्रस्थानयोः अन्तःपरीक्षया पर्यवसितमैक्यम् अभियुक्तैरङ्गीक्रियते, तथात्रापि सुपरीक्षितधीभिः सम्यगधिगतं साम्यं तयोरन्तर्गृहीतं सहजमैक्यं सम्भावयत्येव।

कस्यचिदपि साधनासम्प्रदायस्य हार्दमभिमतं तस्योद्गमस्य प्रयोजनेन, चर्यया, दर्शनेन च विशकलितं भवति। बौद्धेषु केवलं महायानिकानां सात्वतपाञ्च-रात्रागमिकेषु केवलं विष्णुपराणां विशेषतो रामानुजीयानां मतं विशेषेण साम्प्रदायिकं चर्यादिजातं विविच्य द्वयोरन्तर्हिता भक्तिः विचारणीयतामर्हति। एतद्विमर्शनप्रस्तावे समाधानापेक्षा अधस्तनप्रश्ना भवन्ति। तथाहि—

भक्तिः कदा प्रावर्तत?

तस्या जन्मस्थानं किम्?

कानि च तस्या लिङ्गानि?

कीदृशी भक्तानां चर्या?

किञ्च तदाश्रयभूतं तत्त्वज्ञानमिति?

एतेष्वेकतमस्यापि प्रश्नस्य समाधानम् अन्यसमाधानसापेक्षमिति मत्वातिसंक्षेपेण विहितोऽध्ययननिष्कर्षः प्रस्तूयते।

(२)

बौद्धवैष्णवेषु भक्त्युद्भवकालविषये ख्रीष्टपूर्वतृतीयचतुर्थशताब्दीके पालिनिर्द्देसग्रन्थे तदानीन्तनमिथ्यादृष्टिपतितानां साधनासम्प्रदायानामन्तर्वासुदेवोपासनाया उल्लेखात्,

पाणिनिपतञ्जलिभ्यां पूजार्हत्वेन स्मरणात्, घोसुण्डोवेसनगरादिषु प्राप्तवासुदेवाङ्किता-भिलेखादिप्रमाणेभ्यो भाण्डारकरप्रमुखैरितिहासविद्भिः प्राचीनवैष्णवानामुद्गमः विकासश्च ईशवीयपूर्वतृतीयशताब्दीतः प्रथमं यावत् स्वीक्रियते। पश्चात्काले वैखानस-पाञ्चरात्रानुयायिभ्यां प्राचीनाभ्यां द्विधा क्रियमाणो विभागो दृश्यते। तत्र पाञ्चरात्रानुगत्वम् आचार्यरामानुजस्य प्रसिद्धमेव। नातिचित्रं यत् स एव कालो बौद्धेषु महायाननिकायोद्गमस्यापि। सुविदितमेव यत् भगवतो बुद्धस्य परि-निर्वाणतः प्रायः शतवर्षानन्तरं द्वितीयबौद्धसंगायने वैशाल्यां प्राचीनस्थविरेभ्यः पृथग् भूत्वा नवीना बौद्धा बुद्धस्य लोकोत्तरगुणवत्त्वं ख्यापितवन्तः, अथ च रूपकाय-धर्म-कायाभ्यां बुद्धत्वं द्विधा विभज्य तदनुरोधेन चर्याभेदं स्थापितवन्तः। अस्मिन् क्रमे नैके निकायाः प्रादुर्भूतास्तेषां सर्वेषां पर्यवसानं 'महासांघिक'-नाम्ना जातम्। अस्यैव महासांघिकनिकायस्य प्रकृष्टं स्वरूपं महायाने फलितम्। महासांघिकानां भक्त्यु-न्मुखत्वं बुद्धस्य लोकोत्तरवादित्वेन स्पष्टीभवति। महासांघिकप्रमुखानामेवंविध-निकायानां संग्रहः अशोककालिके 'कथावत्थु'-ग्रन्थे सम्यगुपलभ्यते। इत्थमिदं व्याकृतं भवति यद् ईशवीतः पूर्वं तृतीय-चतुर्थशताब्दयोः बौद्धेष्वपि लोकोत्तरवादित्वव्याजेन भक्तेरन्यतमा काचिद् दिक् संप्रकाशं गता। महायानधर्मस्य प्रमाणभूतः सर्वप्रथम-ग्रन्थः ईशवीयपूर्वद्वितीयशतके समुद्भूतः अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासंज्ञकः, तत्र बोधिसत्त्वचर्यायाः सविस्तरं विस्पष्टं चोल्लेखो दृश्यते। बोधिसत्त्वसाधना कथं भक्तिप्रवणा जातेति पश्चान्निवेदयिष्यते। इत्थं भक्त्युन्मेषस्य बोद्धवैष्णवयोः प्रायः समान एव कालः प्रतीयते।

(३)

बौद्धवैष्णवभक्त्योः समानमेव जन्मस्थानम्

न केवलं भक्त्युद्गमकाल एव बौद्धवैष्णवयोः समानः, अपि तु तस्याः जन्म-देशोऽपि तथैव समानः। सुविदितमेव यद् भागवते (११-५ ३८-४०) कलौ नारायण-परायणत्वं द्रविडेषु ताम्रपर्णी-कृतमाल-कावेरी-पयस्विनो-महानदी-मण्डितेषु भविष्य-तीत्युक्तम्। एतद् भागवतोक्तम् अनेकैरितिवृत्तप्रमाणैः समर्थितं सद् विपरीतं युक्ति-जातम् अन्यथा करोति। विशेषेणास्मिन् निबन्धे विचारणीयतां प्राप्तं रामानुजाचार्य-वैष्णवमतम्, तत्तु प्रत्यक्षतो दाक्षिणात्येभ्य आचार्येभ्यः, आलवारमुनिभ्यश्च प्रसूतमेव। रामानुजाचार्याणां तमिलदेशीयटेंगलई-सम्प्रदायप्रभावितत्वं, पाञ्चरात्रानुगत्वं, नाथमुनि-यामुनमुनिप्रभृतिपूर्वाचार्याणां दाक्षिणात्यानामेवानुयायित्वं भक्तेः दक्षिणप्रभवत्वं स्पष्टयति। यद्यपि महायानोद्गमात् पूर्वतनस्य तत्पूर्वरूपस्य महासांघिकसम्प्रदायस्य मगधोदिच्यप्रदेशेषु समुद्भवः स्वीकृतस्तथापि महायानस्योद्गमो विकासश्च

आन्ध्रादिदक्षिणदेशेष्वेव जातः। महासांघिकेषु अन्धकाः चैत्यवादिनः, पूर्वापरशैलीयाश्च सर्वे सम्प्रदाया आन्ध्रप्रदेशीया एव। महायानस्य प्रवर्त्तकाचार्या अपि विशेषेण दाक्षिणात्या एवेति सर्वथा विदितम्। महायानस्य लोकोत्तरवादित्वं बोधिसत्त्वचर्यासु भक्तिप्रवणत्वं च बौद्धवैष्णवयोर्भक्तिसाम्यं सम्यगवबोधयति। यथा च भक्तिः दक्षिणदेशे प्रादुर्भवन्ती प्रसरन्ती च पश्चिमोत्तरभारतप्रदेशे समागता, तथैव महायानस्यापि गतिः। महायानोद्गमप्रसारयोरयं सर्वोऽपि वृत्तसन्दर्भः ईशवीयपूर्वद्वितीयतृतीयशतके समुज्जीवति अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिताशास्त्रे (११२ पृष्ठे)। "षट्पारमिताप्रतिसंयुक्ताः सूत्रान्ताः तथागतस्यात्ययेन दक्षिणापथे प्रचरिष्यन्ति, दक्षिणापथात् पुनरेव वर्तन्यां प्रचरिष्यन्ति, वर्तन्याः पुनरुत्तरपथे प्रचरिष्यन्तीति" समुपलब्धवाक्येन सप्रमाणः समञ्जसश्च भवति। एतत् प्राचीनतमवाक्यजातम् एकतो दक्षिणदेशे वैष्णवानामपि भक्तेरुद्गमार्हत्वमतं सम्पुष्णाति, अन्यतः मध्यभारते वैष्णवभक्तेर्व्यापकमहत्त्वस्वीकारपक्षं च समञ्जसं विदधाति।

यद्यपि समाने काले देशे च भक्तेरुत्पत्तिस्तथापि तयोः काकतालीयत्वं सम्भाव्येत, अतो विहङ्गदृष्ट्या अन्यान्यपि समत्वावाहकबहिरङ्गवृत्तानि विवेचनयोद्भावनीयानि। तथाहि अत्र द्वयोरवैदिकत्वम्, अहिंसकत्वम्, स्त्रीशूद्रादिसर्वजनसंग्राहकत्वम्, एकायनत्वमित्यालोचनीयतां भजन्ते। एतत् सकलमपि श्रोत्रियेभ्यो न रोचते, रोचतेतरां च बौद्धबौद्धेतरागमिकेभ्यः। अवैदिकत्वं पाञ्चरात्राणामनेकेषु पुराणेषु स्मृतिषु च प्रसिद्धम्। किंबहुना, ब्रह्मसूत्रकारैस्तद्भाष्ये च शङ्कराचार्यैस्तस्य विप्रतिषिद्धत्वं प्रतिपादितम्। प्राचीनैः पाञ्चरात्रैश्चापि वेदात् पाञ्चरात्रस्योत्कर्षोऽनेकधा प्रतिपादितः। परवर्त्तिभिस्तु यामुनमुनि-रामानुजाचार्यप्रभृतिभिः पाञ्चरात्रादीनां वेदोदितकर्मणामेव विशदीकरणात् स्वतःप्रामाण्यं प्रसाध्य तेषां च बौद्धादिवत् वेदविरोधत्वं नाङ्गीकृतम्। जानन्त्येव च वैष्णवेतिवृत्तविदः पूर्वतनानां पाञ्चरात्राणां वेदाननुकूलत्वं परवर्त्तिनाञ्च तदनुकूलत्वमिति। पाञ्चरात्रैश्च सपशुकश्रौतयागमस्वीकृत्य स्वविधौ पाञ्चरात्रसंज्ञका अनेके यागाः प्रतिष्ठापिताः। न केवलम् एवंविधानाम् अहिंसानिर्गतयागानामुल्लेखः पाञ्चरात्रसंहितास्वेव, महाभारतेऽपि 'बीजैः यज्ञेषु यष्टव्यम्' (म० भा० ना० उ० ३३७) इति दिशा नारायणपरा यज्ञाः श्रूयन्ते। गीतोक्तमिदं सुप्रसिद्धमेव यत् स्त्रीवैश्यशूद्रादिपापयोनीनां सद्गतये, तेषां शुद्धयै च भगवत्पराभक्तिरङ्गीकर्त्तव्या। श्रीमद्भागवते (२-४-१८) तु भक्त्या किरात-हूण-आन्ध्र-पुलिन्द-पुल्कस-खश-यवनादीनां शुद्धिः प्रतिपादिता। एतत् सर्वमभिप्रेत्यैव महाभारते (शा० प० ३३५, ३९) अस्य नारायणपरधर्मस्य व्यपदेशः "लोकधर्म"-नाम्ना कृतः। अत एव पाञ्चरात्रस्यैकायनत्वव्यपदेशोऽपि सङ्गतो भवति, "एष एकायनो वेदः"

(परमेश्वरसंहिता); "तस्मादेकायनं नाम प्रवदन्ति मनीषणः" (ईश्वरसंहिता) इत्यादिवाक्यशतैः।

अवैदिकत्वाहिंसकत्वसर्वजनसंग्राहकत्वविषये का विमतिः स्याद् बौद्धनैकायिकेषु बुद्धत आरभ्याद्यावधि एतदाधृत्यैव दर्शन-चर्यादिकं पुरस्कुर्वत्सु जनेषु। अतः प्राचीनवैष्णवबौद्धयोरेतद्विधसाम्यमपि सहजमेव मन्ये। द्वयोरेकायनवादित्वं तु उभयोर्विशिष्टप्रयोजनवशात् प्रसृतमिति कृत्वा विशेषेणावधेयम्। सुविदितमेव यत् वैदिकेषु ब्राह्मणग्रन्थैः श्रौतगृह्यादिकर्मधर्मसूत्रैश्च यज्ञादिषु ब्रह्मविद्यायां च शूद्रादीनामधिकारोऽपहस्तितः। स्मृत्यादिभिश्च विविधसेवाकर्मस्वेव तेषां विनियोगो विहितः। एतद्विरोधे वैखानस-सात्वत-आलवाड़-पाञ्चरात्रादिभिः एकं समानमेव शरणमाश्रयः अयनमस्तीति एकायतनत्वं सकलजीवानामिति मतं ख्यापितम्। उक्तं च तत्त्वशेखरे "सत्यवचनादिधर्मवत् सर्वाधिकारं परमात्मप्रपदनम्" इति (ब्र० सूत्र ३।२।५६)। बुद्धेन च इशवीयशताब्दीतः पञ्चशतवर्षपूर्वमेव ब्राह्मणसूत्रादिग्रन्थानामप्रामाण्यमादिशता बुद्धधर्मसंघेषु सर्वेषामेव सत्त्वानां प्रवेशः, निर्वाणे चाधिकार उद्घोषितो व्यवस्थापितश्च। परवर्तिबौद्धेषु यद्यपि वर्णभेदादधिकारभेदो नासीत्, किन्तु सत्त्वानामाशयभेदाद् गोत्रभेदः, गोत्रभेदाच्चाधिकारभेद आसीदेव। तेन यो ह्यनेकशो विभागो जातस्तस्य श्रावक-प्रत्येकबुद्ध-बोधिसत्त्वानां वर्गाणां प्रादुर्भावोऽजनि।

पश्चाद्भाविभिस्तु ईशवीतः द्वित्रिशतवर्षपूर्वं बोधिसत्त्वदिशा महायाननाम्ना एकायनम्, एकयानम्, ब्रह्मयानमित्यादिव्यपदेशैः सर्वेषामेक एवाश्रयो मार्गो वेति मतं स्थापितम्। उक्तम् अष्टसाहस्रिकायाम् (पृष्ठे-१२) **"यथाकाशोऽप्रमेयाणामसंख्येयानां सत्त्वानामवकाशः एवमेव भगवन्नस्मिन् याने"; "आकाशसमतया अतिमहत्तया तन्महायानमिति च"**; एवमेव सद्धर्मपुण्डरीकादिषु **"एकं बुद्धयानं त्रियाननिर्देशेन निर्दिशन्तीति"** वाक्यानि बहुशो विख्यातानि सन्ति।

आलवारेषु शठकोपस्य **"सर्वं जगत् समवलोक्य विभोः शरीरम्"**; परमेश्वरसंहितायां च **"एष एकायनो वेदः प्रख्यातः सात्वतो विधिः"**; महाभारते च **"एष एकान्तिनां धर्मो नारायणपरात्मकः"** इत्यादिवाक्यैः स्व-स्वभावधारासु प्रायः एकायनस्य समानमेव माहात्म्यं स्पष्टीभवति। यद्यपि अर्वाचीनतमैः यामुन-रामानुजाचार्यप्रभृतिभिः तस्मिन्नेवैकायतने वसद्भिरपि पाञ्चरात्राणां वैदिकत्वसाधनव्याजेन ब्रह्मसूत्रे अपशूद्राधिकरणो शूद्रादिबहिष्कारमूलो भेदो व्यवस्थापितः, तथापि प्राचीनतमवैष्णवमत समनुरुध्य रामानन्दाचार्यप्रभृतिभिः वर्णमूलकोऽधिकारिभेदः खण्डतः, बौद्धैस्तु महायानकैः **"गोत्रभेदो न युज्यते"** इत्यादिभिः सर्वं एव बुद्धबीजाः, बुद्धगोत्राः,

तथागता इति प्रतिपादितम्। अर्वाचीनकाले यथा तथा वा भवतु, प्राचीनवैष्णवेषु तत्समकालिकेषु पूर्वंतनेषु च बौद्धेषु तुल्यमेव एकायनवादः।

इदानीं प्राचीनतमयोः बौद्धवैष्णवयोश्चर्याविधौ साम्यमालम्ब्य विविच्यते। चर्यासु शरणागतिःपूर्वभूमिरिव भवति, सा हि द्वयोः समानैव दृश्यते। इदं तु सम्यगवधारणीयमेव यद् ईश्वरानीश्वरात्मानात्मवादिनोः पृथग्भूतप्रस्थानयोः शरण्यस्वरूपे विमतिः स्यादेव। सर्वथापि शरणागमनकृत्यं द्वयोः समम्। प्रपत्तिरूपं शरणागतिलक्षणं भरतमुनिप्रणीतं (स्तोत्ररत्नभाष्ये) **"अनन्यसाध्ये स्वाभीष्टे महाविश्वासपूर्वकम्। तदेकोपायता याच्ञा प्रपत्तिः शरणागतिः"** इत्यादिवाक्यैर्लभ्यते। तदनुरोधेन **'अनन्यशरणस्त्वत्पादारविन्दयुगलं शरणमहं प्रपद्ये'** इति शरणगमनं दृश्यते। इत्थं वैष्णवसाधनासु सर्वत्र पदे पदे शरणागतिराधारभूता दृश्यते।

भगवतो बुद्धस्य प्रथमायां देशनायामेव बुद्ध-धर्म-सङ्घानां शरणग्रहणं त्रिशरणनाम्ना प्रसिद्धम्। बुद्धेन च भगवता स्वमहापरिनिर्वाणकाले आनन्दं प्रति धर्म एव शास्तेति देशनया धर्मं एव शरणमिति भिक्षुभ्य आदिष्टम्।

'अञ्ञं मे सरणं नत्थि', 'बुद्धं मे सरणं वरं', 'धम्मं मे सरणं वरं' इत्यादिभिश्च प्राचीनतमैश्चापि बौद्धैरनन्यशरणता गृह्यते। षड्विधास्वनुस्मृतिष्वपि 'बुद्धानुस्मृतिः' इतिनाम्नी एकानुस्मृतिश्चापि प्राचीनतमबौद्धेषु दृश्यत एव। इत्थं भक्तिः अनन्यप्रज्ञावादिज्ञानयोगिबौद्धेषु लब्धा, तत्र का कथा भक्तिवादिषु महायानिकेषु। ते च न केवलं शरणागता भवन्ति, अपि तु कैङ्कर्यमपि सम्यग् आधगृह्णन्ति। उक्तं धर्मसङ्गीतिसूत्रे **'दासोपमेन बोधिसत्त्वेन भवितव्यं सर्वसत्त्वकिङ्करणीयप्रापणतया'** (शि० स० पृ० ७०) इति। वैष्णवास्तु मुक्तानामपि परमपुरुषार्थः कैङ्कर्यमिति तत्त्वशेखरादिषु (पृ० ५५) प्रतिपाद्य 'कैङ्कर्यमेव मोक्षः' इति·····, समामनन्ति। भक्तिः रागमूला रागप्रवणा च ख्याता। यद्यपि सुविदितमेव बौद्धाबौद्धप्रस्थानेषु रागप्रहाणं नाम, तथापि महायानिकैः बौद्धैः वैष्णवैश्च राग उपायत्वेन स्वीक्रियते। वैष्णवेषु रागानुगा भक्तिः प्रसिद्धा। बौद्धैस्तु निःस्वभावताभूमौ रागोपायेनापि निस्सरणं सत्त्वानामङ्गीक्रियते। उक्तं महायानसूत्रे (पृ० ८७) **'तस्माद् रागादयस्तेषां बुद्धैः निःस्सरणं गताः'** इति। इत्थं साङ्गा शरणागतिः द्वयोः समुपलभमाना दृश्यते।

शरण्यसमाराध्यविषयेऽपि अस्ति तयोः साम्यम्। अस्ति बौद्धेषु द्विविध आराध्यः, सत्त्वः, बोधिसत्त्वश्च; वैष्णवेष्वपि जीवो, भगवांश्च। वैष्णवेषु ईश्वर एव भगवत्त्वेनाराध्यो भवति, अनीश्वरादिषु तु तेनैव भगवत्त्वेनैव बुद्धानां बोधिसत्त्वानां चाराध्यत्वं सम्पद्यते। बौद्धेषु भगवत्त्वं क्लेशकर्मप्रहाणेन क्लेशज्ञेयावृत्तिप्रहाणेन च **'येन वैपक्षिका भग्नास्तेनेह भगवान् स्मृतः'** (अभि० स० पृ० ९) इत्यनुरोधेन जीव एव

विपक्षावरणानि परिहाय भगवान् भवति, वैष्णवेषु नित्यभूतोऽनन्तकल्याणगुणगणसम्पन्न ईश्वरः। किन्तु षण्णां भगत्वे बौद्धवैष्णवयोरुभयोः सम्मतम्। वैष्णवानां कर्मत्रयं भागवतादिषु (११, ३, ४०–४५) लभ्यते—(१) जीवेषु दया, (२) गोविन्दे पराभक्तिः, (३) तदीयभक्तसमाराधनम्। अत एव तत्रोत्तमभागवतलक्षणे सर्वभूतेषु भगवद्भावोऽव्यभिचारेण स्वीक्रियते। अस्मिन् विषये किमधिकं वक्तव्यं बौद्धमहायानमतं यत्र साधकेन तथागतानामाराधनाय लोके सर्वात्मना दास्यभाव आत्मसाक्षात्कर्त्तव्यो भवति। अत एव महायानिकैः साधारणसत्त्वा अपि बोधिसत्त्वैः समा एवेति स्वीकृतम्। उक्तं च आचार्यशान्तिदेवेन (बौ० अ० ६।११३)

सत्त्वेभ्यश्च जिनेभ्यश्च बुद्धधर्मागमे समे।
जिनेषु गौरवं यद्वत् न सत्त्वेष्विति कः क्रमः॥

बौद्धाचार्यसदृशा एव प्रायः आलवाराचार्याः शठकोपमुनयोऽपि वदन्ति—

सर्वं जगत् समवलोक्य विभोः शरीरं तदवाचिनश्च सकलानपि शब्दराशीन्।
तं भूतभौतिकमुखान् कथयन् पदार्थान् दास्यं चकार वचसैव मुनिश्चतुर्थे॥

(५)

बौद्धमहायानिकानां वैष्णवानां च चर्याविषये बहुवक्तव्यत्वेऽप्यत्र दिङ्मात्रं प्रस्तूयते। द्वयोः शब्दमाहात्म्य-मन्त्र-जप-सङ्कीर्तन-सङ्गीत-प्रणाम-प्रदक्षिणा-मन्दिर-स्तूपादिनिर्माणप्रभृतिषु दर्शन-याञ्चा-प्रार्थना-स्तुति-क्षमापन-पश्चात्तापादिकर्मस्वपि च प्रतिपदमतीव साम्यमधिगत्यास्तिकनास्तिकयोर्मध्ये आपाततो दृश्यमानं भेदजातं विरलं जायते। प्रायः वैष्णवानां समाराधनचर्यां जानानेषु बौद्धभक्तिचर्याविषये विशेषेणौत्सुक्यं जागर्ति। अतोऽत्र बौद्धसूत्रानुरोधेन कतिपयवाक्यबलात् बौद्धचर्या प्रदर्श्यते।

गण्डव्यूहसूत्रानुरोधेन 'सुदुर्लभो बुद्धशब्दः कल्पकोटिशतैरपि', कारण्डव्यूहसूत्रानुरोधेन 'ते सत्त्वाः सुखिता लोके भवन्ति, ये अवलोकितेश्वरस्य महासत्त्वस्य नामधेयमनुस्मरन्ति' इति। जपविषये च तत्रैव कारण्डव्यूहे उक्तम्—'कुलपुत्र, सा षडक्षरी महाविद्या तु अवलोकितेश्वरस्य परमहृदयम्। यश्च परमहृदयं जानाति, सः मोक्षं जानाति। यः कश्चिदिमां धारयेत् षडक्षरीं महाविद्यां कायगतां कण्ठगतां वा सः कुलपुत्रो वज्रकायशरीर इति वेदितव्यः' इत्यादि। गण्डव्यूहे तु उक्तम् 'मुच्यन्ति बन्धनगताः मम नाम श्रुत्वा' (ग० व्यू० १६१–६२)। कीर्त्तन-सङ्गीतादीनां माहात्म्यं सद्धर्मपुण्डरीकादिषु अवश्यकर्त्तव्यत्वेन निर्दिष्टम्। उक्तं सद्धर्मपुण्डरीके–(शि०स०पृ०५५)

सुगतानमुद्दिश्यथ पूजनार्थं सुगीतञ्च गीतं मधुरं मनोज्ञम्।
सर्वे च ते बोधि अभूषि लोके कृत्वान तां बहुविधधातुपूजाम्॥ इति॥

प्रणाम-प्रदक्षिणादिविषये गण्डव्यूहार्यावलोकितेश्वरादिसूत्रेषु प्रकर्षगतं माहात्म्यं लभ्यते। प्रणामः कायप्रणामकौशल्यनाम्ना प्रसिद्धयति। महायानसूत्रेषु **'स बोधिसत्त्वान् प्रणमेत मूर्ध्ना'** (शि० स० ५८), 'मञ्जुघोषं भक्तितः प्रणमाम्यहम्', 'वन्देय स्तूपं बहुतरं तस्य पुण्यम्' इत्यादिवचनशतानि लभ्यन्ते। इत्थमेव प्रदक्षिणाविषये' **'शतसहस्रकृत्वः प्रदक्षिणीकृत्य'** (ग० व्यू० ५०), **'प्रदक्षिणं च बुद्धज्ञानु बोधिमूलि'**, 'यः स्तूपं लोकनाथस्य नरः कुर्यात् प्रदक्षिणमि'त्यादिनिदर्शनवचनानि भवन्ति।

दर्शन-याञ्चा-प्रार्थना-स्तुतिप्रभृतिविषयेऽपि इत्थमेव बोधिचर्याः सुसंगृहीता भवन्ति।

अस्मिन् विषये किं बहुना वक्तव्येन, बौद्धवैष्णवयोः चर्यासु "रागः" सर्वथा अक्षपणीयो भवति। प्रसिद्धमेव यत् रागो हि उपनिषदि पालिसंगृहीतबौद्धवचनेष्वपि बहुधा हेयत्वेनैव स्वीकृतः। महायानस्योद्गमादारभ्य तन्त्रयानवज्रयानादीनां विकासपर्यन्तं, प्राचीनतमकालादारभ्य वासुदेव-सात्वतपाञ्चरात्र-भागवतपरायणेषु वैष्णवेषु च राग उत्कृष्टोपायत्वेन गृहीतः, तदाधारेणैव सकला आदिबोधिः वैष्णवचर्या च ओता च प्रोता च दृश्यते। अतिप्राचीने आर्यमैत्रेयासङ्गादिभिः बौद्धैः रागादीनां यथा बन्धहेतुत्वं तथा तदुपायेन निःसरणमपि अङ्गीकृतम्। उक्तम्—

यतस्तानेव रागादीन् योनिशः प्रतिपद्यते।
ततो विमुच्यते तेभ्यस्तेनैषां निःसृतिस्ततः॥ (पृ० ८७)

वैष्णवैस्तु ज्ञानाद्भक्तेः गरीयस्त्वे महारागस्यैव माहात्म्यं स्वीकृतम्। बौद्धवैष्णवयोश्चर्यासु सत्सङ्गापरनाम्नो गुरुनिषेवणस्य परमोत्कृष्टं महत्त्वम् उपलभ्यते। बौद्धेषु "कल्याणमित्रसंसर्ग"-शब्देन वैष्णवेषु "आचार्य-निष्ठा"-आचार्य-सम्बन्धादिशब्दैः गुरोर्महत्त्वं समानमेव स्वीकृतं भवति।

(६)

बौद्धवैष्णवयोर्भक्तिसाम्यं विवेचयता तदाश्रयभूतं किं तत्त्वज्ञानमिति विचारणीयतां भजते। ततोऽपि पूर्वं द्वयोर्यत् परमं लक्ष्यं बुद्धत्वं भगवत्त्वं (भगवत्सायुज्यं) वेति विचारणीयं भवति। तदनुरोधेन बौद्धेषु त्रि-काय-व्यवस्थायां वैष्णवेषु च व्यूहरचनायां यत् साम्यं लभ्यते, तदतीव महत्त्वाधायकम्। बुद्धगुणाः भगवद्गुणाः च परस्परम् अनुबद्धा इव समानमेव बुद्धकृत्यं भगवत्कृत्यं वा साधयन्तीति अत्र सम्यगालोचनीयताम् अर्हति। एतत् सकलमपि कलेवरवृद्धिभयात् त्यज्यते।

• • •

बौद्धबौद्धेतरदर्शनयोरमनीभावः

श्रीमुरलीधरपाण्डेयः

बौद्धदर्शने निर्वाणं परमुपादेयं विशिष्टाद् विशिष्टतरं मन्यते।[१] धम्मपदे निगदितं यद्—निब्बानं परमं वदन्ति बुद्धाः (धम्मपदे १४-६) इति। निर्वाणशब्देन सर्वप्रपञ्चस्य शान्तिरित्युपलक्ष्यते। यथा आचार्यनागार्जुनेन आचार्यचन्द्रकीर्तिना चाभिहितम्—

यः प्रतीत्यसमुत्पादं प्रपञ्चोपशमं शिवम्।
देशयामास सम्बुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥ (म० का० १।२)

अस्य प्रसन्नपदायामुक्तं सर्वप्रपञ्चोपशमशिवलक्षणं निर्वाणम्।

इह हि सर्वेषां प्रपञ्चानां निमित्तानां च य उपशमोऽप्रवृत्तिस्तन्निर्वाणम्। तथा प्रपञ्चश्च ग्राह्यग्राहकाकारेण मनसोऽवस्थानम्। अर्थादयं सर्वोऽपि प्रपञ्चो ग्राह्यग्राहकाकारावस्थापन्नं मन एव। अतो मनसो ग्राह्यग्राहकाकाररहित्यमेव निर्वाणम्। अत एव लङ्कावतारसूत्रे उक्तम्—

'मत्प्रवचने पुनर्महामते, विकल्पकस्य मनोविज्ञानस्य व्यावृत्तिर्निर्वाणम्।'
(लं० अ० सू०; पृ० १२६)

अतोऽस्य निर्वाणस्य कृतेऽमनीभावः, अमनस्ता, अमनस्कम् इत्यादीनि पदानि प्रयुज्यन्ते। अमनीभावोऽर्थाद् यत्र मनः अमनो भवति, मनसः प्रचारो यत्र निरुध्यते। "चित्तं मनो विज्ञानं विज्ञप्तिश्चेति पर्यायाः" इति विंशिका (पृ० ३)-वचनानुसारं चित्तनिरोधः, अचित्तः, निर्विकल्पकम्, इत्यादि पदैरप्यभिधीयते।

यथा लङ्कावतारसूत्रे—

चित्तं प्रवर्तते चित्रं चित्तमेव विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तमेव निरुध्यते॥
(लं० अ० सू० १०।१४५)

---

१. (क) युष्माभिः भिक्षुभिः मोक्षसाधने संलग्नैर्भवितव्यम्।
(दीघनिकाये २।१४१ सं० अनु०)
(ख) पुण्यनिर्वाणनिर्वेधभागीयं कुशलं त्रिधा। (अभिधर्मकोषे ४।१२५)
(ग) मोक्षस्त्वनुत्तरः। (अ० को० ४।१२७)
अस्य भाष्यम्—नहि निर्वाणाद् विशिष्टाद् विशिष्टतरमस्ति। तच्च सर्वेभ्यो विशिष्टं कुशलनित्यत्वात्।

यथा च त्रिंशिकायाम्—

अचित्तोऽनुपलम्भोऽसौ ज्ञानं लोकोत्तरं च यत्। (त्रिं० पृ० २९)

यथा च मध्यमककारिकायाः प्रसन्नपदायाम्—

विकल्पश्चित्तप्रचारः, तद्रहितत्वात्तत्त्वं निर्विकल्पम्। यथोक्तं सूत्रे—**परमार्थसत्यं कतमत्? यत्र ज्ञानस्याप्रचारः। कः पुनर्वादोऽक्षराणामिति।** एवं निर्विकल्पम्।

बोधिसत्त्वभूमावपि (पृ० ४४) एवमेव मनसः प्रचारस्य निरोधो निर्विकल्पं तथा निर्विकल्पं मनसोऽमनीभाव एव परमार्थतत्त्वेनोपदिष्टम्—

'**स खलु पारमार्थिकः स्वभावः सर्वधर्माणां निर्विकल्पकमेव ज्ञानस्य गोचरो वेदितव्यः।**

अङ्गुत्तरनिकाये (४।४१४) निर्वाणस्य महत्त्वमेतावतैव वर्णितं यत् तत्र किञ्चिदपि सुखदुःखादिकं नानुविद्यते। तत्रोक्तम्—

किं पनेत्थ (निर्वाणं) आवुसो सारिपुत्त, सुखं यदेत्थ नत्थि वेदयितं ति? एतदेव ख्वत्थ आवुसो, सुखं यदेत्थ नत्थि वेदयितं।

मनस इयमवस्था बौद्धदर्शनेषु विज्ञानमात्रताऽवस्था विज्ञप्तिमात्रताऽवस्था वाऽभिधीयते। श्रीवसुबन्धुना एवमियमवस्था वर्णिता—

यदात्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥
(त्रिं० २८, वि० मा० सि०, पृ० ५८४)

लङ्कावतारेऽप्येवमेव—

यदा त्वावलम्ब्यमर्थं नोपलभते ज्ञानं तदा विज्ञप्तिमात्रव्यवस्थानं भवति। विज्ञप्तेरपि ग्राह्याभावाद् ग्राहकस्याभावः। तदग्रहणान्न प्रवर्तते ज्ञानम्।
(लं० अ०, पृ० १६९)

बौद्धदर्शने एवम्भूतोऽमनीभावः अर्पणासमाधिः, निर्विकल्पसमाधिः, अस्पर्शविहार इति पदैरपि व्यवह्रियते। एतेषु सर्वेष्वेव मनो निश्चलं निर्विषयं निरालम्बनं भवति। विशुद्धिमार्गे अट्ठसालिन्यां च अर्पणा समाधिरित्थं वर्णितः—

'**दुविधो हि समाधि** उपचारसमाधि **च** अप्पनासमाधि **च। द्वीहाकारेहि चित्तं** समाधीयति उपचारभूमियं (वि० म० पृ० १२६)

"एकग्गं चित्तं आरम्मणे अप्पेतीति अप्पणा।" (अ० सा० पृ० १४३)

अस्पर्शविहारश्च त्रिंशिकायाम् योगाचारभूमौ च एवं वर्णितः—

स्पर्शः सुखं तेन सहितो विहारः स्पर्शविहारः। न स्पर्शविहारो अस्पर्शविहारो दुःखसहित इत्यर्थः। (त्रिं०, पृ० २८ प० १८)

लङ्कावतारसूत्रेऽमनीभावस्य यादृशं वर्णनमुपलभ्यते न तथा सुस्पष्टं बौद्धदर्शनेष्वन्यत्र। तथोक्तम्—

चित्तमात्रमतिक्रम्य निराभासे स्थितं फलम्।
(लं० अ० सू० १०।११०, पृ० २७९)

चित्तमात्रमतिक्रम्य निराभासमतिक्रमेत्।
निराभासस्थितो योगी महायानं न पश्यते॥
(तत्रैव १०।२५७, पृ० २९९)

तदा योगी ह्यनाभासं प्रज्ञया पश्यते जगत्।
निमित्तं वस्तु विज्ञप्तिर्मनोविस्पन्दितं च यत्॥
अतिक्रम्य तु पुत्रा निर्विकल्पाश्चरन्ति ते।
(त० १०।९४, पृ० २७७)

आलम्ब्यालम्ब्यविगतं यदा पश्यति संस्कृतम्।
निश्चित्तं चित्तमात्रं हि चित्तमात्रं वदाम्यहम्॥ (त० ३।२५)
निरोधश्चित्तचैत्तानां विपाकस्ते महत्फलाः। (त० २।४१)

अनेन प्रकारेण बौद्धदर्शनेऽमनीभावस्य महाफलत्वं प्रतिपादितम्। तत्र बौद्धदर्शने सर्वं चेतश्चैतसिकमेव जगदादि वर्तते। अतोऽनर्थमूलं मनस्तस्य चामनस्ता महाफलिका।

किन्त्वेवं भूतोऽमनीभावो वेदे वैदिकदर्शनेष्वपि महाफलो निगदितः। यत्र वेदे वैदिकदर्शने च मनसः परतरं ब्रह्म आत्मा वा स्वीकृतः। वेदमन्त्रेषु वेदेषु मनस ऐकाग्र्यं निश्चलता वा वर्णिता, किन्तु सर्वथा ग्राह्यग्राहकाकारशून्यता स्पष्टं न प्रतिपादिता। ऋग्वेदे एकं मनःसूक्तमुपलभ्यते, यत्र मनसो निरोधः श्रूयते—

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे॥
(ऋ० वे० १० म० ५८ सू० १ म०)

एवमेव अपरत्राप्येकादश मन्त्राः सन्ति, यत्र सर्वत्र मन आकृष्य स्थिरं कुर्यादिति वर्णितम्। यथा तत्रस्थ एको मन्त्रः—

यत्ते चतस्रः प्रदिशः मनो जगाम दूरकम् ।
तत्त आवर्तयामसीह क्षयाय जीवसे ॥ (तत्रैव ४ म०)

अथर्ववेदेऽपि समाधिर्वर्णितः, यत्र आत्मनि मनोनिरोधस्याऽऽदेशः—

ये वध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षत मनसा चक्षुषा च ।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥
(अ० वे० २ का ३४ सू० ३ म०)

अस्मिन् मन्त्रे 'वध्यमानम्' इति पदेन देहेन्द्रियादिबन्धने बद्ध आत्मा विवक्षितः । तेन देहेन्द्रियादिबन्धने बद्धमात्मानं समाधिसंस्थितेन मनसा मोचयेदित्यर्थः सम्पद्यते । अर्थाद् आत्मनो मुक्तेः साधनं समाधियुक्तमेकाग्रं मन इति । यद्यपि आचार्यसायणेन यज्ञे बलिकर्मणि अस्यार्थः प्रयुक्तः, किन्त्वन्यैरुपरितनार्थेऽपि प्रयुज्यते ।

आरण्यक-उपनिषत्सु गीतायां योगशास्त्रे च अयम् अमनीभाव एव—अमनस्ता, उन्मनीभावः, मनक्षयः, मनोनाशः, मनोलयः, चित्तनाशः, अचित्तता इत्यादिपदैर्व्याख्यायते ।

यथा अमनीभावः यजुर्वेदीये मैत्रायण्यारण्यके—

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम् ।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥
(मै० आ० ६ प्र० ३४।७)

मैत्रायण्युपनिषद्यपि एवमेव—

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम् ॥ (मै० उ० ४।६)

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चिलम् ।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ (तत्रैव ४।७)

यथा उन्मनीभावः शाण्डिल्योपनिषदि —

यो मनः सुस्थिरो भावः सैवावस्था मनोन्मनी ।
(शा० उ० १।२।१०)

नादबिन्दूपनिषदि—

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम् ।
न जानाति स शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
(ना० वि० उ० ५३)

न मानं नावमानं च संत्यक्त्वा तु समाधिना ।
अवस्थात्रयमन्वेति न चित्तं योगिनः सदा ॥ (तत्रैव ५४)

ब्रह्मबिन्दूपनिषदि—

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।
याति यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम् ॥ (ब्र० वि० उ० ४)

यथा मनःक्षयो मैत्रायण्युपनिषदि—

तावदेव निरोद्धव्यं हृदि यावत्क्षयं गतम् ।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषास्तु ग्रन्थविस्तराः ॥ (मै० उ० ४।८)

यथा मनोनाशः शाण्डिल्योपनिषदि—

द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं मुनीश्वर ।
योगस्तद्वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥
(शा० उ० १।२।२४)

यथा मनोलयः नादबिन्दूपनिषदि—

नादे चित्तं विलीयते ।
मनस्तत्र लयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् ।. (तत्रैव ४७)

शाण्डिल्योपनिषदि—

कर्पूरमनले यद्वत् सैन्धवं सलिले यथा ।
तथा च लीयमानं सन्मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ (शा० उ० १।२।२१)

ज्ञेयं सर्वप्रतीतं च तज्ज्ञानं मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ (तत्रैव २२)

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद् विलयं याति मानसम् ।
मानसे विलये याते कैवल्यमवशिष्यते ॥ (तत्रैव २३)

श्रीमद्भगवद्गीतायाम् —

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ॥ (गी० ६।१९)
अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ॥ (तत्रैव ८।८)
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ (त० ६।२५)

श्रीमद्भागवतेऽपि—

मनो निर्विषयं युक्त्वा ततः किञ्चन न स्मरेत् । (भागवते २।१।१९)

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धावेश्यते यथा॥ (भा० ११।१३।१४)

योगदर्शने—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। (यो० सू० १।१)

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। (यो० सू० ३।३)

अत्र व्यासभाष्यम्—ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते।

माण्डूक्यकारिकायां तु बहुशो मनस इयमवस्था वर्णिता व्याख्याता च। तत्र अद्वैतप्रकरणे निरूपितं यद् इदमनुभूयमानं द्वैतं मन एव। अतो मनोनाशेऽद्वैतं प्रसिद्धयति—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत् किञ्चित्सचराचरम्।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते॥ (मा० का० ३।३१)

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा।
अमनस्तां तदायाति ग्राह्याभावे तदग्रहम्॥ (तत्रैव ३२)

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेरन्यो न तत्समः॥ (तत्रैव ३३)

एवं रीत्या बौद्धदर्शने बौद्धेतरदर्शनेषु च अमनीभावस्य महत्फलं महत्युपयोगिता च वर्णिता। एतावान् विशेषो यद् बौद्धदर्शने मनोनिरोधः, मनोलयः, अमनीभावो वा निर्वाणम्, बौद्धेतरदर्शने मनोनिरोधेन मोक्षः। जैनन्यायवैशेषिकपूर्वोत्तरमीमांसादर्शनरीत्या अमनीभावो यथावसरं विवेचयिष्यते।

• • •

गीतोक्त-स्थितप्रज्ञता बौद्धाभिमत-बोधिसत्त्वसाधना च

पं० लक्ष्मणत्रिवेदी

भूमिका

यस्याश्रवेण नरकादिमहाप्रताप-
दाहादिदुःखमनुभूतमभूद् भवद्भिः।
तीव्रं पुनः पुनरनन्तमशान्तचित्तै-
स्तच्छ्रोतुमादरमुदातरतरं भजध्वम्॥
आयान्तु च त्रिभुवनैकहितस्य वाक्यं
श्रोतुं प्रसन्नमनसः सुरनागसत्त्वाः।
गन्धर्वयक्षगरुडासुरकिन्नरेन्द्राः
प्रेतादयः श्रवणजाततृषः सहर्षाः॥

(शान्तिदेवविरचिते शिक्षासमुच्चये १ पृष्ठे)

इत्येतैरुदारैश्शान्तिदेववचोभिरेवास्माभिरपि सादरमामन्त्रिताः भोः भोः सभ्याः सचेतसः श्रोतारः।

सत्यमन्विष्य विश्लिष्य च तेन सत्येन दुःखार्णवे निमग्नान् उद्धर्त्तुं जगत्यामस्यां चिरात् सर्वेऽपि धर्माः, सर्वाण्यपि दर्शनानि, नवनवानि विज्ञानानि चानवरतं रतानि दरीदृश्यन्ते। तथा समस्तसंस्कृतिस्रोतस्विन्योऽपि तत्दुःखकलङ्कपङ्कं प्रक्षालयितुमेव प्रवहन्तितराम्।

भारतवर्षेऽस्मिन् चिरात् ब्राह्मणसंस्कृतिः श्रमणसंस्कृतिश्चेतिनामधेयाभ्यां प्रसिद्धं संस्कृतिद्वयमपि मानवजातेरपारमुपकारभारं कुर्वदास्ते। तत्र ब्राह्मणसंस्कृतिपोषिकायाः श्रीमद्भगवद्गीतायाः स्थितप्रज्ञताख्यम्, श्रमणसंस्कृतिवाहिन्याश्च महायानाख्यबौद्धधारायाः बोधिसत्त्वसाधनाख्यं बोधिसत्त्वाख्यं वा दिव्यमादर्शकल्पनमपि मन्ये नरान् नारायणान् विधातुमेव चित्रितमास्ते। अनयोरुभयोरपि दिव्यादर्शकल्पनयोः मिथः साम्यं वैषम्यमन्यच्च किञ्चित् दृश्यतेऽनल्पम्। तस्मादिह तदेवानयोः साम्यं वैषम्यम् उत्कर्षापकर्षादिकञ्च सर्वं विचारपथम् आनीय तुलनात्मकधिया समीक्षणनिकषेण परीक्ष्य प्रतन्यते।

स्थितप्रज्ञतास्वरूपम्

पूर्वमत्र स्थितप्रज्ञतास्वरूपमेव निरूप्यते। तदेवं यत्–श्रीमच्छङ्कराचार्यपादाः स्वगीताभाष्ये—आत्मानात्मविवेकजायाः प्रज्ञायाः प्रतिष्ठानम्, अहमस्मि परं ब्रह्मेत्येवं

सुखमिति। लोकान् अरक्षित्वा बोधिसत्त्वो नैवात्मानं रिरक्षिषति, न वा अरसिकं मोक्षम् अभिलषते। लोकानां हृदयेषु ये प्रामोदार्णवास्तैरेव बोधिसत्त्वस्य हृदयमार्द्रं भवति।

अत्रेमे श्लोका भवन्ति

यदा मम परेषाञ्च भयं दुःखञ्च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम्॥

(शिक्षासमुच्चये, २ पृष्ठे)

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयासादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥

(बोधिचर्यवतारे ३ परिच्छेदे ७७ पृष्ठे)

बोधिसत्त्वानां कृते सिद्धिक्षेत्रं सत्त्वानां समूह एवास्ति। सत्त्वा एव तत्कृते भद्रघटाः, चिन्तामणयः, कामदुघाः गावः, गुरुवत् देवतेव चाराधनीयाः सन्ति।

अनेन प्रकारेण बोधिसत्त्वः असिधाराव्रतमिदमङ्गीकृत्य षट्साधनानि साधयित्वा योगस्य दशभूमीश्चातिक्रम्य क्रमेण बुद्धत्वस्य परां कोटिमाटीकतेतराम्।

ताश्च षट्साधनाः (पारमिताः वा) दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञापारमितासंज्ञया प्रसिद्धाः।

(१) मुदिता (२) विमला (३) प्रभाकरी (४) अर्चिष्मती (५) सुदुर्जया (६) अभिमुखी (७) दूरङ्गमा (८) अचला (९) साधुमती (१०) धर्ममेघा चेति दश भूमयः।

(क) तत्राद्या दानपारमितैव वर्ण्यते—सत्त्वेभ्यः निष्कामभावेन सर्वेषामपि वस्तूनां दानमेव दानपारमिता। परिग्रह एव दुःखस्य निदानम्, अपरिग्रह एव तन्मुक्त्युपायः। बोधिसत्त्वोऽनया दानपारमितया आसक्तिं सर्वेषामपि पदार्थानां परिहाय सत्त्वान् स्वपुत्रतुल्यान् मन्यते। इयमेव बोधिसत्त्वस्यैका ज्ञानदृष्टिः। रत्नमेघेऽपि भवति—"दानं हि बोधिसत्त्वस्य बोधिरिति" (शिक्षासमुच्चये, पृष्ठे-३४)

(ख) शीलपारमिता—प्राणातिपातादिभ्यो गर्हितेभ्यः कर्मभ्यश्चेतसो विरतिरेव शीलपारमिता (शीलपूर्णता)। चेतसो विरतिश्च स्मृतिसम्प्रजन्याभ्यां विधातुं शक्यते। इदं कर्म निषिद्धम्, इदञ्च विहितमिति स्मरणमेव स्मृतिरुच्यते। "विहितप्रतिषिद्धयोर्यथायोगं स्मरणं स्मृतिः" (बोधिचर्यवतारे, पृ० १०८)

अनया स्मृत्या बोधिसत्त्वः अकुशलानि कर्माणि निषेधति, कुशलेषु च कर्मसु प्रवर्तते।

सम्प्रजन्यं नाम प्रत्यवेक्षणम्। सर्वदा कायस्य चित्तस्य चावस्थायाः प्रत्यवेक्षणमेव सम्प्रजन्यम्। अनेनात्मनिरीक्षणेन चित्तं समाहितं भवति बोधिसत्त्वस्य।

(ग) द्वेषाग्नेः प्रशमनाय क्षान्तिपारमिता अपेक्षिता भवति। क्षमां विना वीर्यमपि व्यर्थं नश्यति। श्रुतं (शास्त्रं ज्ञानं वा) न ग्रहीतुं शक्यते।

अस्याः प्रकारस्त्वेवम्

क्षमेत श्रुतमेषेत संश्रयेत वनं ततः।
समाधानाय युज्येत भावयेदशुभादिकम्॥ (शिक्षासमुच्चये)

क्षान्तिश्चेयं त्रिविधा (१) दुःखाधिवासनक्षान्तिः (२) परापकारमर्षणक्षान्तिः (३) धर्मनिध्यानक्षान्तिः।

आपतितं दुःखं परापकारं च सोढ्वा सांसारिकपदार्थांश्च क्षणिकान् बुद्ध्वा क्रमेण शान्तित्रयस्यास्य साधनं विधीयते।

(घ) वीर्यपारमिता—वीर्यं नामोत्साहः। क्षमावानेव वीर्यं लभते। वीर्ये एव बोधिः (ज्ञानम्) प्रतिष्ठते। वीर्येणैव पुण्यस्य प्राप्तिः। कुशलानां कर्मणां सम्पादनार्थमुत्साह एव वीर्यम्। आलस्यस्य, विषादस्य, आत्मावमाननायाश्च परित्याग एव वीर्यम्। अनिर्वेदस्य भाव एव वीर्यम्।

"अनिर्वेदः श्रियो मूलम्" इत्युक्तिः आदिकवेः।

अस्य वीर्यस्य पारमितां (पूर्णतां) प्राप्तुं बोधिसत्त्वः चेष्टते। इयमेव बोधिसत्त्वस्य वीर्यपारमिता।

(ङ) ध्यानपारमिता—शमथेन विपश्यनया च अर्थात् चित्तस्यैकाग्र्यरूपिणा समाधिना ज्ञानेन च बोधिसत्त्वेन समाधौ चित्तं स्थापयितव्यम्। इत्थं ध्यानं निष्पद्यते। एतादृशस्य ध्यानस्य पारमितां (पूर्णतां) बोधिसत्त्वः प्राप्नोति। संसारमिमम् अनया पारमितया असङ्गबुद्ध्या पश्यति। यथायं श्लोको भवति—

एक उत्पद्यते जन्तुर्म्रियते चैक एव हि।
नान्यस्य तद्व्यथाभागः किं प्रियैर्विघ्नकारकैः॥ (बोधिचर्यवतारे, ७४४)

(च) प्रज्ञापारमिता—ध्यानेन प्रज्ञा उद्भवति। प्रज्ञैव अविद्यायाः संसारमूलभूतायाः निवारिका। प्रज्ञा, विपश्यना, अपरोक्षं ज्ञानम् इत्यनर्थान्तरम्। सर्वेषां धर्माणां (पदार्थानां) निस्सारतायाः, शून्यताया वा ज्ञानमेव प्रज्ञापारमिता। भावनामनुत्पत्तिदृष्टिरेव प्रज्ञापारमिता। इयमेव संसारस्य निवर्तिका निर्वाणस्य च प्रापिका। एनां विना अन्याः सर्वा अपि पारमिता अपूर्णा एव सन्ति। इयमेव बौद्धानां पूजनीया काचिद् देवता। प्रज्ञापारमितासूत्रे यथा—

सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम् ।
साधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला ॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता ।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥

एवमेतासामुपवर्णितानां दानादिपारमितानां (दानादिपूर्णतानां) साधनैः बोधिसत्त्वःशनैःशनैःसत्त्वानां कल्याणं विधातुं योग्यतां बिभर्ति ।

तथा च बोधिसत्त्वः योगस्य मुदितादिदशभूमीरपि क्रमेणारोहन् बुद्धत्वस्य शृङ्गमुत्तुङ्गमारोहति । इदमेव बोधिसत्त्वसाधनास्वरूपं समासेन ।

उभयोरपि तोलनम्

एवमनयोः स्थितप्रज्ञताबोधिसत्त्वसाधनयोः प्रदर्शिते स्वरूपे क्वचित् साम्यं क्वचिच्च वैषम्यमपि स्पष्टमेव दृश्यते । यथा 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव' इत्युक्त्या स्थितप्रज्ञस्य समाधिस्थत्वं सूच्यते, तथैव बोधिसत्त्वोऽपि मुदिताप्रभृतिषु दशसु योगभूमिषु समाधिमेवालम्बते । बोधिसत्त्वो यथा बोधिम्=ज्ञानम् प्राप्तुं दानादिपारमिताः संसाधयति, तथैव स्थितप्रज्ञोऽपि ।

दानशीलक्षान्तिवीर्यध्यानप्रज्ञाप्रतिपक्षान् लोभहिंसाद्वेषानुत्साहविक्षेपाज्ञानादीन् परिहाय प्रकारान्तरेण मन्ये ता एव दानादिपूर्णताः साधयति । शाठ्यमात्सर्येर्ष्यापैशुन्यदैन्यादिराहित्येन यथा बोधिसत्त्वः बुद्धत्वं लभते, तथैव स्थितप्रज्ञोऽपि कामोद्भवानेतान् शाठ्यमात्सर्यादीन् दुर्गुणान् विहाय मनोगतान् ब्राह्मीं स्थितिं लभते ।

विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां मनसोऽनुधावनं प्रज्ञाम्भसि नावमिव यथा हरति स्थितप्रज्ञतायाम्, तथैव बोधिप्राप्तावपि । तस्मादेव मनसोऽभयम्, अतस्तस्यैव नियमनं विहितम् । आर्यरत्नमेघे भवति, यथा—

चित्तपूर्वङ्गमाश्च सर्वधर्माः । चित्ते परिज्ञाते सर्वधर्माः परिज्ञाताः भवन्ति··· । तत्र बोधिसत्त्वो दोषेभ्यश्चित्तं निवार्य गुणेषु प्रवर्तयति । तदुच्यते—चित्ताधीनो धर्मः, धर्माधीना बोधिरिति ।

स्थितप्रज्ञतायां तु विषयविनिवर्तनाय "परं दृष्ट्वा निवर्तते" इति गीतोक्त्या परस्य=परमात्मनः दर्शनमपेक्षितम् । तद्दर्शनेनैव विषयरसः समूलमुच्छिद्यते, नात्र बोधिसत्त्वसाधनायां परमात्मार्थकः परः क्वचित् । अत्र तु बोधिसत्त्वात् परः सत्त्वानां क्षेत्रमेव परमात्मनः स्थानम् आपद्यते । सत्त्वेषु दुःखाक्रान्तेषु सत्सु बोधिसत्त्वे नावकाशो विषयाणां न वा कथा विषयरसलेशस्यापि ।

सत्त्वार्थमेव बोधिसत्त्वेनात्मभावादयः परित्यक्ताः । यथायं भवति—

आत्मभावांस्तथा भोगान् सर्वत्र्यध्वगतं शुभम् ।
निरपेक्षस्त्यजाम्येष सर्वसत्त्वार्थसिद्धये ॥
(बोधिचर्यावतारे, ३,१०)

किञ्च स्थितप्रज्ञतायान्तु स्थितप्रज्ञाय ब्राह्मीस्थितिरेव लक्ष्यत्वम् आदधाति, अत्र तु बुद्धत्वम् । एकत्र पूर्णतायाः, विशालतायाः, अनुत्तरतायाः केन्द्रं ब्राह्मी स्थितिरिति-शब्देनाभिधीयते, अपरत्र बुद्धत्वशब्देनेति ।

एकत्र स्थितप्रज्ञतायामन्त्यमाकाङ्क्षणीयम् "ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति" इत्युक्त्या निर्वाणम्, अपरत्र तु बोधिसत्त्वसाधनायां सत्त्वानां परिषेवणमेव । नात्रारसिकस्य मोक्षस्यावकाशलेशः ।

अनेन प्रकारेण पूर्वोक्तमार्गद्वयेनापि साधकाः सिद्धेः परां कोटिमाटीकन्तेतराम् ।

समीक्षणम् उपसंहारश्च

इत्थं स्थितप्रज्ञतायाः बोधिसत्त्वसाधनायाश्च स्वरूपे तुलाधिरोहणेनापि दृष्टे, उभयोरपि महत्त्वं नाल्पम् । तथापि स्थितप्रज्ञतायां व्यक्तिपरिमितमेवोत्थानं लक्ष्यते । तस्याः विशालता, पूर्णता, गभीरता वा, तस्याः इन्द्रियनियमनम्, कामानां सर्वेषां परित्यजनम्, निश्चलत्वम्, पूर्णत्वम्, प्रतिष्ठानत्वं वा सर्वं व्यक्तिरूपस्य कस्यचित् सङ्कीर्णस्य कक्षस्य कोणे एव प्रच्छन्नं प्रतिभाति । मन्ये स्थिप्रज्ञताऽपि सा अज्ञानस्याभेद्यं ध्वान्तं नाशयति, परन्तु गृहस्य कस्यचित् प्रच्छन्ने कोणेऽवस्थापितो दीप इव ।

परन्तु बोधिसत्त्वसाधनाक्षेत्रन्तु सर्वथोन्मुक्तं सर्वत्रोन्मुक्तम् । यथा—

"न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः ।"

बोधिसत्त्वसाधनानि प्राणपरित्यागैरपि इमान्येव दृश्यमानानि भुवनानि आराधयितुं नैव स्वप्नेऽपि तानि विराधयितुमस्मांश्चोदयन्ति । अस्मासु ग्लानानां दरिद्राणाञ्च लोकानां कृते उत्सर्गस्य भावनाभरं सञ्चारयन्ति । अत्रेमे विभावनीयाः—

ग्लानानामस्मि भैषज्यं भवेयं वैद्य एव च ।
तदुपस्थायकश्चैव यावद्रोगापुनर्भवः ॥
क्षुत्-पिपासाव्यथां हन्यामन्नपानप्रवर्षणैः ।
दुर्भिक्षान्तरकल्पेषु भवेयं पानभोजनम् ॥
दरिद्राणां च सत्त्वानां निधिः स्यामहमक्षयः ।
नानोपकरणाकारैरुपतिष्ठेयमग्रतः ॥

किमधिकेन। बोधिसत्त्वसाधनजातमिदमेकं हाटकप्रभासनामधेयं रसजातमिव। यथा तद् एकपलपरिमितमपि लौहपलसहस्रं सुवर्णं करोति, तथैवेदं साधनजातमपि अमेध्यमिदं मानवकलेवरम् अपि अनर्घं करोत्येव।

इत्थं समीक्षणनिकषे परीक्षामनु जनताजनार्दनस्य सेवायां स्पष्टभावेन नियोजकम्, दुःखेभ्यः सर्वेभ्योऽपि वियोजकं साधनाजातमिदं बोधिसत्त्वस्य भगवता तथागतेनोद्भावितमेवास्मभ्यं रोचतेतराम्। प्रसङ्गेऽस्मिन्निमान्यक्षराणि न विस्मरणीयानि—

एते ते वै सत्वाः प्रसाद्य यान् सिद्धिमागता बहवः।
सिद्धिक्षेत्रं नान्यत् सत्त्वेभ्यो विद्यते जगति॥
एते चिन्तामणयो भद्रघटा धेनवश्च कामदुघाः।
गुरुवच्च देवतेव च तस्मादाराधनीयास्ते॥

इत्यलं पल्लवितेनेति शम्।

• • •

टिप्पणी

पं० श्रीपट्टाभिरामशास्त्री

निबन्धेऽस्मिन् काश्चन जिज्ञासाः। जिज्ञासायाः पूर्वं विषयप्रवेशाय किञ्चिद्विवक्षामि। गीतायां तत्त्वज्ञानिनां लक्षणं बुभुत्सुरर्जुनोऽखण्डनित्यसार्वज्ञ्यमखिललोकगुरुं केशवं पृच्छति—'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' इत्यादिना। स्थिता, असम्भावना-विपरीतभावना-प्रयुक्तविक्षेपद्वयराहित्येन स्थिरीभूता, 'अहं ब्रह्म' इति प्रज्ञा तत्त्वज्ञानं यस्य सः स्थितप्रज्ञः। तस्य भाषा, लक्षणं किमिति प्रश्नस्यार्थः। स च स्थितप्रज्ञो द्विविधः—समाधिस्थः स्थितधीश्च। समाधीयतेऽस्मिन् बुद्धिरिति समाधिः—ब्रह्मात्मतत्त्वम्, तस्मिंस्तिष्ठतीति समाधिस्थः। ब्रह्मविद्वरिष्ठोऽयं भवति। स्थितधीः-व्युत्थितः स्थितप्रज्ञः। पूर्वार्द्धे समाधिस्थस्य लक्षणप्रश्नः, उत्तरार्द्धेन च स्थितधियो व्युत्थितस्य।

एतदुत्तरत्वेन भगवतो वचनम्—'प्रजहाति यदा कामान्' इति। अस्य श्लोकस्यार्थविबोधाय किञ्चित्प्रमेयजातं वेदान्तिमतसिद्धमनुसन्धेयं भवति। तथाहि—सप्त भूमयस्सन्ति समाधियोगस्य। तत्र प्रथमा—नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्विका मोक्षेच्छा। द्वितीया—गुरूपसदनपूर्वकं श्रवणमननादिरूपो वेदान्तविचारः। तृतीया—निदिध्यासनाभ्यासेन मनस एकाग्रतया सूक्ष्मवस्तुग्रहणयोग्यतासम्पादनम्। चतुर्थी—अपरोक्षब्रह्मसाक्षात्कारः। पञ्चमी—सविकल्पकसमाध्यभ्यासेन निरुद्धे मनसि निर्विकल्पकसमाध्यवस्था। षष्ठी—तदभ्यासातिरेकेण चिरकालावस्थायिनी समाध्यवस्था। सप्तमी—तस्या अपि परिपाकेण समुद्रमध्यावस्थापितकुम्भवत् स्वप्रकाशचिदानन्दैकरसे ब्रह्मणि मग्नतयाऽन्तर्बहिः पूर्णत्वम्।

आसु भूमिष्वाद्यं भूमित्रयं साधनम्, चतुर्थी भूमिः फलरूपा। आद्यभूमित्रयस्य जाग्रदवस्थारूपत्वम्, चतुर्थी च स्वप्नावस्थारूपा। इमां भूमिमधिगतो योगी ब्रह्मविदित्युच्यते। पञ्चम्यादयस्तिस्रो भूमयः जीवन्मुक्त्यवान्तरभेदाः। एतासु तिसृषु निर्विकल्पकसमाधौ तरतमभावो विद्यते। तत्र पञ्चमी भूमिः सुषुप्तिरूपा। अस्यां विद्यमानस्य योगिनः सति विकल्पे स्वयमेवोत्थानम्। अयं ब्रह्मविद्वरः। षष्ठी भूमिस्तु गाढसुषुप्तिरूपा। इमां प्रपन्नस्य योगिनः परप्रयत्नेनोत्थानम्। अयं ब्रह्मविद्वरीयान्। सप्तमी भूमिस्तु तुर्यावस्था। इमां प्राप्तस्य योगिनः स्वतः परतो वा व्युत्थानमेव नास्ति। अस्य च देहनिर्वाहः प्राणवायुनैव निष्पद्यते। इयमेवावस्था ब्रह्मविद्वरिष्ठस्य। अस्या अवस्थायाः स्वरूपं भागवते—

देहञ्च नश्वरमवस्थितमुत्थितं वा
सिद्धो न पश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।
दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिहितं मदिरामदान्धः ॥ इति प्रदर्शितम् ।

इदं सर्वमभिप्रेत्य भगवान् पतञ्जलिरसूत्रयत्—'तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजस्समाधिः' इति । योगवासिष्ठेऽप्युक्तम्—

न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी ।
नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव ॥ इति ।

अत्रासम्प्रज्ञातसमाधौ—आत्मानन्दो न मनोवृत्त्योल्लिख्यते, किन्तु स्वप्रकाशचिद्रूपेणात्मनैव । तस्य तोषोऽपि न वृत्तिरूपः, किन्त्वात्मप्रकाश एव । तदिदं सर्वं प्रमेयजातं मनसि निधाय श्रीभगवानुवाच—

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान् पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥ इति ।

एवञ्च—'अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः', 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति', 'विद्यास्थितये प्राग्ये साधनभूताः प्रयत्ननिष्पाद्याः। लक्षणभूतास्तु पुनः स्वभावतस्ते स्थिताः स्थितप्रज्ञे ॥ जीवन्मुक्तिरितीमां वदन्त्यवस्थां स्थितात्मसम्बोधाम् । बाधितभेदप्रतिभामबाधितात्मप्रबोधसामर्थ्यात्' ॥ 'उद्घाट्य योगकलया हृदयाब्जकोशं धन्यैश्चिरादपि यथारुचि गृह्यमाणः । यः प्रस्फुरत्यविरतं परिपूर्णरूपः' इत्यादिश्रुतिस्मृत्यादिप्रमाणैः—आविद्यिकप्रपञ्चव्यवहारशून्यत्वे सति परब्रह्मद्वयत्वं स्थितप्रज्ञलक्षणं निर्गलितम् ।

एवं स्थिते प्रमेयजाते, पूर्वोक्तसाधनाक्रमे च जाग्रति निबन्धलेखकमहोदयो वदति—'स्थितप्रज्ञतायां व्यक्तिपरिमितमेवोत्थानं लक्ष्यते । तस्या विशालता पूर्णता' 'प्रतिष्ठानत्वं वा सर्वं व्यक्तिरूपस्य कस्यचित्सङ्कीर्णस्य कक्षस्य कोणे एव प्रच्छन्नं प्रतिभाति' इति ।

प्रदर्शितप्रमेयजातानुसारेण सप्तम्यां भूमौ यो योगी तिष्ठति तस्य व्युत्थानमेव न भवति । स तु समाधिस्थः स्थितप्रज्ञः । यश्च योगी पञ्चम्यां षष्ठ्यां वा भूमौ वर्तमानः तस्य क्रमशः स्वयं परेण वा व्युत्थानं भवति । अयं स्थितधीः स्थितप्रज्ञः। व्युत्थानक्रिया कामं व्यक्तिनिष्ठा । तेन स्थितप्रज्ञतायां परिमितत्वं परिच्छिन्नत्वं वा सङ्कीर्णत्वं वा कथमायाति ? पृष्ठे ताडितस्य दन्ता निपतिताः' इति न्यायेन व्यक्तिकर्तृकव्युत्थानस्य परिमितत्वे स्थितधियः स्थितप्रज्ञस्य किमायातम् । गीतायां स्थित-

प्रज्ञशब्दः पुंल्लिङ्गे वर्तते । तस्य च व्युत्पत्तिं पूर्वं प्रादर्शयम्—स्थिता स्थिरीभूता प्रज्ञा अहं ब्रह्मेति तत्त्वज्ञानं यस्य स इति । तत्र यच्छब्दार्थोऽन्यपदार्थो व्यक्तिरिति लेखको मन्यते । एवञ्चेत्—स्थितप्रज्ञपदेन स्त्रीलिङ्गेन भाव्यम् । व्यक्तिशब्दं 'व्यक्तिस्तु पृथगात्मता' इत्यमरसिंहः स्त्रीलिङ्गे पठति । अतोऽत्र का सङ्गतिरिति जिज्ञासा ।

किञ्च—'बोधिसत्त्वसाधनाक्षेत्रन्तु सर्वथोन्मुक्तं सर्वत्रोन्मुक्तम्' इति लेखक-महोदयो लिखति । अत्रेयं जिज्ञासा—साधनाक्षेत्रं कस्मादुन्मुक्तम् ? न हि तत्केन-चिद्बद्धमनुभवामः । बद्धस्य खलून्मोचनं भवति । यदि चोन्मुक्तशब्दस्य व्यापक-मित्यर्थोऽभिमतः, तर्हि अस्मिन्नर्थे तस्य शब्दस्य शक्तिग्राहकं प्रमाणं किम् ? साधना-क्षेत्रस्योन्मुक्तत्वे बोधिसत्त्वस्य किं प्रयोजनम् ? बोधिसत्त्वस्तु नोन्मुक्तः, किन्तु तस्य साधनाक्षेत्रमुन्मुक्तम् इति ।

किञ्च निबन्ध्रा बोधिसत्त्वशब्दस्य विग्रहः सप्रमाणं प्रदर्शितः बोधौ ज्ञाने सत्त्वम् अभिप्रायोऽस्य' इति । अत्र जिज्ञासा—'अस्य' इति कस्य ? यदि व्यक्तेः तर्हि शब्दस्य स्त्रीलिङ्गत्वापत्तिः । यदि च शरीरस्य, तर्हि तत् सौगतानां मतेऽवयव-समुदायरूपम् । कस्यावयवस्य बोधौ सत्त्वमस्ति ? इति कथं विवेक्तुं शक्यम् ? यदि चावयवसमुदायस्य बोधौ सत्त्वम्, तर्हि तस्यापि परिच्छिन्नत्वात् स्थितप्रज्ञापेक्षया किमत्र वैशिष्ट्यम् ? इति ।

किञ्च बोधिसत्त्वमते—'त्यज्यतामेष मूर्धाभिषिक्तः प्रथमो मोहः—आत्मग्रहो नाम । तन्निवृत्तौ, आत्मीयग्रहोऽपि विरंस्यति—अहमेव न, किं ममेति' । 'यतस्ततो वास्तु भयं यद्यहं नाम किञ्चन । अहमेव न किञ्चिच्चेद्भयं कस्य भविष्यति' ॥ इति सिद्धान्तः ।

लेखकमहोदयेन लिख्यते—'बोधिसत्त्वस्य लक्ष्यं बुद्धसत्त्वस्य प्राप्तिः' इति । अत्र जिज्ञासा—बोधिसत्त्वो व्यक्तिरूप इत्यत्र लेखकस्य विवादो न स्यादिति सम्भावयामि, यतश्च तदीयविग्रहवाक्यं तमर्थं प्रतिपादयति । बुद्धसत्त्वशब्दस्य षष्ठी-तत्पुरुषसमासे कृते बुद्धस्य सत्त्वमिति विग्रहवाक्यं स्यात् । तदायं शब्दः क्लीबलिङ्गे भवेत् । बुद्धस्य सत्त्वमभिप्रायस्तस्य प्राप्तिः लक्ष्यमिति पर्यवस्यति । बुद्धस्य योऽभिप्रायः तं प्राप्तुं बोधिसत्त्वेन साधना कर्तव्येति निष्पद्यते । लेखकोऽन्यत्र लिखति—बुद्धत्वञ्च प्रज्ञया महाकरुणयैव च प्राप्तुं शक्यते नान्यथा' इति । अनेन बुद्धत्वप्राप्तिरेव लक्ष्यमिति ज्ञायते । अस्मिन्नेव प्रसङ्गे निबन्धकारो वदति—'एवं बुद्धसत्त्वस्थितेः प्राग् यावस्था सैव बोधिसत्त्वावस्था । किं वा बोधिसत्त्वो भावी बुद्ध इत्यपि वक्तुं शक्यते' इति । एभिस्सन्दर्भैरयमत्र निष्कर्षः प्रतीयते—बुद्धस्य धर्मो बुद्धत्वं, तस्य प्राप्तिः फलम्, अथवा बुद्धसत्त्वस्य बुद्धाभिप्रायस्य प्राप्तिः फलमिति । तत्र कोऽयं बुद्धः ? किमयमजः ?

जनिमान् वा ? यद्ययमजः, तर्हि 'बुद्धत्वञ्च प्रज्ञया महाकरुणयैव प्राप्तुं शक्यते नान्यथा' इति कथनस्य सङ्गतिः का ? अजत्वात्तस्य बुद्धत्वं, विनैव कारणेन सिद्धमिति बुद्धत्व-प्राप्तये प्रज्ञायाः महाकरुणायाश्च कारणत्वं न सिध्येत् । यदि द्वितीयः पक्षः, तर्हि स जातमात्रेण प्रज्ञावान्, महाकरुणावांश्च जातः ? उत साधनाक्रमेण ? आद्ये साधना-क्रमस्य काऽऽवश्यकता ? द्वितीये बोधिसत्त्वानां बुद्धसत्त्वस्य च को भेदः ? इति ।

किञ्च बोधिसत्त्वपदेन व्यक्तिरुच्यते, तथैव बुद्धपदेनापि । बुद्धव्यक्तिगतं यद् बुद्धत्वं तस्य कथं विशालता, पूर्णता, गभीरता वा प्रतिष्ठानत्वं वेति सर्वं व्यक्तिरूपस्य कस्यचित् सङ्कीर्णस्य कक्षस्य कोणे एव प्रच्छन्नं न प्रतिभायात् ? एतादृशबुद्धत्वं वा बुद्धसत्त्वं वा प्राप्तवतां बोधिसत्त्वानां विशालत्वादिकं कुत्रचित्कोणे प्रच्छन्नं कथं न स्यात् ? को वा सुकृतविशेषस्सञ्चितो बुद्धेन महात्मना, बोधिसत्त्वैर्वा महात्मभिः ? येन ते फलांशे विशालत्वं गभीरत्वं प्रतिष्ठानत्वं वाप्नुवन्ति । किं वा पापमाचरितं स्थितप्रज्ञेन वराकेण ? येन स सङ्कीर्णं सङ्कुचितं प्रच्छन्नञ्च फलमवाप्नोति । इतीमा अन्याश्च बह्वो जिज्ञासा आविर्भवन्ति ।

मम त्वेवमत्र निष्कर्षः प्रतिभाति—स्वस्वाभिलषितलक्ष्यावाप्तौ सर्वोऽपि स्वतन्त्रः । सर्वस्यापि तत्र साधनं भावना । तत्र नास्तिकास्तिकभेदेन प्रभिन्नान् दार्शनिकान् कोटित्रयेण विभज्य केचित्सर्वोपशमनभावनया शान्तिमधिगच्छन्ति, अपरे आत्मातिरिक्तसर्वोपशमनभावनया तां प्राप्नुवन्ति, अन्ये च सर्वकामावाप्तिभावनया तां प्रसाधयन्ति । यावन्ति शास्त्राणि दर्शनानि वा तानि शमप्रधानानि—'शमार्थं सर्वशास्त्राणि निर्मितानि मनीषिभिः । य एव सर्वशास्त्रज्ञस्तस्य शान्तं मनस्सदा' ॥ इत्यभियुक्तोक्त्यनुसारेण तस्य फलमपकृष्टम्, मम चोत्कृष्टम्, तस्य सङ्कुचितं मम च विकसितम् इत्यादिकलहमुत्सृज्य शान्त्यवाप्त्युन्मुखा यदि भवेम, तर्हि मन्ये, न केवल-मस्य विश्वासां विद्यानामालयस्य, किन्तु विश्वस्य जगतः कल्याणं स्यादिति ।

●●●

भारतीययोगपरम्परासु श्रावकभूमेर्योगसम्भारः

डॉ० कमलेशशुक्लः

[१]

आर्यावर्त्तीयदर्शनानां निखिलेषु प्रस्थानेषु चित्तशोधनक्रमेण परमार्थसाक्षात्कारो मोक्षो निर्वाणं वेति सङ्ख्यां गच्छति । तत्र चित्तशोधनोपायः योगपदेनाभिधीयते । अयं योगः क्वचित्तु जीवात्मपरमात्मनोः योग इति[1], क्वचिच्च चित्तसमाधानमिति[2], क्वचित् आस्रवनिरोध[3] इति, क्वचिन्निर्जर[4] इति चाख्यातः । श्री-अरविन्दमते[5] योगोऽयं जीवनस्य मूलतत्त्वेन व्याख्यातो, यः खलु चित्तसमाधानस्वरूपतया सामान्य-प्रक्रियासम्बद्धोऽपि अव्यक्तशक्तिप्रकाशक-प्रकृतिविकाश-परचैत्तव्यापारतत्त्वेनोपबृंहित-स्वरूपो, यत्र विश्वात्मजीवात्मनोरैक्यमभेदो वा परिस्फुरति ।

निगमेष्वयं योगः सर्वथा चित्तचाञ्चल्यनिरोधकतया व्याख्यातः । तत्स्वरूपञ्च विवृतं तत्र चित्त-करणव्युपशमप्रवृत्तिरूपेण । इन्द्रियाणां लौल्यस्य निवृत्तिः परमार्थाधि-गमश्च तत्र प्राधान्येन योगप्रवृत्तिफलम् । पातञ्जलदर्शनेऽयं योगः अप्रतिसङ्क्रम-स्वरूपाया अपरिणामिन्याश्चितिशक्तेः स्वरूपस्थितिबोधकतया चित्तस्य व्युत्थानादि-सकलावस्थासु वर्तमानानां वृत्तीनां निरोधपरकतया व्याख्यातः । पाशुपतमतेऽयं योगः आत्मेश्वरसंयोगपरत्वेन व्याकृतः । तदुक्तं पञ्चार्थभाष्ये[6]—**'अत्र आत्मेश्वरसंयोगो योगः ।'** स पुनः पुरुषस्याध्ययनादिनैमित्तिकत्वादन्यतरकर्मणः स्थाणुश्येनवत् । चोदनाध्ययनादिवचनाद् मेषवदुभयकर्मणः । यस्मात् सति विभुत्वे

---

१. पाशुपातसूत्रभाष्यं, पृ० ६, ११० । २. यो०सू० १।२ । ३. श्रावकभूमि, पृ० १-११ ।
४. जैनमते खल्वेवं मन्यते, द्र०-स० द० सं०,३, पृ० ८०; द्र०—सुखबोधा नाम तत्त्वार्थवृत्तिः, पृ० ७–८; १७६ ।
५. The Synthesis of Yoga, (Shri Aurbindo Birth Centenary Library Publication, Vol. 20, p. 3), "All methods grouped under the common name of Yoga are special Psychological processes founded on a fixed truth of Nature and developing out of normal functions, powers and results which were always latent but which are ordinary movements do not easily or do not often manifest."
६. कौण्डिन्याचार्यरचितं पञ्चार्थभाष्यम्, पृ० ६

अनधिकारकृतत्वाद् वियोगस्य। वियुक्तस्यैव च संयोग उपदिश्यते। विषयरक्तविरक्तवत् क्रियायोगे। इह तु समाधिलक्षणे योगे संनियम इति।' ......'तत्र योगपदेन चर्यापरः क्रियायोगो व्याख्यातः।

आर्हतदर्शने कायवाङ्मनस्कर्माणि योगपदेन व्याख्यातानि। त एवास्रवपदाभिहितानि वर्तन्ते, येषां संवरनिर्जराभ्यां हानिः सम्पाद्यते। यदुक्तम्—

आस्रवो भवहेतुः स्यान्निर्जरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती मुष्टिरन्यदस्याः प्रपञ्चनम्॥

आर्हतविचारवत् सौगतशासनेऽपि योगपदमविद्याऽऽस्रव-संयोजनौघप्रहाणपदवाच्यं चित्तकालुष्यराहित्यपर्यायतया परिगृहीतम्। एतस्यैव तत्त्वकदम्बकस्य सामान्यं नाम क्लेश इति।[1] अस्यैव क्लेशजालस्य उपशमाय सर्वा सौगतऽऽचारपरम्परा चित्तशोधनसरणिश्चाङ्गीकृता। शीलमेव तत्र विशुद्धिमार्गाङ्गत्वेनाङ्गीकृतम्।[2] एत एव भावा निचितास्तत्र तत्र निकायग्रन्थेषु। तदभिहितं संयुत्तनिकायशासने बुद्धभगवत्पादैरपि—

सब्बदा सीलसम्पन्नो पञ्ञवा सुसमाहितो।
आरद्धविरियो पहितत्तो ओघं तरति दुत्तरन्ति॥
(सं० नि० पा० टे० सो० १।५३)

तथा धर्मपदेऽपि समुदानीतम्—

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे एस मग्गो विसुद्धिया॥ (२।५)

अयं चित्तोपक्लेशनिवृत्तिपरो विशुद्धिमार्गः ध्यानप्रज्ञासंवलितः चित्तदौष्ठुल्यविधुरितः निर्वाणगामीति सर्वत्र सौगतसिद्धान्तेषु स्वीकृता सरणिः। मानवानां शीलसमुदाचारेण कर्म-विद्या-धर्मैश्च जीवनस्य चेतसश्च शोधनं भवति। यदुक्तं मध्यमनिकाये—

कम्मं विज्जा च धम्मो च सीलं जीवितमुत्तमं।
एतेन मच्चा सुज्झन्ति न गोत्तेन धनेन वा'ति॥ ३।२६२)

स्थविरदर्शने शीलप्रतिष्ठितमानवस्य चित्तप्रज्ञाभावनया निर्वाणसमधिगमः स्वीकृतः। तत्र सोपधिशेषनिर्वाणं निरुपधिशेषनिर्वाणं चेति द्वितयं समर्थितम्।

अस्यां योगतत्त्वनिरूपणशृङ्खलायां स्थविरसम्प्रदाये प्रामुख्येनैते विषयाः समुपबृंहिताः, तेषां निरूपणञ्च कृतं तत्र तत्र ग्रन्थेषु—

चित्तम्, चित्तोपक्लेशाः, चैतसिका धर्माः, चित्तक्लेशोपशमः (चित्तास्रवनिरोधो वा), समापत्तिः, ध्यानचतुष्टयम्, तद्द्वारेण निर्वाणाधिगमश्च।[3]

---

१. अभिधर्मदीपः, पृ० २१९-२२०। 　२. द्र०—विसुद्धिमग्गो, सीलनिद्देसो।
३. एतदर्थं द्रष्टव्यम्—अनिरुद्धाचार्यरचितोऽभिधम्मत्थसङ्गहो।

एतस्याः सौगतयोगपरम्पराया मूलं यद्यपि त्रिपिटकेषु विशकलितरूपेण यत्र तत्र दरीदृश्यते, किन्तु त्रिपिटकेषु परवर्तिसाहित्यस्थानीयानां ग्रन्थानां वर्णनासु सम्बद्धरूपेण योगतत्त्वानि संबहुलानि वर्णितानि सङ्केतितानि वा विद्यन्ते। यद्यपि निकायेषु तत्र तत्र समाधिस्थानीयानां धर्माणां चित्तक्षेपलक्षणानां चैतसिकानां च परिग्रहो वर्तते, किन्तु धर्मसङ्गण्यामेव प्रथमं योगतत्त्वानां चैत्तिकशुद्धिनिमित्तानां विधिवत् परिगणनं समुपलभ्यते। समासतो धर्मसङ्गण्यां चित्त-चित्तविक्षेपकरधर्म-चित्तोपक्लेशनिवृत्तिपरधर्म-भावनाप्रहातव्यधर्म-लौकिक-लोकोत्तरसमाध्यङ्ग-बोध्यङ्गानां विस्तरेण विवृतिरनेकशः समुपलभ्यते। धातुकथापुद्गलप्रज्ञप्तौ च चैतसिकधर्मपरिग्रहपूर्वकं पुद्गलभेदाः परिकीर्तितास्तेषां विशेषाश्च वर्णनविषयतामापुः।

एतच्च बौद्धयोगतत्त्वकदम्बकं परवर्तिषु अभिधर्मकृतिष्वभिधर्मावतारादिषु विशदरूपेण समुपन्यस्तस्वरूपं सत् कालान्तरे लुप्तप्रायमासीत्। अस्याः परम्पराया विशदः समुपन्यासः बुद्धघोषाचार्याणां विशुद्धिमार्गाभिधाने ग्रन्थे, स्वमूलस्वरूपे लुप्तप्राये उपतिष्याचार्यरचिते विमुक्तिमार्गे च समुपलभ्यते। स्थविरचिन्तनसरणिमनुसृत्यैतयोर्ग्रन्थयोः शीलविशुद्धि[1]-धुताङ्ग-कम्मंस्थान-षडनुस्मृति-ब्रह्मविहार-आरूप्य-समाधि-ऋद्धिविधि-अभिज्ञा-स्कन्धधात्विन्द्रियसत्य-दृष्टिविशुद्धि-प्रतिपज्ज्ञान-मार्गामार्ग-दर्शनविशुद्धि-प्रज्ञाभावनाकारेण पिटकानुगतयोगचर्याविधीनामुपन्यासः सविशेषतयाऽभिधर्मदृष्ट्या कृतः। निकायार्थकथास्वन्यासु पिटकाङ्गार्थकथासु चाप्याचार्यैरेषामङ्गानां भृशमुपन्यासः कृतः। अत्र मूलत्वेन शीलविशुद्धि-नैरात्म्य-प्रज्ञा-समाधिभावना-चित्तशोधन-प्रतीत्यसमुत्पादभावनादितत्त्वानि समुपबृंहितानि। तदुपर्येव योगप्रासादः समुत्थापितः।

अनन्तरं च विभाषामूलमङ्गीकृत्य वसुबन्धुराचार्योऽभिधर्मकोशशास्त्रं ग्रथितवान्, सङ्घभद्रश्च न्यायानुसारशास्त्रं न्यबध्नात्। अन्यानि च अभिधर्मदीप-समयप्रदीपाऽभिधर्मामृताऽभिधर्महृदयादिशास्त्राण्यपि निबद्धानि। सर्वत्रैवात्र स्थविराभिधर्मप्रभावः संलक्ष्यते क्वचिच्च स्वतन्त्रा विचारा अपि प्रकाशिताः। एतेषां योगचर्यासु प्रवृत्ता भेदप्रणाली नात्र विचारणाविषया। किन्तु सर्वत्र लौकिकलोकोत्तरसमाधि-शिक्षात्रय-नैरात्म्यभावना-प्रतीत्यसमुत्पादाऽशुभ-प्रज्ञा-दुःखानित्यभावनामूलकमेव चित्तोत्पादनं तत्परिष्कारचर्याविधिश्च प्रामुख्येन समुपबृंहितः।

---

१. अस्माभिः 'विमुत्तिमग्गो' ग्रन्थस्य प्रथम; परिच्छेदः शीलवर्णनात्मकः पालिभाषायां पुना रचितः।

[३]

योगाचारपरम्परासु चायं योगचर्याविधिः चित्तशोधनव्यापारप्रणाल्या समुपबृंहितः । तत्र शतधर्माश्चैतसिका विवृताः,[१] येषां परिशोधनेन समवाप्त्या वा चित्तशुद्धिः समुपजायते । योगाचाराणामियं योगप्रणाली महायानसूत्रानुसारिणी दशभूमि-पारमितादिनयानुगतेति नात्र काचन वैमत्यदृष्टिः । अनास्रवधर्मकायावाप्ति-विमलचित्तस्वरूपाधिगमपूर्वकं निर्वाणसमधिगमस्तथतासाक्षात्कारश्च तत्र योगचर्यायाः परमं फलम् ।[२]

योगाचाराणां चर्यासु मूलभित्तित्वेनाऽऽभिधार्मिकाणां चर्यापद्धतिरङ्गीकृता ।[३] तस्मात्तेषां सम्प्रदायेऽपि अभिधर्मसङ्ग्रहो वर्तते, तत्र स्वीकृता चर्या प्रायशः स्थविर-वैभाषिकचर्याया नाधिकं भिन्ना, यद्यपि तत्र तत्र केचन सिद्धान्तभेदास्समनुगता दृश्यन्त एव ।[४]

योगाचारभूमिपरम्परा असङ्गाचार्यात्प्रागपि विद्यमानाऽऽसीदिति चीनदेशीय-बौद्धपरम्पराभ्यो ज्ञायते ।[५] तत्र सङ्घरक्ष-बुद्धमित्रप्रभृतीनामन्येषां बौद्धाचार्याणां योगाचारभूमिग्रन्थानां समुल्लेखः प्राप्यते । योगाचारभूमिपदेनात्र योगाचाराणां प्रक्रियया निर्वाणसमधिगमाय नैकासु भूमिषु साधनचर्यापरिपूरेः समवाप्त्यतया चर्यायाः परिनिष्ठा, तन्मुखेन विमुक्तिलाभो भवतीति ज्ञेयम् । तत्रासङ्गस्य प्रस्तुते योगाचारभूमिग्रन्थे सप्तदशभूमिषु चर्यापरिपूर्तिं विधाय निर्वाणसमधिगमाय मार्गो देशितो, येन विमलचित्तपूर्वकमनास्रवविज्ञानधातोः समधिगमः करणीयः । अत्र सर्वत्र महायानमार्गानुसारेण चर्याङ्गीकृता, तत्परिपूरये च साधनमार्गः समनुदेशितः ।[६]

---

१. द्र०—शतधर्मविद्यामुखम्, सर्वास्तिवादि पञ्चवस्तुकशास्त्रम्, परिशिष्टम्, पृ० ४९-५० ।

२. तु०—मध्यान्तविभागः, ४।१९-२२; म० वि० भा०, पृ० ५०-५१ ।

३. तु०—अभिधर्मसमुच्चयः प्रह्लादप्रधानसम्पादितः, भूमिका, पृ० २२ ।
T. R. Skherbatsky, Conception of Buddhist Nirvana. Intro.

४. अ० स०, भूमिका, पृ० २२ ।

५. E. Lamotte, Historic du Buddhisme Indien, PP. Alx Wayman, Analysis of the Sravakebhumi Manuscript, P.

६. See, Nalinaksa Dutta, Intro. to Bodhisattvabhumi, P. 3–7; K. Shukla, Intro. to Sravakabhumi, P. 2.

मैत्रेयाचार्यपादानां पट्टशिष्यभूत आर्यासङ्गः[१] महायाने दीक्षाग्रहणात् प्राक् सर्वास्तिवादान्तर्गत-महीशासकनिकायमङ्गीचकारेति चीनदेशीयबौद्धपरम्परासु अङ्गीकृतम् ।[२] तदनुसारेणैव च तेन योगाचारभूमीनां बोधिसत्त्वभूमेरितरभूमीनां परिवर्णनं चकार । किन्तु नैतासु भूमिवर्णनासु कश्चिद् भेदो विशेषो वा संलक्ष्यते, येनैतासु महायानविरोधिता हीनयानानुगामिता वा परिदृश्येत । पञ्चविज्ञानसम्प्रयुक्तभूमेः श्रावकभूमिपर्यन्तञ्चासङ्गदर्शनस्य यौगाचारीयस्याभिधर्ममूलकता सर्वथा परिलक्षिता भवति । एतद्धि बोधिसत्त्वभूमौ आचार्येण नासकृद् व्यवस्थापितम्, यत् श्रावक-याननयेन चर्यामूलं परिगृह्य बोधिसत्त्वः २० महायानाभिमुखो भूत्वा चर्यासाधनं कृत्वा विमुक्तो भवति ।

तस्माच्छ्रावकभूमौ परिगृहीतानि योगतत्त्वानि चर्याङ्गानि च न श्रावकयान-नयेनैव सर्वथाङ्गीकृतान्यपि तु महायानानुसारिणी हि एषा श्रावकभूमिचर्यापद्धतिः, या खलु आभिधार्मिकमूलतयाऽङ्गीकृता ।

श्रावकभूमौ योगसाधनत्वेन परिवर्णितासु बह्वीषु चर्यासु नैके धर्माः परिगणिताः चित्तशुद्धिनिमित्तकाः, येषु प्रव्रज्याशीलेन्द्रियसंवरद्वयं च मुख्यतया परिगृहीतानि ।[३] परसम्पदि परिगृहीतेषु तत्त्वेषु प्राविवेक्यम्, सम्प्रजानद्विहारिता, निवरणविशुद्धिः, समाधिसन्निश्रयश्चैते धर्माश्चित्तशोधनार्थं स्वीकृताः । तत्र चरमः समाधिसन्निश्रयाख्यो धर्मः चित्तैकाग्रतापरपर्यायः योगसाधनत्वेनाङ्गीकृतः ।[४]

श्रावकभूमौ चित्तपरिकर्मनिमित्तत्वेन कतिपये धर्माः परिगृहीताः, यैर्योगाचारो योगनिमित्तस्य भावनायै योगमनस्कारमुद्गृह्णाति ।[५] ध्यानचतुष्टयसाधनेन भावनया च लोकोत्तरधर्माणां योगी चित्तशोधने दत्तावधानः समाहितचेतसा उपक्लेशान् सर्वान् क्षिणोति श्लथयति च कर्मबन्धनानि । आनुपूर्व्येण स योगी चत्वारि ध्यानानि सम्पाद्या-नैकशो धर्मान् 'उत्तरोत्तरान्विशिष्टान् विशिष्टतरान् विशिष्टतमान् प्रत्यग्रानात्मसम्पत्-

---

१. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली, पृ० ५०६ आर्यासङ्गमनङ्गजिन्नयवहो यद्भूपतीशोऽन्वशादाचार्यो वसुबन्धुरुद्धुरमतिस्तस्याऽऽज्ञयाऽऽदिद्युतत् । दिग्नागोऽथ कुमारनाथविहिताऽसामान्यसाहायकस्तस्मिन् वार्त्तिकभाष्यकारकृतिनोरद्यानवद्या स्थितिः ॥ Intro. to Sravakabhūmi, P. 22 किन्तु, द्र० देमेविल्ले, Befeo, 4, 41, P. 386.

२. Alex waymans Analysis of Sx Sravakabhumi Manuscript, P. 25-28 Sq. K. Shukla, Intro, to Sravakabhūmi, P. 22-25.

३. श्रावकभूमिः, पृ० ६ । ४. तत्रैव पृ० ६–९ ।

५. तत्रैव, पृ० १०. गोत्रव्यवस्थानांशो द्रष्टव्यः ।

पूर्वान् समाधिसन्निश्रयपर्यंबसानान् समुदानयति । एवं परिशुद्धे चित्ते पर्यवदाते अनङ्गणे
विगतोपक्लेशे ऋजुभूते कर्मण्ये स्थिते आनेञ्ज्यप्राप्ते स चेच्चत्वार्यार्यसत्यान्यारभ्य
तेषां परिज्ञायै प्रहाणाय साक्षात्क्रियायै भावनायै परतो घोषमववादानुशासनीं प्रति-
लभते, एवमसौ भव्यो भवति प्रतिबलश्च योगनिमित्तस्य मनस्कारस्योत्पादनाय।
तत्पूर्विकायाश्च सम्यग्दृष्टेर्यया चत्वार्यार्यसत्यान्यभिसमागच्छति। विमुक्तिञ्च परि-
पूरयति । निरुपधिशेषे निर्वाणधातौ परिनिर्वाति ।

इति तत्रोक्तम् ।[1] गोत्रव्यवस्थाने च परिनिर्वाणाय योगाचारस्य निर्वाणाभि-
मुखताऽङ्गीकृता सर्वथा वेदितव्या ।[2] नैष्क्रम्यभूमौ चाचार्येण लौकिकलोकोत्तरवैराग्य-
तदुभयसम्भारश्च योगाङ्गत्वेन परिगृहीतः, येन योगी दुस्तरं क्लेशजालं छित्त्वा ध्यानं
समुद्गृह्णाति ।[3]

तत्र लौकिकेन मार्गेण चत्वारि ध्यानानि भावयित्वा, लोकोत्तरेण मार्गेण
चतुर्णामार्यसत्यानां भावनामुखेन योगी 'त्रैधातुकेभ्यो दर्शनभावनाप्रहातव्येभ्यो धर्मेभ्य
आत्मानं विसंयोजयति विमोचयत्येवं चासौ त्रैधातुकसमतिक्रान्तो भवति ।[4] सत्काय-
दृष्टिं प्रहाय योगी परसम्पदङ्गभूतानि कुशलधर्मच्छन्द-शीलसंवर-भोजने मात्रज्ञता-
जागरिकानुयोग-सम्प्रजानन्-विहारिता-कल्याणमित्रता-सद्धर्मश्रवणचिन्तनान्तरायत्याग-
श्रमणालङ्कारतत्त्वानि चर्याङ्गतया अभ्यस्यति ।[5]

अत्र चर्यायां प्रथमं शीलसंवरसंवृतो योगी भावयति तत्त्वानि, यैस्तस्य चित्तं
सुविशुद्धं विमलं च सम्पद्यते ।[6] भिक्षोरगोचरान् परिवर्ज्य गोचरेषु विहरन् योगी
आचारसम्पन्नः अणुमात्रेष्ववद्येषु भयदर्शी समादाय शिक्षते शिक्षापदेषु ।[7] शीलसंवर-
वदिन्द्रियसंवरोऽपि चित्तपरिकर्मपद्धतावङ्गीकृतः। इदं च शीलं मूलत्वेन चित्तोपशमस्य
धृतम् । तदुक्तम्[8]—

सुप्रतिष्ठितमूलः स्याच्चित्तस्योपशमे रतः ।
संयुक्ता च विसंयुक्ता दृष्टचदृष्टचार्यपापया ॥

अनेन च क्रमेण कायिकवाचिक-मानसकर्मशोधनमपि भवति । यदुक्तं राहुल-
मारभ्य भगवता[9]—

---

१. तत्रैव, पृ० १० ।
२. द्र०—म० म० प० उमेशमिश्राणामभिनन्दनग्रन्थेऽस्माभिः पुनर्विरचितगोत्रभूमेरंशः, पृ० १३३–१३५ ।
३. श्रावकभूमिः, पृ० २१, ९३ ।
४. तत्रैव पृ० २१ ।
५. द्र०—उमेश मिश्र अ० ग्रं०, पृ० १३१=३३; श्रावकभूमिः, (प्रथमं योगध्यानम्) ।
६. श्रावकभूमिः, पृ० २२–३५ ।
७. तत्रैव पृ० २४–२५ ।
८. श्रावकभूमिः, पृ० ३० ।
९. तत्रैव, पृ० ३३ ।

कायकर्माथ वाक्कर्म मनस्कर्म च राहुल ।
अभीक्ष्णं प्रत्यवेक्षस्व स्मरन् बुद्धानुशासनम् ॥
एतच्छ्रामणकं कर्म अत्र शिक्षस्व राहुल ।
अत्र ते शिक्षमाणस्य श्रेय एव न पापकम् ॥

शीलसंवरवदेव रागादीनां चित्तानुस्रवणविगमाय, सङ्क्लेशप्रहाणाय इन्द्रिय-
संवरोऽपि देशितो, येन निमित्तग्राहानुव्यञ्जनग्राहयोः प्रहाणं भवति ।[1] तदेव च योगस्य
चरमं लक्ष्यभूतं तत्त्वम्, यस्य पर्यवसितं क्लेशानामप्रवृत्तौ, विरागे, निरोधे, निर्वाणे च
भवति । अयमिन्द्रियसंवरस्तत्र द्विधा दृष्टः—प्रतिसंख्यानबलसंगृहीतो भावनाबल-
संगृहीतश्च ।[2] अनेन भावितेन निवरणानां विशुद्धिर्भवति, आवरणीयेभ्यो धर्मेभ्यश्च
चित्तस्य परिशोधना सञ्जायते ।[3]

अस्या आवरणीयधर्मेभ्यश्चित्तपरिशोधनाया अनेकान्यङ्गानि—तद्यथा दक्षिण-
पार्श्वे सिंहशय्याकल्पनम्, पूर्वरात्रापररात्रौ जागरिकानुयुक्तता, विविधाचारेषु सम्प्र-
जानद्विहारिता, कल्याणमित्रतासमधिगमः, त्यागादिश्रमणालङ्काराणां अभ्यासो, येभ्यः
चित्तं विगतोपक्लेशं विमलं प्रभास्वरं अनङ्गणं च सञ्जायते ।[4]

विशुद्धं विमलं चित्तं अनेकपर्यायैः निमित्तमुद्गृह्णाति । तानि निमित्तानि
विविच्य गृहीत्वा, परिवर्ज्य, विनीय वा व्याप्यालम्बनपूर्वकं चरितविशोधनमालम्बनं
कौशल्यालम्बनं क्लेशविशोधनालम्बनं च भावयितव्यम् ।[5] अस्मिन् विषये अशुभा,
मैत्री, प्रतीत्यसमुत्पाद-धातुस्कन्धप्रभेद-आनापानस्मृतिभावनामुखेन योगाचारः सर्व-
धर्मेषु नैरात्म्यभावनां समधिगम्य तेषां निःस्वभावत्वं सापेक्षत्वमनित्यत्वमशुभत्वं च
प्रतिपद्यते ।[6] षोडशाकाराऽऽनापानस्मृतिचर्यया योगी चत्वारि ध्यानानि समापन्नो
भवति । इयमापानस्मृतिराश्वासप्रश्वासनिबन्धनेति पातञ्जलयोगप्रोक्त 'प्रच्छर्दन-
विधारणाभ्याम्' वा प्राणस्ये'[7] ति प्रोक्तस्य प्राणायामेन चित्तपरिकर्मसिद्धान्तस्य
तुलनामारोहति । एवमाश्वासप्रश्वासात्मकतां योगचर्याया अङ्गीकृत्यैव योगाचार-
दर्शनस्थसाधनपद्धतिभूमिराविष्कृतेति व्यवस्थापितम् ।

एतदनन्तरं श्रावमभूमौ चत्वारि योगस्य योगकरणीयानि समाख्यातानि ।
तद्यथा—आश्रयनिरोधः, आश्रयपरिवर्तः, आलम्बनपरिज्ञानम् आलम्बनाभिरतिश्चेति ।

---

१. तत्रैव, पृ० ३८–४० ।
२. तत्रैव, पृ० ४१ ।
३. तत्रैव, पृ० ४१ ।
४. द्रष्टव्यम्—श्रावकभूमेः प्रथमं योगस्थानम् ।
५. श्रावकभूमिः, पृ० १०८ ।
६. तत्रैव, पृ० ११५–१२५ ।
७. योगसूत्रम्, १।३४ ।

एतैः 'आश्रयविशुद्धिमधिपतिं कृत्वा सुविशुद्धमालम्बनज्ञानं कार्यपरिनिष्पत्तिकाले प्रवर्तते अभिरतिश्च ।'[1]

योगभावनायाः पक्षद्वयमङ्गीकृत्य आर्यासङ्गेन संज्ञा-बोधिपक्ष्यभावनात्मक-मङ्गद्वयं विवृत्य सांवृतभावनामादीनवसंज्ञां प्रहाणविरागनिरोधसंज्ञाभावनाद्वारेण धर्माणामनित्यत्वं शून्यत्वं च समुपपाद्य शमथविपश्यनाकारेण योगभावना व्याकृता ।[2] एतदनन्तरं च सप्तत्रिंशतो बोधिपक्ष्याणां धर्माणामभ्यासः प्रपञ्चितः ।[3] तद्यथा, चतुर्णां स्मृत्युपस्थानानाम्, चतुर्णां सम्यक्प्रधानानामृद्धिपादानां पञ्चानामिन्द्रियाणां बलानां सप्तानां बोध्यङ्गनामार्याष्टाङ्गस्य च मार्गस्य ।[4]

एतैः चित्तशुद्धिपूर्वकमुपक्लेशानां परिक्षयो भवति, चित्तं च प्रगृहीतं प्रवर्तते। श्रुतप्रज्ञाभावनामयीभिरनुपश्यनाभिः सर्वंदृश्यं योगी सम्यगेवानित्यतयाऽनात्मतया दुःखतया शून्यतया च निश्चिनोति ।[5] एतस्मिन् प्रसङ्गे चित्तप्रभेदाः तद्धधर्माश्च विविधा आख्याता[6] येषां व्याकरणं भावना च चित्तौद्धत्य-दौष्ठुल्ययोर्निवारकमिति क्रमेण सर्वाण्यङ्गानि बोधिपक्ष्यानि भावितानि वर्तन्ते, येन शमथविपश्यनाद्वारेण सप्तविधं चित्तचाञ्चल्यव्युपशमनिमित्तकं साधनं चित्तप्रग्रहरूपं समुपलभ्यते । एवमेव च छन्द-वीर्य-चित्त-मीमांसासमाधिभ्यः, ऋद्धिपादाभ्यासेन च चित्तलेशविगमः बोधि-समधिगमश्च भवति ।[7]

प्रसङ्गेन चात्र योगाचाराणां विविधाः प्रभेदाः[8] योगभ्रंशस्य[9] च स्वरूप-माख्यातम् । किन्तु नैतत् तादृग् योगसाधनविधौ उपकारकं यादृग् ध्यानचतुष्टयमुखेन साधनाचर्याऽऽदिकर्मिकस्य वा पुद्गलस्य चर्या उपकारिका भवति । आदिकर्मिकयोगा-चारस्य चर्या शून्याऽनात्मदु.खरूपतायाश्च सांवृतधर्माणां विशदरूपेण व्याकृता ।[10]

अस्मिन् योगविषये श्रुतप्रज्ञाभावनामुखेन ध्यानाभ्यासपाटववशात् सातत्य-सत्कृत्यकारितया तीव्रच्छन्दतासमुत्पादनेन अभीक्षणप्रत्यवेक्षणाद् द्विधा योगबलाधानता लब्धा भवति, प्रकृत्यैव च तीक्ष्णेन्द्रियतया, दीर्घकालाभ्यासपरिचयेन च ।[11] अस्मिन् योगाभ्यासपाटवे योगिनो वैराग्यभावः जगद्विषयेऽनित्यतादुःखाशुभताशून्यताभावाश्च सततमुपकारकाः सन्तः तस्य क्लेशोपशमाय बोधिसमधिगमाय च समर्था इति नास्ति कश्चित् सन्देहावकाशोऽत्र ।

---

१. श्रावकभूमिः, पृ० १६४ । २. पृ० १६५ । ३. पृ० १६७ ।
४. पृ० १६८ । ५. पृ० १७०–१८२ । ६. पृ० १७१–१७३ ।
७. द्र०–टि० ४४, ४५, पृ० १५०–१६५ । ८. पृ० १६४ । ९. पृ० १५८ ।
१०. द्रष्टव्यम्—श्रावकभूमौ तृतीयं योगस्थानम् । ११. श्रावकभूमिः, पृ० १५७ ।

[४]

एवं श्रावकभूमौ निर्दिष्टस्य योगसम्भार-योगसाधनमार्गस्य च न केवलं सौगत-योगसाधनपरम्परायां विशिष्टं स्थानं वर्तते, किन्तु प्रस्थानान्तराङ्गीकृतयोग-पद्धतिभ्योऽप्यस्य विशेषो वर्तते । पातञ्जलयोगसाधने ध्यानं योगाङ्गत्वेन परिगृहीतम्, योगस्याष्टावङ्गानि तत्र परिवर्णितानि, सबीजनिर्बीजसमाधिद्वितीयश्च तत्र समर्थितम्, क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टस्येश्वरस्यापि चर्चा तत्र कृता, किन्तु नात्र कश्चिदीश्वर-तत्त्वविशेषः, पुरुषो वाऽऽत्मा वा चितिशक्तिरूपतया चिन्तितः । अत्र तु तथागतदेशिता लौकिक-लोकोत्तर-मार्गप्रणाली सांवृतधर्माणां दुःखानात्मशून्याशुभताबोधेन प्रतीत्य-समुत्पादादिभावनामुखेन च प्रवर्तितनिःसरणात्मकेन विधिना समालोच्य परिगृहीता, यथा निषेधमुखेन क्लेशोपशमनिमित्तः बोधितत्त्वावतारः सम्भवति । एवमेव पाशुपत-दर्शने य आत्मेश्वर-संयोगो योगपदेनाभिहितो सोऽप्यत्र नावश्यकतया प्रवर्तत इति योगाङ्गानामत्र समावेशोऽन्यप्रकारेणैव सम्भवति । नात्र जैनपरम्परास्वीकृतनिर्जर-मार्गोऽपि मध्यमाप्रतिपदङ्गतया परिगृहीत इत्यस्य योगमार्गस्य मूल्यं महत्त्वञ्चैताभि-र्दृष्टिभिः परिनेयम् ।

• • •

बौद्ध-पातञ्जलयोगयोः ध्यानविमर्शः

डॉ० रामसुरेशत्रिपाठी

बौद्धदर्शने पातञ्जलदर्शने च ध्यानं बहुधा चर्चितमस्ति। बौद्धदर्शने ध्यानस्य व्यापकं विवरणं समुपलभ्यते। तस्यैव किञ्चित् परिष्कृतं रूपं पातञ्जलयोगे दृश्यते। ध्यानविषयकाः ये पारिभाषिकाः शब्दाः योगसूत्रे व्यासभाष्ये च व्यवहृताः सन्ति, ते प्रायेण सर्वे प्राचीनतरेषु बौद्धग्रन्थेषु प्रयुक्ता दृश्यन्ते।

बौद्धदर्शनपातञ्जलदर्शनयोः ध्यानस्य स्वरूपविषये नास्ति महान् भेदः। केवलं ध्यानस्य भूमीनां विवरणे भिन्ना सरणिः दृश्यते। उभयोः दर्शनयोः चित्तस्यावस्था-विशेष एव ध्यानपदेनोच्यते। योगसूत्रे ध्यानस्य लक्षणं धारणापूर्वकं निर्दिष्टमस्ति। बौद्धदर्शने तु धारणायाश्चर्चा प्रायेण न दृश्यते। समाधिरपि ध्यानव्यतिरिक्तरूपेण न प्रतिपादितोऽस्ति।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिरिति योगसूत्रम्। ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्य एकतानता सदृश-प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्। तदेव ध्यानं ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयस्वभावावेशात् तदा समाधिरित्युच्यते[1] इति व्यासभाष्यम्।

तत्र द्वादशप्राणायामकालपरिच्छिन्ना धारणा, द्वादशधारणाकालं च ध्यानमिति केचित् वदन्ति।[2]

वसुबन्धुस्त्वभेदेन कुशलचित्तैकाग्रता ध्यानमिति मन्यते[3]। समाधिस्वभावता चास्य स्वीकरोति। तस्य मते ध्यायन्त्यनेनेति ध्यानम्। प्रजानन्तीत्यर्थः। समाहित-चित्तस्य यथाभूतप्रज्ञानात्। चिन्तनार्थो ह्येष धातुः। चिन्तनं च प्रज्ञेति सिद्धान्तः[4]। एकाग्रता च एकालम्बनता। चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिरिति केचित् बौद्धाः मन्यन्ते। केचित्तु न चित्तान्येव समाधिः, येन तु तान्येकाग्राणि वर्तन्ते स धर्मः समाधि-रित्याहुः। स च प्रकर्षयुक्तः समाधिः ध्यानश्चेति व्यवह्रियते।

---

१. व्यासभाष्यम् ३।१-३।
२. भावागयेशषमं ३।१, १।
३. अभिधर्मकोशः ८।१ पृ० ४३२।
४. अभिधर्मकोशः पृ० ४३३।

बौद्धदर्शनेषु द्विविधं ध्यानं प्रतिपादितमस्ति। उपपत्तिध्यानं समापत्तिध्यानं च। कदाचित् कुशलाकुशलरूपेण, कदाचित् क्लिष्टाक्लिष्टरूपेणापि द्विविधत्वं प्रति-पादितं दृश्यते। तत्र—

वेदना चेतना संज्ञाच्छन्दः स्पर्शो मतिः स्मृतिः।
मनस्कारोऽधिमोक्षश्च समाधिः सर्वचेतसि॥[1]

इत्युक्तदिशा इमे दश धर्माः सर्वत्र चेतसि भवन्ति।

श्रद्धाऽप्रमादः प्रश्रब्धिरुपेक्षा ह्रीरपत्रपा।
मूलद्वयमहिंसा च वीर्यं च कुशले सदा॥[2]

इति इमे दश धर्माः कुशले चेतसि भवन्ति। दश महाभूमिका दश कुशलमहा-भूमिका वितर्को विचारश्च इति द्वाविंशतिश्चैतसिकाः धर्माः श्रूयन्ते। एवं मोहादयः क्लिष्टे, अनपत्रपादयः अकुशले चेतसि भवन्ति। एतेषां सर्वेषां धर्माणां क्वचिन्निरोध-रूपेण क्वचित् विकासरूपेण ध्यानेन सह सम्बन्धोऽस्ति।

अभिधर्मकोशे चत्वारि समापत्तिध्यानानि प्रतिपादितानि सन्ति। तत्र प्रथमं ध्यानं विचारप्रीतिसुखसंयुक्तं कुशलमैकाग्र्यम्। विचारशब्देनात्र वितर्कोऽपि गृह्यते। द्वितीयं ध्यानं विचारविवर्जितं प्रीतिसुखवद् भवति। तृतीयं ध्यानं विचारप्रीतिवर्जितं सुखवद् भवति। विचारप्रीति-सुखवर्जितं चतुर्थं ध्यानं भवति। एतान्येव ध्यानानि पातञ्जलयोगभाष्ये सम्प्रज्ञातसमाधिरूपेण व्यवहृतानि सन्ति। आरुप्या अप्येवं भवन्ति। तत्र चतुर्थध्यानविवेकजं ह्याकाशानन्त्यायतनम्। तद्विवेकजं विज्ञानानन्त्यायतनम्। तद्विवेकजमाकिञ्चन्यायतनम्। तद्विवेकजं नैव-संज्ञानासंज्ञायतनमित्येवं चत्वार आरुप्याः।[3]

लोकोत्तरसमापत्तिद्रव्याणां ध्यानान्येव भवन्ति, नारुप्याः। तत्र प्रथमे ध्याने पञ्चाङ्गानि भवन्ति। अत एव पञ्चाङ्गं ध्यानमित्युच्यते। वितर्को विचारः प्रीतिः सुखं चित्तैकाग्रता चेत्येतानि पञ्चाङ्गानि।

अध्यात्मसम्प्रसादः, प्रीतिः, सुखम्, चित्तैकाग्रता चेति चत्वार्यङ्गानि द्वितीये ध्याने भवन्ति। वितर्कविचारक्षोभविरहात् प्रशान्तवाहिता सन्ततेरध्यात्मसम्प्रसादः।[4] सोर्मिकेव हि नदी वितर्कविचारक्षोभिता सन्ततिरप्रसन्ना वर्तते। तस्या एव प्रसादः अध्यात्मसम्प्रसाद इत्युच्यते। केषाञ्चित् मते श्रद्धा प्रसादः।

उपेक्षा स्मृतिः सम्प्रज्ञानं सुखं समाधिश्चेत्येतानि चत्वारि तृतीये ध्याने भवन्ति। समाधिशब्देनात्र स्थितिः गृह्यते।

---

१. अभिधर्मकोशे २।२४, पृ० ५४।
२. अभिधर्मकोशे २।२५ पृ० ५५।
३. अभिधर्मकोशे ८।२ पृ० ४३४।
४. अभिधर्मकोशे ८।८ पृ० ४४०।

अदुःखसुखावेदना, उपेक्षापरिशुद्धिः, स्मृतिपरिशुद्धिः, समाधिश्चेत्येतानि चत्वार्यङ्गानि चतुर्थे ध्याने भवन्ति। संकलनेनाष्टादशाङ्गानि ध्यानस्य व्यवहृतानि सन्ति।

ध्यानमेव हि वितर्कासम्प्रयुक्तं ध्यानविशेषं समाधिः। स च प्रायेण त्रयः। सवितर्कः सविचारः समाधिः। अवितर्को विचारमात्रः समाधिः, अवितर्कोऽविचार-समाधिः। समाधिभावना सुखाय कल्पते। निर्मलाः समाधयः विमोक्षाय भवन्ति। शून्यताशून्यता, अप्रणिहिताप्रणिहितः अनिमित्तानिमित्तश्चेत्येते त्रयोऽपरसमाधय इत्युच्यन्ते। आस्रवक्षयाय यः समाधिः भवति, स वज्रोपमः समाधिः। प्रज्ञापार-मितादिषु अनेके समाधयः व्यवहृताः सन्ति। सर्वे ध्यानस्यैव सूक्ष्मप्रभेदाः।

योगसूत्रेषु ये उपायप्रत्ययाः समाधिपादेः निर्दिष्टाः सन्ति, तेऽपि सर्वे अभिधर्म-कोश-भाष्यादिषु तथैव प्रतिपादिताः सन्ति।

• • •

बौद्धपातञ्जलयोगयोः मिथः समीक्षणम्

रायोपाह्वा श्रीमती मधुश्रीः

इह खलु दुष्पारासारसंसारसागरसमुत्तरणासमर्थानां तत्समुत्थितविषमविषय-विषविषमीकृतचेतसां निखिलनिगमागमशास्त्रेषु प्रवेशासमर्थानां परमपुरुषार्थप्राप्तये सहजतरं पन्थानं निर्दिशति यत् शास्त्रं तत् खलु योगशास्त्रं नाम। सत्यपि मतभेदे पदार्थतत्त्वविश्लेषणेषु स्वकीयमतप्राधान्यस्थापनार्थं विपक्षवारणकेशरिणां दार्शनिकानां तत्त्वलाभार्थं यथायथयोगशास्त्रोक्तः प्रकारः समाश्रयणीय इत्यत्र नास्ति मतभेदः। अन्येषु शास्त्रेषु यत् सिद्धान्तितम्, तत् प्रायश एव प्रत्यक्षतः यद्यपि नोपलभ्येत, तथापि योगशास्त्रोक्तक्रमपरिग्रहात् या या विभूतयः सम्पद्यन्ते, सर्वेषामेव प्रत्यक्षसिद्धाः ता इति प्रत्यक्षफलदं योगशास्त्रम्। तस्मादेव आस्तिकनास्तिकादिविभिन्नानां सर्वेषामेव योगशास्त्रादरः समान एव। एवं स्थिते योगमाहात्म्ये पातञ्जलयोगबौद्ध-योगयोः स्वरूपप्रभेदादिविषयसमालोचनार्थं मुखरीकृतचेतसा अभिरूपभूयिष्ठायां परिषदि अस्याम् सभयं सश्रद्धं सविनयञ्च किञ्चित् प्रस्तूयते।

तत्र प्रथमं तावत् योगपदस्य कोऽर्थं इति विचार्यते। युज्धातोर्घञ्प्रत्ययेन निष्पन्नो योगशब्दः संयोगार्थकः समाध्यर्थकश्च। अत्र च प्रसङ्गात् समाध्यर्थक एव योगशब्दो ग्राह्यः। उक्तञ्च व्यासभाष्ये 'योगः समाधिः' इति। समाधिश्च चित्तस्यैव अवस्थाविशेषः। सम्यक् आधीयते इति व्युत्पत्त्या समाधिशब्दः चित्तैकाग्रतालक्षणः परिणामविशेषः बुध्यते। एतत्तु पातञ्जलाभिमतम्। एतन्मते चित्तं नाम बुद्ध्यहङ्कार-मनःसमष्टिवाचकम्। अतः त्रिगुणात्मकप्रधानविकारत्वात् त्रिगुणात्मकं चित्तम्। अन्तःकरणम् इति तु पर्यायः। तस्य च चित्तस्य सत्त्वरजस्तमसां परस्पराभिभाव्य-भावकरूपावस्थाविशेषात् पञ्च भूमयः वर्णिताः। तत्र क्षिप्तं नाम सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणम् अत्यन्तम् अस्थिरम्। मूढं नाम तमःसमुद्रेकात् निद्रावृत्ति-मत्। विक्षिप्तं क्षिप्ताद्विशिष्टं विशेषोऽस्थेमबहुलस्य कादाचित्कः स्थेमा। एकाग्रम् एकतानम्। निरुद्धसकलवृत्तिकं संस्कारमात्रशेषं चित्तं निरुद्धम्। एतासु भूमिषु प्रथमास्तिस्रः भूमयः न योगानुकूलाः। यद्यपि विक्षिप्ते चेतसि कादाचित्कः स्थेमा, तथापि विक्षेपबहुलत्वात् न योगपक्षे स वर्त्तते। उक्तञ्च श्रीमद्वाचस्पतिमिश्रैः पात-ञ्जलदर्शनतत्त्ववैशारदीटीकायाम्—"कादाचित्कः सद्भूतविषयस्य चित्तस्य स्थेमा न योगपक्षे वर्त्तते, कस्माद्? यतस्तद्विपक्षविक्षेपोपसर्जनीभूतः। विपक्षवर्गान्तर्गतस्य

स्वरूपमेव दुर्लभं प्रागेव कार्यंकरणम् । न खलु दहनान्तर्गतं बीजं त्रिचतुःक्षणावस्थितमुप्तमप्यङ्कुराय कल्पत इति भावः ।" अत एव एकाग्रनिरुद्धचित्तभूमी एव योगानुकूले । तत्र योगलक्षणञ्च 'योगः चित्तवृत्तिनिरोध' इति उक्तम् । वृत्तिर्नाम चित्तस्य विषयसम्बन्धात् विषयाकारपरिणामः । तासां चित्तवृत्तीनां निरोधः स्वकारणे लय एव योगः । वृत्तयस्तु प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः इति पञ्चविधाः । तासां निरोध एव योगः । तत्र यदि सर्वासां वृत्तीनां निरोधो योगः स्यात्, तदा सम्प्रज्ञातसमाधौ अव्याप्तम् । तत्र ध्येयाकारचित्तवृत्तेः सत्त्वात् । एतद्दोषभिया यदि यत्किञ्चित्वृत्तिनिरोध एव योगो भवेत्, तदा विक्षिप्ते चेतसि अतिव्याप्तिः । तत्रापि यत्किञ्चित्वृत्तिनिरोधसत्त्वात् । अतः क्लेशादिपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधो योग इति विवक्षितम् । यतः योगस्यैव पुरुषस्य स्वस्वरूपावस्थितिः फलमुक्तम् । सर्वासां वृत्तीनां निरोधे स्वस्वरूपावस्थानं सम्पद्यते पुरुषस्य । तथा च योगसूत्रम् 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमि'ति । अतः अनेन सूत्रेण सह एकीकृत्यैव योगलक्षणं विवक्षणीयम् । तथा च पुरुषस्य स्वस्वरूपावस्थितिकारणीभूतः चित्तवृत्तिनिरोधः योगः । क्षिप्ताद्यासु तिसृषु अवस्थासु क्लेशबाहुल्यात् तदा कथञ्चित् सम्पन्नस्यापि चितवृत्तिनिरोधस्य न योगत्वम् । अन्यत्र च अवस्थयोः क्लेशपरिपन्थित्वेन तथाविधचित्तवृत्तिनिरोधस्य योगत्वम् । तथा च निरुद्धसकलवृत्तिकं चित्तं निरोधसमाधिसम्पन्नं भवेत्, एतदेव परमो योगः ।

स च योगो द्विविधः—सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातश्चेति । यदा अभ्यासवैराग्याभ्यां ध्येयातिरिक्तविषयकचित्तवृत्तेः निरोधः, ध्येयविषयकचित्तवृत्तिप्रवाहः अविरलक्रमेण सम्पद्यते, अन्तरा अन्तरा च भिन्नविषयकवृत्त्यन्तरेण तत्प्रवाहच्छेदः न भवेत्, तदैव सम्प्रज्ञातो योगः । सोऽपि चतुर्विधः—वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितेति । तत्प्रकारभेदाश्च योगवार्त्तिके व्याख्याताः विज्ञानभिक्षुपादैः । ग्रन्थविस्तरभिया अत्र नोल्लिख्यते तत् ।

तत्रभवता तथागतेन प्रवर्तितो धर्मो, यो बौद्धधर्म इति नाम्ना व्यपदिश्यते, तत्रापि तात्त्विकांशे योगदर्शनाद् बहुत्र विरोधे सत्यपि साधनांशे योगदर्शनानुसारिण्यः भावनाः तत्रापि उपलभ्यन्ते । तथा हि योगो नाम अज्ञानविध्वंसनद्वारा सम्यग्ज्ञानाय शमथविदर्शनेतिसमाधिद्वयेन चित्तस्य विक्षेपावस्थायाः लयः । अत्र तु बौद्धयोगस्य पातञ्जलदर्शनेन अस्ति हि साम्यम् । तत्र तावत् बौद्धयोगस्य स्वरूपांशे फलांशे तथा साधनांशे च कुत्र पातञ्जलयोगसाम्यं कुत्र वा वैषम्यम्, तदधुना समासतः निरूप्यते ।

तथाहि बौद्धशास्त्रेषु निर्वाणोपायतया दर्शनमार्गस्तथा भावनामार्गश्च निर्देशितः । तत्र भावनामार्गो ध्यानमार्ग इति वा यो निर्दिश्यते, तत्र दुःखसत्यं

समुदयसत्यं निरोधसत्यं निरोधमार्गसत्यञ्चेति आर्यसत्यचतुष्टयं प्रपञ्चितम् । एतत् चतुर्व्यूहत्वं योगशास्त्रसाधारणम् । तथाहि योगशास्त्रेष्वपि "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" इति साधनपादीयेन सूत्रेण दुःखस्वरूपं विचारितम् । तादृशदुःखहानिरेव इष्टम् । तथा च सूत्रम्—हेयं दुःखमनागतम् । एवं भाष्येऽपि उक्तम्—"यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं रोगः, रोगहेतुः, आरोग्यं, भैषज्यमिति, एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहमेव, तद् यथा संसारः, संसारहेतुः, मोक्षः, मोक्षोपाय इति । तत्र दुःखबहुलः संसारो हेयः, प्रधानपुरुषयोः संयोगो हेयहेतुः, संयोगस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्हानम्, हानोपायः सम्यग्दर्शनम् ।" इति ।

एतावद् बौद्धवादसाम्ये सत्त्वेऽपि योगशास्त्रेषु सांख्यशास्त्रवत् शाश्वतवादमेव सम्यग्दर्शनमिति अङ्गीकृत्य यदुक्तं तत्तु बौद्धानां नाभिप्रेतम् । क्षणिकवादित्वात्तेषाम् । तथाहि हानोपादानविलक्षणं स्वरूपावस्थानमेव मोक्ष इति हि योगिनां सम्मतम् । बौद्धैस्तु सर्वेषां सतां क्षणिकत्वेनाङ्गीकारात् सुतरामेव पातञ्जलाभिमतपुरुषस्वरूपावस्थानं बौद्धमते न सम्भवति । एतत्तु तत्र विशेषतः भावनीयं यत् सर्वेषां वस्तूनां क्षणिकत्वम् अङ्गीकृत्यापि विज्ञानवादिनां मध्ये तत्रभवन्तः वसुबन्धुपादाः स्थिरं चरमं विज्ञानं स्वीकुर्वन्ति । तथा चोक्तं विज्ञप्तिमात्रतासिद्धौ त्रिंशिकाकारिकायाम्—

स एवानास्रवो धातुरचिन्त्यः कुशलो ध्रुवः ।
सुखो विमुक्तिकायोऽसौ धर्माख्योऽयं महामुनेः ॥ इति ।

अस्य विज्ञानवादस्य तु खण्डनं योगशास्त्रेषु उपलभ्यते । तथा च तत्रभवता वाचस्पतिमिश्रेण तत्त्ववैशारद्यां विज्ञानस्य मोक्षरूपत्वं खण्डितम् । तथा चोक्तम् "नापि विशुद्धो विज्ञानसन्तानो भवत्यमृतः, सन्तानिभ्यो व्यतिरिक्तस्य सन्तानस्य वस्तुसतोऽभावात्, सन्तानिनां चानित्यवात् ।" इति । किञ्च सौत्रान्तिकानां मते सर्वेषामेव क्षणिकत्वेन योगशास्त्रप्रयोजनमेव नास्ति इति "तत्प्रतिषेधार्थम् एकतत्त्वाभ्यासः" इति सूत्रेण तद्भाष्येण च प्रतिपादितम् ।

अपि च दुःखनिवृत्त्युपायतया चित्तस्य परिशुद्धिरेव उभयदर्शनसम्मता इति ज्ञायते । चित्तं तावत् योगशास्त्रसम्मतं पूर्वमेव विचारितम् । तत्तु बौद्धानामपि सम्मतम् । तथा चोक्तम् अभिधर्मकोशे—"विज्ञानं प्रतिविज्ञप्तिः मन आयतनञ्च तत्" इति । तस्य च चित्तस्य परिशुद्धिः कथं सम्भवतीति तदर्थमेव योगशास्त्रेषु यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः इति अष्टाङ्गो योगः प्रकीर्त्तितः । एवं बौद्धशास्त्रेष्वपि सम्यक्वाक्-सम्यक्कर्मान्त-सम्यग्आजीव-सम्यक्व्यायाम-सम्यक्स्मृति-सम्यक्समाधि-सम्यक्दृष्टि-सम्यक्सङ्कल्पात्मकः अष्टाङ्गो मार्गः उपदिष्टः । स च शीलसमाधिप्रज्ञेति त्रिधा विभक्तः । तत्र शीलं तावत् ध्यानस्य द्रढीकरणार्थम् अभ्यस्यते । समाधिप्रज्ञयोस्तु विवरणं पश्चात् प्रदीयते । योगप्रोक्ताः यमनियमादयः सर्वे

एव बौद्धाष्टाङ्गमार्गेष्वन्तर्भवन्ति। एवं शीलसमाधिप्रज्ञानाम् वर्गीकरणमपि अष्टाङ्ग-योगेषु दृश्यते।

समाधिस्तावत् शमथविदर्शनभेदेन द्विधा विभज्यते सौगतैः। तत्र 'किलेसं समेति उपसमेतीति समथो' इति वचनात् क्लेशतृष्णादुःखानाम् उपशमहेतुः शमथ इति आयाति। सा च शमथभावना चत्वारिंशद्रूपा। तथा हि दश कृत्स्नध्यानम्, दश अशुभध्यानम्, दश अनुस्मृतिभावनाः, चतुर्विधा ब्रह्मविहारभावना, तथा एकसंज्ञाभावना, एकव्यवस्थानभावना, तथा चतुर्विधा अरूपभावनेति चत्वारिंशत् समाधिभावनाः। पुनश्च स शमथसमाधिः उपचार-अर्पणेति भेदेन द्विविधः। किञ्चित् आलम्बनम् अवलम्ब्य कृत्स्नध्यानादनन्तरं क्रमेण परिकर्मनिमित्तम् उद्ग्रहनिमित्तञ्च लब्ध्वा उपचारसमाधिः प्रजायते। अर्पणासमाधिस्तु तदनन्तरं दशविधम् अर्पणाकौशलम् अवलम्ब्य एव भवति।

योगदर्शनेऽपि सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञातभेदेन समाधिद्वैविध्यं विचारितम्। तथा च भाष्यम्—"यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान् कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति सम्प्रज्ञातो योग इत्याख्यायते।......सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसम्प्रज्ञातः समाधिरिति"। स सम्प्रज्ञातसमाधिः उपचारसमाधिवत् सबीजसमाधिरित्यपि वक्तुं युज्यते। अपरस्तु असम्प्रज्ञातसमाधिर्निर्बीजरूपः अर्पणाध्यानवत् सालम्बनसमाधेः अनन्तरमेव परवैराग्यवशात् सर्ववृत्तिनिरोधात्मको जायते। "न तत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायते इत्यसम्प्रज्ञातः" इति हि व्यासभाष्यम्। किन्तु अयं त्वत्र विशेषः यत् अर्पणासमाधौ सर्वशून्यत्वम् अवभासते इति बौद्धाः। योगमते तु तदा चित्स्वभावस्य आत्मनः स्वरूपे चिन्मात्रतायां अवस्थानं भवतीति शेषः। तथा च योगसूत्रम्—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानमिति।"

किञ्च योगशास्त्रेषु वितर्क-विचार-आनन्द-अस्मितेति सम्प्रज्ञातसमाधेः ये प्रकारभेदाः उक्ताः, तैः सह बौद्धप्रोक्तानां वितर्कविचारप्रीतिसुख-एकाग्रता इति पञ्चध्यानाङ्गानाम् अस्ति हि ऐकरूप्यम्। एवम् असम्प्रज्ञातसमाधौ उपयोगिनां श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञानाम् उपदेशः कृतः। वस्तुतस्तु ते अपि श्रद्धादयः योगाङ्गानुष्ठाने तीव्रसंवेदं जनयन्तः द्रुतफलदायिनो भवन्ति। एतेषामपि दश अर्पणाकौशलेषु अन्तर्भावः।

अपि च मैत्रीकरुणामुदिता-उपेक्षेति ब्रह्मविहारभावना, या तथागतसम्मता, सा योगदर्शनेऽपि प्रपञ्चिता। तथा च समाधिपादीयं योगसूत्रम् "मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनमिति। किञ्च शमथभावनान्तर्गता आनापानस्मृतिरिति या भावना श्वासप्रश्वाससंयमेन जायते, स एव योगोक्तः प्राणायामविधिः इति मन्ये। आनः इति श्वासः अपान इति प्रश्वासः। तयोः संयमनेन चित्तं समाहितं भवति। एवं योगसूत्रेऽपि उक्तम् "प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।" इति।

किञ्च बौद्धशास्त्रेषु यथा विदर्शनभावनायां शीलविशुद्धि-चित्तविशुद्धि-दृष्टिविशुद्धि-काङ्क्षा-उत्तरणविशुद्धि-मार्गामार्गज्ञानदर्शनविशुद्धि-प्रतिपज्ज्ञानदर्शनविशुद्धि-ज्ञानदर्शनविशुद्धयः इति सप्तविधाः विशुद्धयः विवृताः, योगदर्शनेऽपि प्रज्ञाभूमयः सप्तधा प्रदर्शिताः। यथा—

(क) परिज्ञातं हेयं नास्य पुनः अपरिज्ञेयमस्ति।

(ख) क्षीणा हेयहेतवो न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति।

(ग) साक्षात्कृतं निरोधसमाधिना हानम्।

(घ) भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः।

(ङ) चरिताधिकारा बुद्धिः।

(च) न चैषां विप्रलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावात्।

(छ) एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिः अमलः केवली पुरुष इति।

अपि च समाधिलाभस्य विघ्नाः योगशास्त्रवत् बौद्धशास्त्रेषु अपि प्रपञ्चिताः। तथा च योगसूत्रद्वयम् "व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्यविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः" इति। "दुःखदौर्म्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः" इति च। एवं बौद्धशास्त्रेष्वपि विदर्शनभावनायाः अवभासप्रीतिप्रशान्ति-अधिमोक्ष-प्रग्रह-सुख-ध्यान-उपस्थान-उपेक्षा-निकन्तीति दश उपक्लेशाः विस्तरतः व्याख्याताः। अधिकतश्च बौद्धानां नीवरणपञ्चकं तथा दश संयोजनानि चाभिप्रेतानि। एतेषां तु सर्वेषां योगशास्त्रे उल्लेखो न दृश्यते इति।

अपरः कश्चिद्विशेषः उभयशास्त्रयोः प्रदर्श्यते। तथाहि विवेकस्य कायचित्त-उपाधिरिति यो विभागः बौद्धैः प्रदर्शितः, तेन सह योगप्रपञ्चितसप्तविवेकख्यातीनाम् अस्ति हि किञ्चित् असामञ्जस्यम्। विवेकख्यातयः एवमुक्ताः—"विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।" तत्र बौद्धानां मते ध्यानात् पूर्वं विवेको जायते इति। योगमते तु योगमवलम्ब्य एव विवेकख्यातिः आविर्भवति।

अपि च योगशास्त्रेषु वैकल्पिकहेतुतया ईश्वरप्रणिधानस्य यत् समाधिं प्रति कारणत्वमुक्तं तत् बौद्धानाम् अनभिप्रेतम्। तथा च योगसूत्रम् "ईश्वरप्रणिधानाद्वा"। बौद्धास्तु ईश्वरमनभिमन्यमानाः एतत् न सहन्ते, किं बहुना, बौद्धशास्त्रेषु ईश्वरखण्डनमेव बहुधा प्रपञ्चितम्।

एतावता योगस्य साधनांशे बौद्धानां तथा पातञ्जलानुवर्त्तिनाञ्च समत्वं वैमत्यञ्च उपदर्शितम्। अधुना योगस्य तावत् किमस्ति फलम् इति विचार्यते। तथा च अविद्यानिवृत्तिरेव पुरुषार्थः इति उभयशास्त्रसम्मतम्। उक्तञ्च पातञ्जलदर्शने कैवल्यपादे—"ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिरिति।" एवं बौद्धा अपि तृष्णा-दृष्टि-अविद्या-

निवृत्तिरेव निर्वाणमिति वदन्ति। तत्र का नाम अविद्या इति चेद् उच्यते "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या" इति। एषा योगप्रोक्ता अविद्या वेदान्तसम्मताविद्यावत् न हि आवरणविक्षेपात्मिका, न वा भ्रान्तिज्ञानस्वरूपिणी, अपि तु बौद्धसम्मतम् अज्ञानमेव भङ्ग्यन्तरेण अत्रापि समुपस्थाप्यते। तथा च बौद्धाः- दुक्खे अञ्ञाणं, दुक्खसमुदये अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधे अञ्ञाणं, दुक्खनिरोधगामिनी-पटिपदाय अञ्ञाणमिति। अपि च जन्मजन्मान्तरेषु कृतः पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो जन्मायुर्भोगहेतुरिति योगमतम् उभयदर्शनसाधारणम्। "मिलिन्दपञ्ह"—ग्रन्थे नागसेनेन एतत् विचारितम्। अपि च तृष्णापर्यायभूतस्य तण्हा इति पदस्य प्रयोगोऽपि अत्र दृश्यते। तस्याः क्षये सति कर्मणाम् अपि प्रविलयात् पुनर्जन्म न भवतीति हि सिद्धान्तितम्। योगशास्त्रेऽपि उच्छिन्नक्लेशमूलः कर्माशयः अनारम्भको भवतीति उक्तम्। एवं यथा योगशास्त्रे शुक्ला-कृष्णा-शुक्लकृष्णा-अशुक्लाकृष्णा च इति चतुर्विधा कर्मजातिः व्याख्याता, एवं बौद्धैः अपि कुशलमूल-अकुशलमूल-कुशलाकुशलमूल-कुशलाकुशलत्वविनिर्मुक्तम् इति कर्मचातुर्विध्यम् अङ्गीक्रियते।

किन्तु योगशास्त्रेषु यथा प्रकृतिपुरुषविवेकं प्राप्य आत्मभावनानिवृत्तिः आत्मस्वरूपे अवस्थितिश्च उपदिष्टा, बौद्धास्तथा स्फुटतया किञ्चिन्न भाषन्ते। वस्तुतस्तु बौद्धानां मते निर्वाणं नाम आत्मनिवृत्तिद्वारेण जगच्छून्यत्वोपलब्धिरेव। तदपि शमथविदर्शनसाध्या, नान्यथा।

योगस्य अभ्यासकाले अणिमालघिमादयः विभूतयः उत्पद्यन्ते। तासां आध्यात्मिकमार्गं प्रति बाधकत्वं योगशास्त्रवत् सौगतानामपि अभिप्रेतम्। तथा च योगसूत्रम् "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः" इति। एवं तत्रभवतः सम्यक्सम्बुद्धस्य त्रिकायादिबहुविधविभूतिसत्त्वेऽपि कदापि तेषां प्रदर्शनं तेन न कृतमित्यपि अत्र प्रमाणम्।

एवं बौद्धशास्त्रोपरि योगशास्त्रस्य प्रभावः बहुधा परिलक्ष्यते। भगवान् तथागतः स्वयमेव योगमवलम्ब्य बोधिम् आसादितवान् इति सुविदितमेव तत्रभवताम्। एवमपि प्रसिद्धं यत् जातवैराग्येण तत्रभवता सिद्धार्थेन बोधिलाभार्थं विषयसुखं त्यजता प्रथमतस्तावत् वैदिककर्मकाण्डानुसारिणां केषाञ्चित् मुनीनाम् अनुसरणक्रमेण तत्त्वलाभार्थं प्रचेष्टा कृता। अथ तेषु तेषु विषयेषु दोषदर्शनात् विशुद्धयोगमार्गमनुसृत्य बोधिलाभः कृतः। अतः नेदं वक्तुमुत्सहे यत् बौद्धैः योगः अनुकृतः, न वा योगाचार्याः बौद्धमतानुसारिण इति। अपि तु उभयशास्त्रयोर्मध्ये महत् साम्यं दृष्ट्वा इदमेव वक्तुम् उचितं यत् उभयत्र एव अस्ति परकीयमतानुप्रवेश इति शम्।

● ● ●

बौद्धपातञ्जलयोः सवितर्कादिध्यानविमर्शः

श्रीचिन्तामणित्र्यम्बकः, कंघे

पातञ्जलदर्शने समाधिपादे सवितर्कादिसमापत्तिचतुष्टयवर्णनमुपलभ्यते। तत्र वितर्को नाम स्थूलमालम्बनं चित्तस्येति यत्प्राचीनार्वाचीनैष्टीकाकृद्भिर्व्याख्यातं तदसमञ्जसमिति प्रदर्शितपूर्वमेवास्माभिः[1]। तत्रैव 'ता एव सबीजः समाधिः' (यो० सू० १।४६) इति सूत्रेण समाधिसमापत्त्योस्तादात्म्यमभ्युपगम्य सवितर्कादयः समाधेर्भेदा इत्यपि यदङ्गीकृतं भाष्यादिप्रणेतृभिस्तस्यापि विसङ्गतत्वं दर्शितमन्यत्रास्माभिः[2]। अत्र तु तदेतद् द्वयमपि बौद्धदर्शनतुलनया परामृश्य द्रढयितुमीहामहे।

विदितचरमेवेदं प्रेक्षावतां यत्पातञ्जलदर्शनं बौद्धदर्शनं च हैरण्यगर्भयोगशास्त्रस्य प्राचीनपरम्परामनुसृत्यैव प्रणीते। अश्वघोषविरचितस्य बुद्धचरितस्य द्वादशे सर्गे अराडनाम्ना सांख्ययोगाचार्येण गौतमायोपदिष्टं दर्शनमुपलभ्यते। तेन च मूलहैरण्यगर्भयोगशास्त्रस्य स्वरूपमप्यनुमातुं शक्यते। तत्र हि चत्वारि ध्यानान्यपि वर्णितान्यराडाचार्येण। प्रथमं हि तेषु वितर्कवत् सवितर्कं वा ध्यानम्। तथाहि—

अथो विविक्तं कामेभ्यो व्यापादादिभ्य एव च।
विवेकजमवाप्नोति पूर्वध्यानं वितर्कवत्॥
तच्च ध्यानसुखं प्राप्य तत्तदेव वितर्कयन्।
अपूर्वसुखलाभेन ह्रियते बालिशो जनः॥
शमेनैवंविधेनायं कामद्वेषविगर्हिणा।
ब्रह्मलोकमवाप्नोति परितोषेण वञ्चितः॥

(बु० च० १२. ४९ तः ५१)।

यद्यपि नात्र वितर्कशब्दः परिभाषितस्तथापि 'व्यापादादिभ्यः' इति शब्दप्रयोगोऽत्र लक्षणीयः। विवेचनं त्वस्याग्रे करिष्यत एव। अत्रत्यनिर्वितर्कध्यानस्य

१. द्रष्टव्यम्—The Concept of **Vitarka** in the Pātañjala Yogaśāstra a Paper read at the A. Y. O. C., Jadavpur 1969.

२. द्रष्टव्यम्—The Concepts of **Samādhi** and **Samāpatti** in the Pātañjala Yogaśāstra', being published in the Rajeshvarashastri Dravid Felicitation Volume, Allahabad 1971.

वर्णनेन तु वितर्कशब्दस्य **'स्थूलमालम्बनं चित्तस्य'** इति नैवाभिप्राय इति स्पष्टं ज्ञायत एव । तथा हि वर्णयत्यराडाचार्यः—

ज्ञात्वा विद्वान् वितर्कांस्तु मनःसंक्षोभकारकान् ।
तद्वियुक्तमवाप्नोति ध्यानं प्रीतिसुखान्वितम् ॥

(बु० च० १२.५२)

अत्र हि 'वितर्कान्' इति बहुवचनं 'मनःसंक्षोभकारकान्' इति तद्विशेषणं च **'स्थूलमालम्बनं चित्तस्य'** इति पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यादिप्रणेतृभिर्व्याख्यातमर्थं निरस्यत एव । वितर्कशब्दस्यार्थं निश्चेतुं नितरां महत्त्वपूर्णोऽयं सन्दर्भः । अस्यापि विवेचनं पतञ्जलिप्रोक्तवितर्कशब्दार्थं परामृश्याग्रे करिष्यते । विसुद्धिमग्गादिषु बौद्धदर्शन-ग्रन्थेष्वपि सवितर्कादिध्यानानां वर्णनमुपलभ्यते । तत्र यद्यपि चित्तस्य विविधान्या-लम्बनानि ध्यानोपयोगीनि वर्णितानि, तथापि नैव तानि वितर्कशब्देनोक्तानि । एवं च यत्किमपि वा भवत्वालम्बनम्, प्रथमं ध्यानं तु सवितर्कमेवेति तत्रोक्तम् । बौद्धदर्शने वितर्कशब्दो न क्वचिदपि **'स्थूलमालम्बनं चित्तस्य'** इत्यनेनार्थेन प्रयुक्तः ।

अथ पातञ्जलयोगसूत्रेषु वितर्कशब्दस्य प्रयोगान् पश्यामः । तत्र हि द्वयोर्भिन्न-सन्दर्भयोर्वितर्कशब्द उपलभ्यते । संमूढाश्च टीकाकारास्तयोः परस्परसम्बन्धं नैवाभ्युप-गच्छन्ति । एष च दोष एव भवति शास्त्रपरिभाषायाः । योगसूत्रेषु समाधिपादे सम्प्रज्ञातयोगसन्दर्भे वितर्कशब्दः प्रयुक्तः पतञ्जलिना **'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः'** । (यो० सू० ९.१७) इति ।

अत्र वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोग इति **भाष्यकारः** । स्थूल आभोग-श्चतुर्भुजविष्णुमूर्त्यादिरिति **वाचस्पतिः** । **भोजमतेन** त्विन्द्रियाणामपि स्थूलेषु समा-वेशः । स्थूल आभोगो नाम स्थूलयोर्भूतेन्द्रिययोरदृष्टाश्रुतामताशेषविशेषा इति विज्ञान-भिक्षुस्तदनुसारं च भावागणेशनागोजोभट्टौ । तथा चैकस्मिन्नेवालम्बने क्रमेण चतुष्प्रकारः सम्प्रज्ञातो भवतीति साधूक्तं विज्ञानभिक्षुणा । परं पतञ्जलिपरिभाषितं वितर्कशब्दार्थमत्रास्वीकृत्य विशेषेण तर्कणं विपरीततर्कणं चेत्यर्थद्वयमङ्गीकृतं भिक्षु-महाभागेन, न च तत्समञ्जसम् ।

प्रथमपाद एव समापत्तिसन्दर्भे सवितर्कनिर्वितर्कसमापत्त्योर्वर्णनं कृतं पतञ्जलिना **शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः** (यो० सू० १.४२), **स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का** (यो० सू० १.४३) चेति लक्षयति सूत्रकारः । अत्रापि द्वावप्येतौ वितर्कानुगतयोगस्यैव भेदाविति विज्ञानभिक्षोर्मतं समञ्जसमेव । किं तु वितर्कशब्दार्थविषये नितरां भ्रान्त एवासौ । ततश्च शब्दान्तरं प्रयुज्य 'तासु चतसृषु समापत्तिषु सविकल्पिकायाः स्थूलविषयकसमापत्तेर्लक्षकमिदं सूत्रम्' इत्यसौ

व्याचष्टे । तत्र यदि वितर्को नाम स्थूलविषयोऽसौ निर्वितर्कायामपि तिष्ठति तर्हि निरर्थका भवति निर्वितर्कसंज्ञा । अन्ये तु व्याख्याकाराः सर्वथैव भ्रान्ता अत्र । न च केनापि **'स्मृतिपरिशुद्धि'**—शब्दस्य साभिप्रायत्वं विशदीकृतम् । परिशुद्धिशब्दोऽ-पगमपर्यायेण व्याख्यातस्तैः । न च कथञ्चिदपि समञ्जसं तत् ।

अतः परिशुद्धिशब्दस्य यथार्थाभिप्रायोऽत्र जिज्ञासितव्यः । स च स्वयं पतञ्ज-लिना प्रोक्ते वितर्कशब्दस्यार्थे परिगृहीत एव स्पष्टीभवति । पतञ्जलिना हि यमनियम-सन्दर्भे वितर्काः स्वयं परिभाषिता द्वितीये पादे—**'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्'**

(यो० सू० २-३३)

'वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधि-मात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । (यो० सू० २-३४) इति । अत्र हि हिंसादयो वितर्कशब्देनोक्ताः पतञ्जलिना ।

एते हिंसादयो वितर्काः साधकं कथं बाधन्ते योगाभ्यासे इति तावत्पश्यामः । इदमत्रावधार्यं यद्योगाङ्गानां सिद्धौ सर्वत्र पौर्वापर्यं नैव विहितं पतञ्जलिना । न हि यमनियमसिद्धिभागेवासनाद्यङ्गानामधिकारी । तथा तु सति कदाचिदेव कश्चिद् भवेदधिकारी तेषाम् । यत्र हि क्रमोऽभिप्रेतस्तत्र स्वशब्देनैवोक्तः पतञ्जलिना तथा—

'तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।'

(यो० सू० २ : ४९) इति ।

एवं च यमनियमेष्वप्रतिष्ठोऽपि यावच्छक्यं यमनियमानाचरन् यदाग्रिमाभ्यासे ध्यानादि प्रारभते, तदानीमेवामुं वितर्का बाधितुं प्रारभन्ते । यतो निरुध्यमानासु चित्तवृत्तिषु परिदृष्टमं (Conscious) चित्तं यथा यथा शान्तमिव भवति तथा तथाऽपरि-दृष्टे (Unconscious) चित्तस्तरे वर्तमानाः संस्कारवासनाः कामहिंसादयोऽपरिदृष्ट-स्तरतः परिदृष्टचित्तस्तरे प्राबल्येनोत्तिष्ठन्ति । मृदुस्वरूपा मध्यस्वरूपा अधिमात्र-स्वरूपा वाऽप्येताः परिदृष्टचित्ते विस्मृतिं नीताः सत्यो ध्यानाभ्यासवशादेव स्मृतिपथ-मायान्ति । ततश्च चित्ते संक्षोभं जनयन्ति । हिंसादिभ्यो निवर्तितुं प्रयतमानः साधक एतासामुद्भवेन चिन्ताकुलो भवति, तथापि ततः प्रगतिरेव भवति साधकस्य । यतः परिदृष्टचित्तभागे प्राप्ता एताः प्रतिपक्षभावनया निष्कासयितुमपि शक्यन्ते । योगा-भ्यासपरः साधकस्तासां दुःखाज्ञानानन्तफलत्वं द्रागेव ज्ञातुं प्रभवति । एवं च प्रतिपक्ष-भावनया चित्तसंक्षोभकारकान् वितर्कान् ज्ञात्वैव स्मृतिपरिशुद्धिं साधयति साधकः । तत एव चासौ निर्वितर्कायाः समापत्तेरधिकारी भवति ।

एतद् बुद्धचरितस्थाराडोपदेशादपि विशदीभवति । तत्र हि वितर्कवद्ध्यान-वर्णने कामेभ्यो व्यापादादिभ्यश्च विविक्तमिति विशेषणं साभिप्रायम् । व्यापादशब्दो

हि हिंसापर्याय एव। सवितर्कध्याने हि पार्थक्येनैतासां कामहिंसादिवासनानां प्रत्ययो जायते। तत एव च चित्तसंक्षोभकारकानेतान् वितर्कान् ज्ञात्वा साधको निर्वितर्क-ध्यानावस्थां प्रविशति। अतो भाष्यकारादिभिर्व्याख्यातस्य **'स्थूलमालम्बनं चित्तस्य'** इति वितर्कशब्दार्थस्यासामञ्जस्यं सिद्धं भवति।

अन्यच्च भाष्यकारादिभिः स्वीकृतं समाधिसमापत्तिशब्दयोः समानार्थकत्व-मप्यनेन निरस्तं भवति। न हि सवितर्कं सविचारं वा ध्यानं कदापि समाधिशब्दवाच्यं भवितुमर्हति। सूत्रकारोक्त—**'तदेवार्थमात्रनिर्भासस्वरूपशून्यमिव समाधिः'** (यो० सू० ३. ३) इति समाधिलक्षणविरोधात्। निर्वितर्काया निर्विचारायाः समापत्तेरेवार्थमात्र-निर्भासकत्वात्। कथं तर्हि **'ता एव सबीजः समाधिः'** (यो० सू० १. ४६) इत्यस्य पतञ्जलिवचनस्य समाधानम्? उच्यते—नैवानेन सूत्रेण समाधिसमापत्त्योरैकार्थत्वं प्रतिपादयिषितमपि तु ता एव चतस्रः समापत्तयः सबीजे समाधौ पर्यवस्यन्तीत्येतदेव प्रोक्तम्। समाधिरित्येकवचनमप्यस्मिन्नेवाभ्युपगम उपपद्यते। एक एव सबीजः समाधिः, न तु सवितर्कादयश्चत्वारः समाधयोऽपि तु समापत्तय एव।

ननु किं तर्हि व्यवच्छेदकं समाधिसमापत्त्योः? उच्यते—**समापत्तिः खलु प्रक्रियात्मिका समाधिश्च स्थितिरूपः।** समाध्यभिमुखं ध्यानमेव हि समापत्तिशब्द-वाच्यम्। बौद्धदर्शनेऽप्येवमेव निर्वाहः। तत्रापि सवितर्कादीनि ध्यानान्युक्तानि। क्वचिच्च समापत्तिशब्देनाप्येतान्युक्तानि, न पुनः समाधिशब्देन। सम्यगवधारितेऽस्मिन्नर्थे योगशास्त्रस्य गहनमनोवैज्ञानिकतापि विशदीभवति। तदेतद्दिङ्मात्रमत्र प्रकटितम्। विस्तरस्तु 'Studies in the Pātañjala Yogaśāstra; A fresh interpretation of Patanjali in the light of Depth psychology' इति संज्ञके प्रकाश्यमाने ग्रन्थे द्रष्टव्यो जिज्ञासुभिरिति शम्।

• • •

बौद्धजैनपरिभाषयोर्वितर्कविचारौ

श्रीमती पद्मा 'किल्लेदार'

बौद्धानामार्याणामष्टाङ्गिकमार्गेष्वन्तर्भूते सम्मासमाधिनामाधिकारे चतुर्णां ध्यानानामुल्लेखः कतिपयत्रिपिटकान्तर्गतेषु ग्रन्थेषु अनुपिटकग्रन्थेषु च समायातः। त्रिपिटकग्रन्थेषु कुत्रचिदपि ध्यानव्याख्या न द्रष्टा, किन्तु ध्यानभेदाः, ध्यानाङ्गानि, ध्यानप्रहाणाङ्गानि च निर्दिष्टानि। अनुपिटकग्रन्थेषु आचार्यबुद्धघोषरचिते विसुद्धि-मग्गे ध्यानव्याख्यया सह एतानि कथितानि।

बौद्धानां चतुर्ध्यानेषु प्रथमध्याने वितर्कविचारयोः 'ध्यानाङ्गे' इति उल्लेखो यत्र तत्र दृश्यते।

"एतावता पनेसो विविच्चेव कामेहि, विविच्च अकुसलधम्मेहि सवितक्कं सविचारं विवेकजं पीतिसुखं पठमं झानं उपसम्पज्ज विहरति। एवं पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं तिविधकल्याणं दसलक्खणसम्पन्नं पठमं झानमधिगतं होति।"

प्रथमध्यानस्य सम्प्रयोगाङ्गानि दर्शयितुं सवितक्कं सविचारमित्युक्तम्।

"वितक्कनं वितक्को" विशेषेण तर्कणमूहनमिति, स्वचित्तस्य आलम्बनेऽभि-निरोपणलक्षणः, आलम्बने आहननपर्याहननरसो, आलम्बने चित्तस्यानयनं प्रत्युपस्थानम्।

वितर्कस्य विषयः स्थूल औदारिको वा। अतो विचारस्य पूर्वं वितर्कस्य स्थानमस्ति।

यथा घण्टावादनार्थं प्रथमं घण्टाभिघातः कर्तव्यः, तथा ध्यातुः योगिनः ध्येय-विषये ध्यातुं चेतसः प्रथमः अभिनिपातः वितर्कः अस्ति।

यथा आकाशे उत्पतितुकामस्य खगस्य प्रथमः पक्षविक्षेपः, तथा ध्यानस्य प्रथमोत्पत्तिकाले चित्तस्य परिस्पन्दनं ध्यानम् इति उच्यते।

यथा वा पद्मस्य सुगन्धेन आकृष्टः अनुबन्धचेता भ्रमरः पद्मस्य सम्मुखम् अभि-पतति, तथा ध्येयव्याकुलो ध्याता ध्येये अनुबन्धचेता वा ध्याता ध्येयस्य सम्मुखम् अभिपतितुं परिस्पन्दति।

आकाशे उड्डयतः महाशकुनस्य उभाभ्यां पक्षाभ्यां वातं गृहीत्वा पक्षे सन्नि-पद्य गगनमिव आलम्बने चित्तस्य परिस्पन्दनपूर्वकं चेतसो अभिरोपणभावः वितर्कः ज्ञातव्यः।

यथा समलं कंसभाजनम् एकेन हस्तेन दृढं गृहीत्वा इतरेण हस्तेन गोमयचूर्णेन परिमार्जयतः दृढं गृह्णन् हस्तः इव समलं मनः परिमार्जयितुं वितर्कः ध्येयविषये दृढं गृह्णाति।

यथा भाजनं कुर्वाणः कुम्भकारः दण्डप्रहारेण चक्रं भ्रामयन् उत्पीडनहस्तः, तथा ध्यानं कुर्वाणः ध्याता वितर्कप्रहारेण ध्येयविषये मनः भ्रामयति।

यथा मण्डलं कुर्वाणः मध्यभागे कण्टकम् अभिरोप्य मण्डलम् आकारयति, तथा ध्येयमध्ये दृढम् अभिनिरोपणम् इव मनो दृढमूलं कुर्वाणः वितर्कः अस्ति।

यथा रथकारः सुपरिकर्मकृतं दारु सन्धिषु सन्धौ वा अर्पयति योजयति वा, तथा ध्याता ऊहनेन सुसंस्कारितं सुकर्मस्थितं चेतो ध्येयविषये नियोजयति अर्पयति वा स अर्पणालक्षणः वितर्कः।

ध्यानकाले ध्याता स्वमनः ध्येयविषयेतरेभ्यः परावृत्य एकस्मिन् विषये निरुणद्धि। चित्तस्य बहुविषयेषु चिन्तां व्यावर्त्य एकस्मिन् विषये योजयति नियमयति वा। किन्तु ऊहनपूर्वकं श्रुतपूर्वकम् आगमवचनार्थानुपूर्वकं सुसंस्कारितं मनः तत्र ध्येयवस्तुनि दृढमूलत्वं स्थैर्यं वितर्केण प्राप्नोति। अतः अभिनिपातनम् अभिपतनं दृढग्रहणम् अभिनिरोपणम् अर्पणा एकार्थवाचका अमी शब्दाः। ध्येयवस्तुनि सुसंस्कारितम् ऊहनपूर्वकं दृढमूलस्थैर्यार्थं मनसःयोजनं वितर्कः।

बौद्धमते मनसः पञ्च दोषाः पञ्च नीवरणानि इति ख्यातानि। कामच्छन्दो व्यापादः स्त्यानमिद्धौ औद्धत्यकौकृत्ये विचिकित्सा च। एते पञ्च दोषाः पञ्च ध्यानाङ्गानां विपक्षभूताः विध्वंसकाः विघातकाः प्रत्यनीकाश्च। तत्र समाधिः कामच्छन्दस्य, प्रीतिः व्यापादस्य, वितर्कः स्त्यानमिद्धयोः, सुखं औद्धत्यकौकृत्ययोः, विचारः विचिकित्सायाः प्रतिपक्षाः इति त्रिपिटकग्रन्थेषु उक्तम्।

अत एव ध्यात्रा एकाग्रेण अप्रमादिना प्रसन्नमूर्तिना च भवितव्यम्। तदनन्तरं स प्रथमध्यानभाक् भवेत्। प्रथमध्यानकाले स्त्यानमिद्धदोषं प्रमादं प्रयत्नपूर्वकं हापयित्वा ध्याता वितर्कभाक् भवति। अप्रमत्तावस्थायाम् एव प्रथमं ध्यानं भवति, न अन्यथा। तत् प्रथमं ध्यानं वितर्केण सह वर्तते, अतः सवितर्क इति वर्ण्यते।

बौद्धमते निर्वाणसाधकानि ध्यानानि एव विचारितानि, न अन्यानि।

आर्हतमते तु संसारसाधके ध्याने निर्वाणसाधने ध्याने विचारिते। तत्रापि धर्म्यध्यानं शुभध्यानं शुक्लध्यानं शुद्धध्यानम्। तस्मात् धर्म्यध्यानं परम्परया निर्वाणसाधकं ध्यानम्। अतः धर्म्यध्यानसाधनया शुक्लध्यानं साध्यम्। शुचिगुणयोगात् शुक्लम्, अतः साक्षात्मोक्षसाधकम्।

शुक्लध्यानस्य चत्वारो भेदाः। पृथक्त्व-वितर्क-विचारं प्रथमम्, द्वितीयम् एकत्व-वितर्क-अविचारम्, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति तृतीयम्, व्युपरतक्रियानिवर्ति चतुर्थं च।

प्रथमे पृथक्त्ववितर्कविचारध्याने वितर्कविचारयोः विचारः कृतः। जैनागमे वितर्कस्य व्याख्या उमास्वातिकृते तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थे दृश्यते। तत्त्वार्थाधिगमे नवमाध्याये वितर्कः श्रुतम्, इति सूत्रम्। तत् श्रुतमिति शब्दः कर्मवाच्ये भाववाच्ये कर्तृवाच्ये च दृश्यते। श्रूयते इति श्रुतम्। श्रवणमात्रं श्रुतम्। शृणोति इति श्रुतं वा। तत्र श्रुतम् एव वितर्क इति उक्तम्। तत्त्वार्थाधिगमस्य पूज्यपादविरचितायां सर्वार्थसिद्धिनामटीकायां विशेषेण तर्कणम् ऊहनं श्रुतज्ञानम् इति उक्तम्।

केवलिज्ञानपरम्परया आयातं श्रुतकेवलिनः सकाशात् श्रवणपूर्वकं यद् आगम-पदव्यञ्जनार्थज्ञानं तत् श्रुतज्ञानम् इति कथ्यते। अतः एकादशाङ्गानि चतुर्दश पूर्वाणि च श्रुतज्ञानं कथ्यते। आद्ये द्वे शुक्लध्याने छद्मस्थयोगिनाम् एव भवतः। श्रुतज्ञानार्थ-सम्बन्धात् ते श्रुतज्ञानपूर्वके निर्दिष्टे। यत्र पृथक् पृथक् योगेन पृथक् पृथक् श्रुतज्ञानस्य विचारो विद्यते, तत्र पृथक्त्ववितर्कविचारं नाम प्रथमं शुक्लध्यानम्। तत्र पृथक्त्वं नानात्वम्, वितर्कः श्रुतम्, अर्थव्यञ्जनयोगानां सङ्क्रमः विचारः। अस्मिन् ध्याने श्रुतज्ञानस्य अवलम्बनेन एकस्मिन् ध्येये एकाग्रता अस्ति, किन्तु पृथक्त्वेन विचारेण च अबुद्धिपूर्वका चञ्चलता अपि अस्ति। अतः तत् ध्यानं न भवितुम् अर्हति इति शङ्कायां ध्यानसन्तानं अपि ध्यानं उच्यते इति उत्तरम् आचार्येण दत्तम्। ध्येयम् एकः एव, किन्तु सूक्ष्म-परीक्षायै तत्त्वनिर्णयार्थं विचारश्च पृथक्त्वं च स्तः। अतः पृथक्त्वेन विचारेण सहितम् अपि ध्यानं ध्यानम् एव। पृथक्त्ववितर्कविचारध्याने योगाद् योगान्तरम् अर्थात् अर्थान्तरं पर्यायात् पर्यायान्तरम् अस्ति, तथापि ध्यानावस्थायाः विनाशो न भवति। यथा एकस्मिन् द्रव्ये प्रतिक्षणे उत्पादव्ययध्रौव्यम् अस्ति, उत्पादव्ययं भवद् अपि द्रव्यस्य विनाशः न भवति। तथा विचारः न ध्यानघातकः।

तथैव पृथक्त्ववितर्कविचारध्यानस्य ध्याता एकादशमगुणस्थानात् च्युत्वा अधःस्थाने पतितुं शक्नोति। अत एव प्रथमं शुक्लध्यानं प्रतिपाति अप्रतिपाति वा भवति।

बौद्धमते विचारस्य विचारोऽपि प्रथमध्याने कृतः। विचारः विचिकित्सा-नाममनोदोषस्य प्रतिपक्षः विध्वंसकः विघातकः। वितर्कापेक्षया विचारस्य विषयः सूक्ष्मः। यथा घण्टानुरवोऽनुशब्दः एव विचारः।

यथा आकाशे गच्छतो महाशकुनस्य वातग्रहणार्थं पक्षौ स्पन्दायमानस्य गमनम्, तथा अनुमज्जनस्वभावेन प्रवृत्तः विचारः। अनुप्रबन्धेन विचारस्य प्रवृत्तिः।

यथा मलसहितं भाजनं परिमार्जयतः परिमार्जनहस्त इव; भाजनं कुर्वतः कुम्भकारस्य इतश्चेतः सञ्चरणहस्त इव, मण्डलं कुर्वतः बहिः परिभ्रमणकण्टक इव

अनुमज्जनो विचारः । पद्माभिमुखं पतितस्य भ्रमरस्य पद्मस्योपरि भागे परिभ्रमणमिव विचारः । वितर्कस्यानन्तरं तस्मिन्नेव ध्येयविषये सूक्ष्मार्थेन ध्यानं कुर्वतः यदनुमज्जनम्, अनुरवणम्, अनुशब्दं स विचारः ।

अत एव वितर्कस्य विषयः स्थूलः औदारिको वा । विचारस्य च विषयः सूक्ष्मः । विचारेण विचिकित्सानाममनोदोषस्य विध्वंसो भवति । अतः अतिनिर्मलः; अतिसूक्ष्मज्ञानी, स्वच्छमनोध्याता अधिकतरं स्थिरो भवति । वितर्कापेक्षया परिस्पन्दनं विचारे न अत्तीवास्ति, किन्तु चित्तस्य शान्तवृत्तिरेव विचारः ।

बौद्धमते वितर्कविचाराविति अङ्गद्वयं प्रथमध्यान एव अस्ति । विचारेण विचिकित्सा विनश्यति चित्तं च स्वच्छमनाविलं भवति ।

जैनानां मते "वि" इति उपसर्गः "वि" इत्यस्ति, तत एव विचारो निष्पद्यते।

विशेषेण चारः सञ्चारः विचारः, वा विगतः चारः विचार इति परिवर्तनसूचकं प्रतिपातसूचकम् अपि विचारशब्दस्य व्युत्पत्तिः ।

विचारस्य स्पष्टव्याख्या आचार्यश्री-उमास्वातिकृततत्त्वार्थसूत्रग्रन्थे 'विचारोऽर्थव्यञ्जनयोगसंक्रान्तिः" इति सूत्रे कृता ।

विचारे ध्याता, एकश्रुतपदादन्यश्रुतपदं गृह्णाति; एकं श्रुतवचनं त्यक्त्वान्यं श्रुतवचनम् आश्रयति । तथैव मनोवाक्कायत्रियोगेषु अन्यतमेन योगेन युञ्जति । अतः अर्थसङ्क्रान्तिर्व्यंजनसङ्क्रान्तिर्योगसङ्क्रान्तिरेव विचारः इति ज्ञातव्यः ।

प्रथमशुक्लध्याने ध्येयविषय एकोऽस्ति । किन्तु तस्मिन् ध्येयविषयेऽपि कदाचिद्द्रव्यम्, कुत्रचित्तस्य किमपि पर्यायम् इति अर्थसङ्क्रमणेन; क्वचिद् एकं श्रुतवचनं कदाचिद् अन्यं श्रुतवचनमिति व्यञ्जनसङ्क्रमणेन; तथैव मनोवाक्कायत्रियोगेषु क्वचिद् काययोगं त्यक्त्वा वचनयोगेन, वा क्वचिद् मनोयोगेन ध्यायति इति योगसङ्क्रान्त्या अन्तमुहूर्तपर्यन्तं तत्त्वनिर्णयार्थम्, तत्त्वसंशोधनार्थम्, तत्त्वविचाराय वा ध्याता ध्यानभाग्भवति । अत्र ध्यानी अर्थादिषु अविलम्बितं सङ्क्रामति स्वयं च पुनः व्यावर्तते ।

धर्म्यध्यानापेक्षया प्रथमशुक्लध्यानं सूक्ष्मं, किन्तु द्वितीयशुक्लध्यानापेक्षया स्थूलमस्ति । प्रथमशुक्लध्याने दृश्यमानः अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रमणरूपः विचारश्च नानात्वरूपं पृथक्त्वं च द्वितीयध्याने न स्तः । अतः प्रथमध्यानापेक्षया तद् अधिकतरं सूक्ष्ममस्ति ।

द्वितीयशुक्लध्याने न पृथक्त्वं, किन्तु एकत्वमस्ति । विचारो नास्ति, किन्तु वितर्कमस्ति, अत एव एकत्ववितर्क-अविचारनाम सार्थकम् ।

अत्र एकं द्रव्यम्, एकोऽणुः, एकः पर्यायः, एकश्च योगोऽस्ति, तदेकत्वम् । श्रुतज्ञानं आलम्बनपूर्वकम् अस्ति, अत एव वितर्कः अस्ति, किन्तु अर्थव्यञ्जनयोगानां सङ्क्रमणं नास्ति, अतः अविचारमस्ति ।

आद्ये शुक्लध्याने वितर्कः सामान्यः, किन्तु पर्यायापेक्षया तस्मिन्नपि विशेषोऽस्ति । प्रथमशुक्लध्याने परिवर्तनयुक्तः स्थूलः वितर्कोऽस्ति, किन्तु द्वितीयशुक्लध्याने सङ्क्रमणरहितो सूक्ष्मो वितर्कोऽस्ति । अत एव प्रथमशुक्लध्यानापेक्षया द्वितीयशुक्लध्यानं अतीव स्थिरतरम् अप्रतिपाति सूक्ष्मं च भवति ।

प्रथमध्यानी त्रियोगी, पूर्वविद् श्रेण्यारूढो शान्तकषायी कर्मेन्धनं दग्धुं दहनस्वभावोऽस्ति । तस्य सप्तमगुणस्थानात् एकादशगुणस्थानानि भवन्ति । तदनन्तरं प्रतिपाती भवति न भवति वा ।

किन्तु द्वितीयध्यानी क्षणमोही पूर्वविद् निश्चलः तेजस्वी त्रियोगेऽन्यतमयोगधारी, पृथक्त्वविचाररहितः, वितर्कसहितो भवति । स एकं द्रव्यम्, एकं अणुम्, एकं पर्यायम् एकेन योगेन ध्यायति । अतः अप्रतिपाती च भवति । अत्यन्तविशुद्धतरो योगी एतेन ध्यानेन कर्मारातीन् विनाशयति, केवलज्ञानभाग्भवति च ।

उभयमते ध्यानकाले वितर्कविचारयोः विचारोऽस्ति । उभयमते चत्वारि ध्यानानि सन्ति । किन्तु निर्गन्थप्रवचने चत्वारि एव प्रधानानि ध्यानानि–आर्तध्यानम्, रौद्रध्यानम्, धर्म्यध्यानम् शुक्लध्यानमिति । तेषु शुक्लध्यानेषु प्रथमशुक्लध्याने एव वितर्कविचारयोः विचारो दृश्यते । द्वितीयशुक्लध्याने विचारो नास्ति ।

बौद्धमते वितर्को मनसः परिस्पन्दनस्वभावः, किन्तु विचारे मनसः शान्तवृत्तिरेव उच्यते ।

निर्ग्रन्थिमते पर्यायापेक्षया एकः श्रुतज्ञानरूपो वितर्को द्वेधा मन्यते । सविचारवितर्कः, अविचारवितर्कश्च । प्रथमशुक्लध्याने अर्थव्यञ्जनयोगसङ्क्रमणेन युक्तो विचारः, तेन सहितो वितर्कोऽस्ति । द्वितीयशुक्लध्याने तु विचारेण रहितो वितर्कोऽस्ति । विचारसहिते वितर्के अबुद्धिजन्याऽस्थिरता वा सङ्क्रमणमास्ते, किन्तु विचाररहिते वितर्के शान्तवृत्तिश्च स्थिरवृत्तिरस्ति । बौद्धमते वितर्कापेक्षया शान्तवृत्तितः विचारः सूक्ष्मः, किन्तु जैनमते सविचारो वितर्कोऽपि धर्म्यध्यानापेक्षया सूक्ष्मः, किन्तु द्वितीयशुक्लध्यानापेक्षया स्थूलः अस्ति । तत्र विचारेण रहितः पृथक्त्वेन रहितः एकत्वेन सहितः वितर्कोऽस्ति । स प्रथमशुक्लध्यानापेक्षया अतीव सूक्ष्मः अतिनिर्मलः अस्ति । अतः विचारसहितो वितर्कः स्थूलः, विचाररहितो वितर्कः सूक्ष्मोऽस्ति ।

विचारेण युक्तं प्रथमशुक्लध्यानम् उपचारेण ध्यानम् उच्यते "ध्यानसन्तानमपि ध्यानमुच्यते" इति वचनात् । तद् उपचारेण ध्यानम्, परमार्थतः तत् ध्यानसन्तानं भवति ।

प्रथमशुक्लध्यानं प्रतिप्राति वा अप्रतिपाति भवति, किन्तु द्वितीयशुक्लध्यानं अप्रतिपाति एवेति उच्यते ।

बौद्धमते वितर्को नानालम्बने चित्तस्य अभिनिरोपणलक्षणो धर्मः। लौकिकालम्बने चित्तं स्थिरीकर्तुं वितर्कः आरान्न हेतुरस्ति। किन्तु द्वितीयध्याने वितर्कः स्थूलो भवति। उत्तरोत्तरध्यानाङ्गापेक्षया प्रत्येकं पूर्वाङ्गं स्थूलं भवति।

आर्हतमते धर्म्यध्यानापेक्षया वितर्कः सूक्ष्मः, किन्तु द्वितीयशुक्लध्यानापेक्षया सविचारो वितर्कः स्थूलः। विचाररहितो वितर्कः सूक्ष्मः। विचारो ध्यानघातको नास्ति।

जैनमते प्रथमध्यानम् एव प्रतिपाति अप्रतिपाति च। बौद्धमते सर्वाणि एव ध्यानानि प्रतिपातीनि एव।

बौद्धजैनोभयमतयोः अप्रमत्तावस्थायाम् एव ध्यानारम्भः।

यद्यपि बौद्धजैनमतयोः स्थूलदृष्ट्या विशेषभेदो दृष्टिगोचरो न भवति, तथापि सूक्ष्मदृष्ट्या विचार्यते चेत् तथापि महदन्तरमस्ति। बौद्धमते ध्यानकाले ज्ञानस्य उल्लेखो नास्ति, तथापि अर्थापत्तिन्यायेन तर्कः वितर्कं ऊहनं, जैनमते ऊहनं श्रुतमिति आयातम्। अत एव पृथक्त्व-वितर्कः, एकत्ववितर्कं इति ध्यानद्वये वितर्कशब्दोऽस्ति। तेन श्रुतज्ञानं ज्ञायते। अत एव ध्यातापेक्षया ज्ञानद्वये श्रुतज्ञानी अस्ति, परन्तु ध्येयविषयमध्ये सूक्ष्मो भेदोऽस्ति।

समीक्षा : डॉ० दरबारीलालकोठिया

विदुषी निबन्धपाठिका श्रीमती पद्मा किल्लेदार ने अपना महत्त्वपूर्ण निबन्ध पढ़ा। आपने बौद्धमत की दृष्टि से वितर्क का विषय स्थूल और विचार का विषय सूक्ष्म बतलाया, किन्तु आर्हत मत में प्रथम पृथक्त्ववितर्कविचार नामक शुक्लध्यान और द्वितीय एकत्ववितर्क-अविचार नामक शुक्लध्यान को उत्तरोत्तर सूक्ष्म बतलाया गया है। यदि विचार का विषय वितर्क को अपेक्षा सूक्ष्म हो तो द्वितीय शुक्लध्यान का नाम एकत्ववितर्क-अविचार न होकर एकत्वविचार-अवितर्क होना चाहिए और शुक्लध्यान का नाम पृथक्त्व-अविचारवितर्क होना चाहिए, पृथक्त्ववितर्कविचार नहीं? इस पर निबन्धपाठिका जी विचार करें।

दूसरे, आपने जो प्रथम शुक्लध्यान को प्रतिपाति, अप्रतिपाति और दूसरे ध्यान को अप्रतिपाति कहा है, उसका स्पष्टीकरण होना चाहिए; क्योंकि तीसरे सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति ध्यान के होने पर द्वितीय ध्यान समाप्त हो जाता है और ऐसी स्थिति में वह अप्रतिपाति कैसे कहा जा सकता है?

• • •

बौद्धेषु समाधेः स्वरूपम्

भिक्षुः धर्मवंशः (सिंहलदेशीयः)

समाधेः स्वरूपम्—समाधिरिति कुशलचित्तैकाग्रता।[1] एकाग्रभावो हि समाधिरिति अभिन्नालम्बना एकाग्रता एव समाधिवचनेन विशेष्यते, "एकम् अग्रम्

१. "या खो आवुसो विशाख, चित्तस्स एकग्गता अयं समाधि।"
(मज्झिमनि०, चूलवेदल्लसुत्तं, पृ० ३७१)
"कतमा तस्मिं समये चित्तस्स एकाग्गता होति? या तस्मिं समये चित्तस्स ठिति सण्ठिति अवट्ठिति अविसाहारो अविक्खेपो अविसाहटमानसा समथो समाधिन्द्रियं समाधिबलं सम्मासमाधि अयं तस्मिं समये चित्तस्सेकग्गता होति।" धम्मसंगणी, पृ० २०।
"चित्तस्सेकग्गता ति चित्तस्स एकग्गभावो; समाधिस्सेतं नामं। लक्खणादिसु पनस्स अट्ठकथायं ताव वुत्तं—पामोज्जलक्खणो च समाधि अविक्खेपलक्खणो च।"
(अट्ठसालिनी, पृ० ९७।)
"कुसलचित्तेकग्गता समाधि। समाधानट्ठेन समाधि। एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं, ठपनं च वुत्तं होति। तस्मा यस्स धम्मस्सानुभावेन एकारम्मणे चित्तचेतसिका समं सम्मा च अविक्खेपमाना अविप्पकिण्णा च हुत्वा तिट्ठन्ति, इदं समाधानं ति वेदितब्बं।" विसुद्धिमग्गो, पृ० १८८।
"अविच्छिन्नरूपेण चित्तस्यैकालम्बने प्रवृत्तिः समाधिः (चित्तैकाग्रता)।"
(अभि० को० रा० सं० पृ० ३०।)
"समाधिश्चित्तैकाग्रता" (अभि० को० भा०)
"केयमेकाग्रता नाम। एकालम्बना। एवं तर्हि चित्तान्येवैकालम्बनानि समाधिर्न चैतसिकं धर्मान्तरमिति प्राप्नोति। न चित्तान्येव समाधिः। येन तु तान्येकाग्राणि वर्तन्ते स धर्मः समाधिः। सैव चित्तैकाग्रता।" (अभि० को० भा० पृ० ४३२।)
"समाधिश्चित्तस्यैकाग्रतेति। अग्रमालम्बनमित्येकोऽर्थः। यद्योगाच्चित्तं प्रबन्धेन एकात्रालम्बने वर्तते, स समाधिः।" (स्फुटार्था पृ० १८७।)
"चित्तस्यैकाग्रता समाधिः।" (अभि० दीप० पृ० ७०।)
"चित्तस्यानास्रवालम्बनप्रतिसंयुक्तत्वादुच्यते समाधिः।" (अभिधर्मामृतम्, पृ० ९९।)
"समाधिः कतमः। उपपरीक्ष्ये वस्तुनि चित्तस्यैकाग्रता। ज्ञानसंनिश्रयदानकर्मकः।"
(अभिधर्मसमुच्चयः, पृ० ६।)
"योगः समाधिः। स यस्यास्ति स योगी। तस्य ज्ञानं प्रत्यक्षम्।" (न्यायबिन्दुः, पृ० ७०)
"योग इति समाधिश्चित्तैकाग्रता।" (धर्मोत्तरटीका, पृ० ७०।)
"चित्तचेतसिकानं समं अविसारवसेन सम्पिण्डेन्तस्स विय आधानं समाधानं। अविसारलक्खणो हि समाधि।" (विसुद्धिमग्गटीका, पृ० १८८।)
"एकग्गभावो समाधि सो अविसारलक्खणो। सम्पिण्डनरसो उपसमपच्चुपट्ठानको।
सुखपदट्ठानो ठिति निवातो इच्चिनं विय॥"
(ब० मा० टीका, तु०-विसु० म० टीका० ३२४।)

(आलम्बनं) यस्य तदिति व्युत्पत्त्या एकाग्रम्" तद्भवति यस्य एकमेव आलम्बनम्। एकाग्रीभूते आलम्बने चित्तस्य समं सम्यगाधानं भवति। सर्वकुशलधर्माणां समाधिचित्तेनैव सिद्धत्वात् सर्वकुशलधर्मेषु समाधिः प्रमुखः।[1] एकाग्रतायोगाद् आलम्बनेषु चित्तस्य स्थितिः अव्यग्रतालक्षणा स्थिरताप्रयुक्ता वा भवति। अभिध्या-व्यापाद-विचिकित्सा-औद्धत्य-कौकृत्य-स्त्यानादीनां प्रहाणात् समाधिः अविप-रीततत्त्वम् आलम्बते। संक्षेपेण स्थैर्यम् अव्यग्रभावः अविक्षेपो वा समाधेर्लक्षणम्।

रसो—'सम्पिण्डनरसो' सम्प्रयुक्तकुशलधर्माणाम् आलम्बनेषु एकत्रकरणम् अस्य कृत्यं भवति।

प्रत्युपस्थानम्—उपशमस्वभावधर्मो नाम। अयम् उपशमस्वभावः निर्वात-प्रदेशस्थितप्रदीपस्य अर्चिरिवोपशान्तो भवति। आलम्बनस्य क्षणमात्रग्रहणं न समाधिः, अपितु एकस्मिन्नेवालम्बने नैरन्तर्येण ग्रहणम्। तस्मादेव टीकाचार्यवर्यैः कथितम्—"दीपार्चेः दर्शनात् सन्तानस्थितिभावो समाधेः दृश्यते।"

अथवा—यथाभूतस्य ज्ञानमात्रं प्रत्युपस्थानम्। "समाहितो यथाभूतं विजानाति पश्यति" इति निरूप्यते।

पदस्थानम्—'सुखपदस्थानम्' सुखमेव हि अस्य आसन्नकारणम्। सुखित-पुरुषस्य समाधिः बलवान् भवति[2]।

एकाग्रताध्यानाङ्गम्—ध्यानाङ्गेष्वपि एकाग्रतायाः संग्रहो दृश्यते। तथा हि तत्र इयं कामच्छन्दनीवरणस्य प्रहाणं करोति।[3] कामविषयेषु आसक्तिजनको लोभः तृष्णा कामच्छन्दो नाम नीवरणम्। कामविषयानुगामित्वाद् स चित्तधातुं विकीर्णयति

---

१. "धर्माणां प्रमुखमिति प्रामुख्येन योगः। यथोक्तम्। समाधिप्रमुखाः सर्वधर्मा इति।"
(महायानसूत्रालङ्कारः, पृ० १०४।)

२. कानस्स लक्खणरसपच्चुपट्ठानपदट्ठानानीति एत्थ पन अविक्खेपलक्खणो समाधि, विक्खेप-विद्धंसनरसो, अविकम्पनपच्चुपट्ठानो। सुखिनो चित्तं समाधियतीति वचनतो पन सुखमस्स पदट्ठानं।
(विसुद्धिमग्गो, पृ० १८९।)

३. "इमे पञ्च नीवरणा सन्ता होन्ति समिता वूपसन्ता अब्भत्थङ्गमा अप्पिता व्यप्पिता सोसिता विसोसिता व्यन्तीकता। तेन वुच्चति—इमे पञ्चनिवरणे पहाया"ति।
"इमेहि पञ्चहि नीवरणेहि अनुप्पन्ना चेव, पञ्ञा न उप्पज्जन्ति, उप्पन्ना च पञ्ञा निरुज्झन्ति।"
"कामच्छन्दो, ब्यापादो, थीनं, मिद्धं, उद्धच्चं, कुक्कुच्चं, विचिकिच्छा—इमे वुच्चन्ति अकुसला धम्मा।"
(विभङ्गो, पृ० ३०८।)

अथवा विकम्पयति। यदि कामच्छन्दनीवरणमिदं[1] चित्तधातुषु उपस्थितं स्यात्, तदा वितर्कविचारप्रीतिसुखानि स्वकृत्स्नमण्डलेषु सुस्थिराणि न भवन्ति; ते वितर्का-दयः आलम्बनेभ्यः अपगता भवितुमर्हन्ति। अतः चित्तस्य आलम्बनेभ्य अविचलनम्, आलम्बनेष्वेव सुस्थिरा प्रवृत्तिः 'एकाग्रता नाम ध्यानाङ्गं' समाधिरिति व्यपदिश्यते[2]। अतः एकाग्रतायाः कामच्छन्दनीवरणात् विपरीतस्वभावत्वात् सा चित्तसन्ततौ काम-च्छन्दनिरोधकृत्यम्, आलम्बनेषु चित्तस्य स्थिरीभावकृत्यं च करोति। एतद् रस-प्रत्युपस्थान-पदस्थानस्वरूपा एकाग्रता हि समाधिरिति पर्यवस्यति।[3] यथा च एकाग्रताध्यानाङ्गं स्वप्रतिपक्षभूतं कामच्छन्दं प्रहिणोति, तथैव अन्यानि वितर्कादि-ध्यानाङ्गान्यपि स्व-स्व विपक्षभूतं प्रहिण्वन्ति। उक्तम्—"पच्चनीके धम्मे झापेति" इति। वितर्को स्त्यानमिद्धयोः, विचारो विचिकित्सायाः, प्रीतिः व्यापादस्य, सुखं औद्धत्यस्य कौकृत्यस्य च तथा समाधिः (एकाग्रता) कामच्छन्दस्य प्रतिपक्षः भवति—इति 'पेटकोपदेसे' वर्णितमस्ति।[4]

---

१. "यो कामेसु कामच्छन्दो, कामरागो, कामनन्दी, कामतण्हा, कामसिनेहो...इदं वुच्चति कामच्छन्दनीवरणं।"
(धम्मसंगणी, पृ० २५८।)

२. "तस्सिमे पञ्चनीवरणे पहीने अत्तनि समनुपस्सतो पामोज्जं जायति, पमुदितस्स पीति जायति, पीतमनस्स कायो पस्सम्भति, पस्सद्धकायो सुखं वेदेति, सुखिनो चित्तं समाधियति।"
(दीघनिकायो, सुभसुत्तं, पृ० १७५।)
"इधावुसो, पठमं झानं समापन्नस्य भिक्खुनो कामच्छन्दो पहीनो होति, ब्यापादो पहीनो होति, थीनमिद्धं पहीनं होति, उद्धच्चकुक्कुच्चं पहीनं होति, विचिकिच्छा पहीना होति। वितक्को च विचारो च पीति च सुखं च चित्तेकग्गता च, पठमं खो आवुसो, झानं पञ्चङ्गविप्पहीनं पञ्चङ्गसमन्नागतं"ति। (मज्झिमनिकायो, महावेदल्लसुत्तं, पृ० ३६३।)

३. एत्थ हि वितक्को सुविसदेन आकारेण आरम्मणे चित्तं अभिनिरोपयमानो उप्पज्जति। विचारो अतिविय आरम्मणं अनुमज्जमानो। पीतिसुखं सब्बावन्तम्पि कायं फरमानं। तेनेवाह—नास्स किञ्चि सब्बावतो कायस्स विवेकजेन पीतिसुखेन अप्फुटं होती"ति। चित्तेकग्गता पि हेट्ठिमम्हि समुग्गपटलं उपरिमं समुग्गपटलं विय आरम्मणेसु फुसिता हुत्वा उप्पज्जति।
(विसुद्धिमग्गो, ४ पथवी० क० पृ० ३१३)

४. "वितक्को थीनमिद्धस्स विचिकिच्छाय विचारो।
पीति चापि व्यापादस्स सुखं उद्धच्चकुक्कुच्चस्स।
समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो ति पेटके॥" (बा० मा० टीका)
"समाधि कामच्छन्दस्स पटिपक्खो, पीति ब्यापादस्स, वितक्को थीनमिद्धस्स, सुखं उद्धच्च-कुक्कुच्चस्स, विचारो विचिकिच्छाया ति पेटके वुत्तं।" (अट्ठसालिनी, पृ० १३५)
(विसुद्धिमग्गो, ४, पथवी० क० पृ० ३११–३१२)

ध्यानानां विमर्शः

बुद्धवचनेषु सूत्रपिटकायत्तपालिग्रन्थेषु रूपावचरादिध्यानानि चतुःप्रकाराणि वर्तन्ते।[1] परन्तु अभिधर्मपिटकायत्तपालिग्रन्थेषु क्रमानुगतानि पञ्चप्रकाराणि एव विभज्यन्ते। धर्मसङ्गणिप्रकरणे प्रथमतः सूत्रपिटकानुसारेण चतुर्विधध्यानानि सङ्गृह्य क्रमचतुष्कानुरोधेन चतुष्कनयः स्वीकृतः। ततः अन्यप्रकारेण च ध्यानानां पञ्चकं प्रतिपाद्य तं क्रमपञ्चकमिति रीत्या पञ्चकनयः अङ्गीकृतः।[2] विभङ्गोऽपि तथैव चतुर्विधध्यानानि प्रदर्श्य 'सूत्रान्तभाजनीयमिति' (सुत्तन्तभाजनीयं) विभज्य, ततः ध्यानानां पञ्चकं प्रदर्शयति। इत्थं कृतो विभागः अभिधर्मजानीयमिति व्यवहारः समीचन एव।[3] ततः अभिधर्मार्थसङ्ग्रह-अभिधर्मावतारप्रभृतयः पश्चात्कालीनाभिधार्मिकपालिग्रन्थाः चतुष्क्रमं वा पञ्चकनयं वा सूत्रान्तभाजनीयम् अभिधर्मभाजनीयञ्चेति वर्गभेदं अनुक्त्वा ध्यानानां पञ्चकमेवोदाहारन्ति।[4] चतुर्थशतके ख्रीस्ताब्दे तु महायानाभिधर्मग्रन्थेषु, आचार्यासङ्गानाम् अभिधर्मसमुच्चये,[5]

१. अङ्गुत्तरनिकायो, ससङ्खारसुत्तं, चतुक्कनिपतात, पृ० १६६।
  ,, विल्थतसुत्तं, पञ्चकनिपात, पृ० २८२।
 मज्झिमनिकायो, भयभेरवसुत्तं, मू० प० पृ० २५।
  ,, निवापसुत्तं ,, पृ० २०७।
 संयुत्तनिकायो, कस्सपसंयुत्ते झानाभिञ्ञसुत्तं, पृ० १७६–१७७।
  ,, सारिपुत्तसंयुत्ते विवेकजसुत्तं, पृ० ४५०–४५१।
 दीघनिकायो, सीलक्खन्धवग्गे ब्रह्मजालसुत्तं, पृ० ३२–३३।
 (नालन्दा-देवनागरी-पालिग्रन्थमाला)

२. धम्मसङ्गणि, चतुक्कपञ्चकनया, पृ० ४५, ४६, ४७।
  ,, ,, पृ० ६५–६६।

३. विभङ्गो, सुत्तन्तभाजनीयं, झानविभङ्गो, पृ० २९५।
  ,, अभिधम्मभाजनीयं, ,, पृ० ३१६,३१७,३१८।

४. "झानाङ्गभेदतो पञ्चविधं" अभिधम्मावतारो (सिंहलीसंस्करण) पृ० ४।
 "झानाङ्गयोगभेदेन पञ्चधा विभागं" अभिधम्मत्थविभाविनीटीका (भदन्तरेवतधम्मसम्पादित-संस्करणं) पृ० २५०।

५. "द्विधा ध्यानानि चत्वारि" (अभि० को० रा० सं० पृ० २२१)
 "चत्वारि ध्यानानि" (ज्ञानप्रस्थानम् शा० भि० सं० पृ० १५१)
 "चत्वारि ध्यानानि रूपधातुकैः सर्वैर् अनुशयैरनुशयितानि"
 (ज्ञानप्रस्थानम् शा० भि० सं० पृ० १५३, १६५, १६६, १६७, १७९)

सर्वास्तिवादिनाम् अभिधर्मग्रन्थे, आचार्यवसुबन्धुप्रणीते अभिधर्मकोषे[1] रूपावचरध्यानानि चतुर्विधानि एव स्वीक्रियन्ते। इत्थम् आलोच्यमाने इदं पर्यवस्यति यत् चत्वारि रूपावचरध्यानानि चत्वारि च अरूपावचरध्यानानि सूत्रपिटकेषु, सर्वास्तिवाद-सौत्रान्तिकविज्ञानवादमूलमहायानाभिधार्मिकग्रन्थेषु च सम्भवन्ति। अत एव अष्टविधध्यानानाम् एतेषां समावेशेन अष्टसमापत्तयः प्रसिद्ध्यन्ति। ध्यानपञ्चकवशेन 'नव समापत्तयः' इति विभागः बुद्धवचनेषु नोपलभ्यते एव।

परिनिर्वाणनिमेषात् पूर्वं तथागतो रूपावचरचतुर्ध्यानैः, अरूपावचरचतुर्ध्यानैः संज्ञावेदितनिरोधसमापत्त्या च समापन्न इति दीर्घनिकाये महापरिनिर्वाणसूत्रे दृश्यते।[2] तत्र च पञ्चमध्यानस्योल्लेखो नास्ति, भवेत् चेत्तत्रावश्यं वक्तव्यं स्यात्। इत्थं विविच्यमाने ध्यानपञ्चकस्य वर्गीकरणं पश्चात्कालीनम् इति सिद्ध्यति। विभङ्गे प्रतिपादितः 'सूत्रान्तभाजनीयम्' 'अभिधर्मभाजनीयम्' इति च विभागः द्वयोः पूर्वापरविभागयोः सङ्ग्रहमात्रम्।

• • •

१. "अभिधर्मसमुच्चयः", प्रधानसं० पृ० ६८।
 "चत्वारि ध्यानानि (रूपधातौ) प्रथमध्यानं, द्वितीयध्यानं, तृतीयध्यानं चतुर्थध्यानं च।"
 (अभिधर्मामृतम्, शा० भि० सं० पृ० ९४)

२. अथ खो भगवा पठमं झानं समापज्जि। पठमज्झाना वुट्ठहित्वा दुतियं झानं समापज्जि। दुतियज्झाना वुट्ठहित्वा ततियं झानं समापज्जि। ततियज्झाना वुट्ठहित्वा चतुत्थं झानं समापज्जि। चतुत्थज्झाना वुट्ठहित्वा आकासानञ्चायतनं समापज्जि।.....................।
 (दीघनिकायो, २. महावग्गे, महापरिनिब्बानसुत्तं, पृ० ११६। (नालन्दा-पालि-ग्रन्थमाला)

बौद्धयोगेषु निःस्वभावतादृष्टेः स्वरूपम्

श्रीराधेश्यामधरद्विवेदी

भगवता बुद्धेन जनानामाशयानुरोधेन धर्मो देशितः। एतच्च तन्त्रयानपारमितायानयोः व्याख्यानावसरे तत्तत्स्थले भिक्षुबोधिसत्त्वदेवनागदेवीगणपरिवृतः सन् प्रज्ञोपायात्मकं स्वरूपमाश्रित्य उक्तवान्—

"अहमपि शारिपुत्र, एतर्हि तथागतोऽर्हन् सम्यक्संबुद्धो बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पायै महतो जनकायस्यार्थाय हिताय सुखाय देवानां मनुष्याणां च नानाभिनिर्हारनिर्देशविविधहेतुकारणनिदर्शनारम्बणनिरुक्त्युपायकौशल्यैः नानाधिमुक्तानां सत्त्वानामाशयं विदित्वा धर्मं देशयामि।"

(सद्धर्मपुण्डरीके उपायकौशल्यपरिवर्तः पृ० २८)

एवमेव गुह्यसमाजोपदेशेऽपि भगवान् सर्वतथागतानामध्याशयं विदित्वैव तेषामनुरोधेन गुह्यं धर्ममुपदिष्टवान्। यत्र सर्वतथागताः एव श्रोतारः तथा च तेषामनुरोधो यथा—

भाषस्व भगवन् सत्त्वं वज्रसारसमुच्चयः।
सर्वताथागतं गुह्यं समाजं गुह्यसम्भवम्॥

किन्त्वत्रापि बोधिचित्तवज्रस्तथागतः तान् तथागतान् अध्याशयं विदित्वैव आह—

"साधु साधु भगवन्तः सर्वतथागताः। किन्तु तथागतानामपि संशयकरोऽयं कुतोऽन्येषां बोधिसत्त्वानामिति।" (गुह्यसमाजे)

तथा चैवम्भूतायां परिषद्यपि भगवान् बोधिचित्तवज्रस्तथागतः एतान् सर्वतथागतान् विभिन्नसमाधीन् सम्बोध्य तदनन्तरं च तेषामध्येषणां विदित्वैव धर्ममुपदेशितवान्। यद्यथा—

"अथ भगवान् सर्वतथागतकायवाग्वज्रस्तथागतः सर्वतथागतानामध्येषणां विदित्वा सर्वबोधिसत्त्वानां चेतसैव चित्तपरिवितर्कमाज्ञाय बोधिसत्त्वानां एवमाह। उत्पादयन्तु भवन्तः चित्तं कायाकारेण कायं चित्ताकारेण चित्तं कायप्रव्याहारेणेति।"

(श्रीगुह्यसमाजतन्त्रे द्वितीयपटलः)

किन्तु श्रावकयानस्योपदेशस्तु भगवता सर्वजनानामाशयानुरोधेन एव कृतः तद्यथा—चरथ भिक्खवे-इत्यादि।

किन्त्वत्र उपदिष्टानां श्रावकप्रत्येकबुद्धपारमितादियानानामुपदेशः नातिभिन्नः तत्त्वार्थरूपेण अपि तु एतेषां यानत्रयाणामुपदेशः महायानस्य सोपानक्रम एव। उक्तं च—

"आदिकर्मिकसत्त्वस्य परमार्थावतारणे।
उपायस्त्वयं सम्बुद्धैः सोपानमिव निर्मितः॥"

(अद्वयवज्रे तत्त्वरत्नावल्यां पृ० २१)

यद्यपीदं नाविदितचरमस्ति विदुषां तथापि विदिते अपि शास्त्रे स्थिताया अपि चैकतायाः भानं कदाचिदधिककालवशात् प्रतिक्षिप्तमिव प्रतिभाति तदस्यैव स्मरणाय अयं निबन्धः। उक्तञ्च—

"एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते तृतीयं हि नैवास्ति कदाचि लोके।
अन्यत्रुपाया पुरुषोत्तमानां यद्याननानात्वुपदर्शयन्ति॥ ५५॥
तेषामहं शारिसुता उपायं वदामि दुःखस्य करोथ अन्तम्।
दुःखेन संपीडित दृष्ट्व सत्त्वान् निर्वाण तत्राप्युपदर्शयामि॥ ६७॥

(सद्धर्मपुण्डरीकस्य द्वितीयपटले)

त्रियानमेकयानं च अयानं च वदाम्यहम्।
बालानां मन्दबुद्धीनामार्याणां च विविक्तताम्॥ २४५॥

(लंकावतारसूत्रे सगाथकम्–१०)

अतएव संसारे समुत्पतितानां समुद्धरणाय यानत्रयस्योपदेशः यद्यपि भगवता प्रदत्तः, तथापि तेषां सारः स्वदुःखहानिः परदुःखनिवारणमेव। अत एव त्र्याणां यानानां तिसृणां दर्शनदृष्टीनां आवश्यकता भवति। तद्यथा "वैभाषिकदृष्ट्या श्रावकयानं प्रत्येकयानं व्याख्यायते। महायानस्य पारमितायानतन्त्रयानाभ्यां विभागः। तत्र पारमितायानस्य सौत्रान्तिक-योगाचार-माध्यमिकस्थित्या व्याख्या क्रियते। तन्त्रयानस्य तु योगाचारमध्यमकदृष्ट्या एव।"

तत्र बौद्धयोगेषु निःस्वभावतादृष्टेः स्वरूपमधिकृत्य क्रियमाणोऽयं निबन्धः संशयमापन्नो जायते। यतो हि श्रावक-प्रत्येकबुद्ध-पारमिता-तन्त्रयानानां प्रत्येकं दृष्टिरपि भिन्ना-भिन्ना भवतीति अद्वयवज्रमुखापेक्षया इतः पूर्वमेव ख्यापितम्। किन्त्वत्र एतेषां व्याख्यानाय सर्वप्रथमः योगस्य स्वरूपं उपस्थाप्यते तद्यथा—श्रीगुह्यसमाजतन्त्रे—

"प्रज्ञोपाय समापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।" (१८ पटले पृ० १२३)

तथा चाभिसमयालङ्कारालोकटीकायाम्—'योगम् इति ध्यानबलाच्चैकाग्रताम्' (पृ० ३६३ तृतीय परिवर्ते)। एवञ्च योगे चित्तानामुपरि विशेषरूपेण नियन्त्रणमेव भवति। तथा चैवं योगदर्शनेऽपि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इत्युक्तम्। वस्तुतस्तु योगशब्दः युज्धातोः भावे घञि प्रत्यये कुत्वे च कृते सति निष्पन्नो भवति। एवं सर्वेषां मते योगे मनसः चित्तस्य वा एकाग्रीकरणं भवति। कश्चित्तु "देवो भूत्वा देवं यजेत्" इति रीत्या स्वशरीरमेव देवरूपेण स्वीकृत्य हठयोगं करोति। कश्चित् स्वशरीरे एव सर्वान् संसारधातून् भावयति तथा चैवं कुशलभावनया स्वशरीरं शोधयति। एवं परिशुद्धे शरीरे सर्वानर्थमूलानि अकुशलकारणानि दूरीभवन्ति तथा च चित्तं प्रसन्नमनाविलं जायते। एतादृशेन चित्तेन योगः क्रियते। एवं प्रायः सर्वेषु एव योग सम्प्रदायेषु मनसः चित्तस्य वा परिशुद्धतायै प्रयत्न आस्थीयते। बौद्धयोगिनां बौद्धेतरयोगिनां च स्वस्वप्रणाली वर्तते, तासां प्रणालीनां स्वस्वदृष्टिरस्ति, किन्तु सर्वासां दृष्टीनां मध्ये साम्यमपि वर्तते। योगः चित्तेन क्रियते, तच्चित्तं च स्वसम्प्रदाय-दृष्ट्यैवाभिव्यक्तं भवति। अत एव बौद्धानां पृथक् पृथक् दृष्टीनां व्याख्यानमपि आवश्यकं प्रतिभाति। तत्र अस्माकं दृष्टिरस्ति निःस्वभावता। तत्र का निःस्वभावता ? इति प्रश्ने उच्यते—

"इह स्वो भावो स्वभाव इति, यस्य पदार्थस्य यदात्मीयं रूपं तत्तस्य स्वभावः इति व्यपदिश्यते। किं च कस्यात्मीयं रूपं यद्यस्याकृत्रिमम्, यत्तु कृत्रिमं न तत्तस्यात्मीयं तद्यथा अपामौष्ण्यम्। यच्च यस्यायत्तं तदपि तदात्मीयं तद्यथा स्वे भृत्याः, स्वानि धनानि। यत्तु यस्य परायत्तं न तत्तस्यात्मीयं तद्यथा तावत्कालिकायाचित्तकमस्वतन्त्रम्। यतश्चैवं कृत्रिमस्य परसापेक्षस्य च स्वभावत्वं नेष्टं, अत एव औष्ण्यमग्नेर्हेतुप्रत्ययप्रतिबद्धत्वात् पूर्वमभूत्वा पश्चादुत्पादेन कृतकत्वात् न स्वभावो युज्यते। यतश्चैतदेवम्, अतो यदेवाग्नेः कालत्रयेऽप्यव्यभिचारि निजं रूपमकृत्रिमम्, पूर्वमभूत्वा भावः पश्चाद्यन्न भवति, यच्च हेतुप्रत्ययसापेक्षं न भवति अपामौष्ण्यवत् पारावारवत्, दीर्घह्रस्ववद्वा तत् स्वभाव इति व्यपदिश्यते। किं खलु अग्नेः तदित्थं स्वरूपमस्ति ? न तदस्ति। न चापि नास्ति स्वरूपतः। यद्यपि एवं तथापि श्रोतृणामुत्त्रासपरिवर्जनार्थं संवृत्या समारोप्य तदस्तीति ब्रूमः। यथोक्तं भगवता—

अनक्षरस्य धर्मस्य श्रुतिः का देशना च का।
श्रूयते देश्यते चापि समारोपादनक्षरः॥
शून्यमिति न वक्तव्यमशून्यमिति वा वदेत्।
उभयं नोभयं चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥

(मध्यमकशास्त्रम् २२-११)

एवञ्च सर्वोऽपि जगद्व्यवहारः कृत्रिम आरोपितश्चैव स्थापितो भवति मध्यमकशास्त्रे। न केवलं जगत् कृत्रिममपि तु निःस्वभावमेवेति अन्यदपि उक्तं लङ्कावतारसूत्रे—

केशोण्डुकं यथा मिथ्या गृह्यते तैमिरिकैर्जनैः।
तथा भावविकल्पोऽयं मिथ्या बालैर्विकल्प्यते॥
न स्वभावो न विज्ञप्तिर्न च वस्तु न चालयः।
बालैर्विकल्पिता ह्येते शवभूतैः कुतार्किकैः॥
बुद्ध्या विवेच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
यस्मात्तदनभिलाप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥
नैःस्वाभाव्यं हि भावानां यदा बुध्यति प्रज्ञया।
तदा विश्रमयति योगी आनिमित्तप्रतिष्ठितः॥

(लङ्कावतारे १० पटले)

एवञ्च माध्यमिकानां निःस्वभावतादृष्टिः प्रस्फुटा भवति, यामाश्रित्य पारमिता-तन्त्रयानानां साधनाक्रमः प्रचलति। तदिदानीं तन्त्रयानतः श्रावकयानं यावत् साधर्म्यं विविच्य तेष्वविरोधः प्रस्तूयते—

निबन्धस्य प्रस्थापनायामेव योगस्य स्वरूपमुक्तं प्रज्ञोपायात्मकमिति। तदिदानीं का प्रज्ञा ? कश्चोपाय इति वक्तव्यमस्ति। तत्र प्रज्ञा शून्यतारूपेण उपायश्च करुणारूपेण विविच्यते। एवमेतयोः परस्परं मिलनं योगो भवति। एतदेव वज्रयाने वज्रयोगस्याख्यानेऽपि प्रतिपादितं भवति। तत्र वज्रसत्त्वस्य स्वरूपमपि प्रज्ञोपायात्मकमस्ति। तदेव रूपं गुरोरपि निश्चीयते—

वज्रसत्त्वं नमस्कृत्य प्रज्ञोपायस्वरूपिणम्।
महासुखाद्वयं वक्ष्ये वस्तुतत्त्वं समासतः॥ १॥

एवञ्च

वज्रेण शून्यता प्रोक्ता सत्त्वेन ज्ञानमात्रता।
तादात्म्यमनयोः सिद्धं वज्रसत्त्वस्वभावतः॥

(अद्वयवज्रसंग्रहे, महासुखप्रकाशे पृ० २४)

गुरोः स्वरूपं प्रज्ञोपायात्मकमेवेति विनिश्चयसिद्धौ तु वज्रसत्त्वात्मकमपि। तद्यथा—

नमस्ते शून्यतागर्भ सर्वसङ्कल्पवर्जित।
सर्वविज्ञानसन्दोह ज्ञानमूर्ते नमोऽस्तु ते॥

जगदज्ञानविच्छेदि गुह्यतत्त्वार्थदेशक ।
धर्मनैरात्म्यसम्भूत वज्रसत्त्व नमोस्तु ते ॥
(प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धौ ३ परिच्छेदे)

तस्माद् वज्रयोगसाधनाय योगो स्वानुकूलां मुद्रां धारयित्वा गुरुसमीपं गच्छति, ततो गुरुस्तमुपदिशति तस्याध्येषणां विदित्वा। ततो योगी मण्डलेऽभिषेकाय प्रविशति। गुरुश्च योगिनो मुद्रायाः स्वरूपे कायवाक्चित्तरूपेण वज्रस्वरूपकल्पनाय पुण्यज्ञानसम्भाराय च सर्वं जगत्संवृतिरूपं व्याख्यापयति पञ्चशिक्षापदीद्वारा। एवं वज्राचार्यः शिष्यमुपदिशति, स च तेनोपदेशेन बोधिचित्तमुत्पादयति जगद्धिताय। तदपि बोधिचित्तं प्रज्ञोपायात्मकमेव।

शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तमिति स्मृतम् ।
(गुह्यसमाजे १८ पटले ३७१ श्लोकः)

एवं गुरुः शिष्यमनुशास्ति सर्वं जगत् शून्यं निःस्वभावमनात्मकञ्चास्ति। तदनन्तरे स पिण्डशरीरमेव जगत्कल्पमित्यप्यनुशास्ति। ततश्च वज्री मण्डल-मुद्रा-ध्यान-जपादिभिः सर्वस्य जगतो निस्वभावतां भावयन् स्वपरभेदमपि त्यजति। तथा चोक्तम्—

जनयित्रीं स्वसारं वा स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम् ।
कामयन् सर्वयोगेन लघु सिध्येत साधकः ॥ २५ ॥
(प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धौ पञ्चमपटले)

एतया रीत्या झटित्येव तत्त्वमधिगतं भवति, यतो हि मानवानामेतदेवास्ति निग्रहस्थानम्, यत्र स आगत्य नानाविधान् अकुशलानि सम्पादयति स्वीयजनानां क्षेमाय, किन्तु अन्यानि तथा न भावयतीत्यस्मादेव हेतोरेकात्मदृष्टिप्रस्थापनायैव योगिभिरेवमुक्तम्—

कर्मणा येन वै सत्त्वाः कल्पकोटिशतान्यपि ।
पच्यन्ते घोरे नरके तेन योगी विमुच्यते ॥ १५ ॥
(ज्ञानसिद्धिः प्रथमपरिच्छेदः)

तथा च डॉ० गुन्थरेणाप्युक्तम्—

"It is true we feel a kind of repugnance against the incestuous character of these expiriences, but we should not forget that under the incest symbol the most suble, most noble, most delicate, most chaste but also most usual feelings are hidden–all those feelings which contribute to the perplexing richness of human relationships and even provide them with coercive powers. he who wants integration, the attainment of wholeness, must take into account everything, however repugnent this may be appear to him.

(Yuganaddha philosophy P. 107)

अतो मनुष्याणां सर्वेषामस्ति यद्यप्यत्र जुगुप्सा, तथापि भावनया एतया सर्वान् प्रति समत्वदृष्टिर्जायते। ततश्च ज्ञान-धर्म-महामुद्रादीनामपि बोधो जायते। इदमपि स्वाभाविकमेव यद् यत्र भेदबुद्धिरुत्पन्ना भवति, तत्रैव भेदबुद्धेः खण्डनं कृत्वा सर्वसत्त्वानां निस्वभावतास्वरूपमधिगतं भवति। एवं च निःस्वभावतारूपाधिगमनेनेहैव जन्मनि सिद्धिः प्राप्यते—

प्रज्ञोपायेषु युक्तात्मा सर्वासङ्कल्पपराङ्मुखः ।
जन्मनीहैव सिध्येत तत्त्वाभ्यासकृतश्रमः ॥ १६ ॥
प्रज्ञापारमिता सेव्या सर्वथा मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
परमार्थे स्थिता शुद्धा संवृत्त्या तनुधारिणी ॥ २२ ॥
ललनारूपमास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ।
अतोऽर्थं वज्रनाथेन प्रोक्ता बाह्यार्थसम्भवा ॥ २३ ॥
(प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धौ पञ्चमपरिच्छेदे)

एवञ्च योगी नासिकाभ्यां निस्सरतोः श्वासप्रश्वासयोर्मध्ये आलिकालिवर्णानां भावनां करोति। तत्र शरीरे वामनाडी ललना उच्यते, यत्र षोडश स्वराः सन्ति। एवं च दक्षिणनाड्यां व्यञ्जनानां भावना क्रियते, सा च रसना इत्युच्यते। तयोर्मिलनमेव अवधूती इति कथ्यते। सैव बोधिचित्तं भवति 'अ' रूपेण।

ललना प्रज्ञास्वभावेन रसनोपायसंस्थिता ।
अवधूती मध्यदेशे तु ग्राह्यग्राहकवर्जिता ॥

एवं मध्यदेशीयावधूती कदाचित् चण्डाली-डोम्बी-मध्यनाडीरूपेण ख्याता उष्णीशकमले वर्तमानस्य महासुखेन स्वरूपेण बुद्धेन मिलितुमुद्विग्ना क्रमशः निर्माण-धर्म-सम्भोग-चक्राण्यतिक्रम्य जाज्वल्यमाना शिरसि महासुखचक्रमधिगच्छति। ततः शशी श्रवते, तेन प्रज्वलिता चण्डाली शान्ता भूत्वा 'हं' रूपं गच्छति—

चण्डाली ज्वलिता नाभौ दहति पञ्च तथागतान् ।
दहति च लोचना नाडी दग्धेऽहं स्रवते शशी ॥
(हेवज्रतन्त्रे १ पटले प्रथमभागे)

एवञ्चाधिगमनेन बोधिचित्तं शान्तं भवति, ततश्च योगिनां इत्थमनुभवो जायते—

एत्थु ते सुरसरि जमुणा एत्थु ते चन्द्रदिवा अरु।
एत्थु पयाग वाराणसी एत्थु ते चन्ददिवा अरु।
क्वेत्थ पीठ उपपीठ एत्थ महमहपरिदिठ्यो।
देहसरिस उ तित्थ मह सुण अण्ण (सुणेह) दिट्ठो॥

(दोहाकोशः पृ० २३०)

किन्त्वेतस्या अवस्थायाः पूर्वं वज्रयाने विमोक्षाणां ज्ञानमावश्यकं भवति। विमोक्षा एव मोक्षद्वाराणि। ते च शून्यतानिमित्ताप्रणिहितानभिसंस्कारस्वरूपाः। तेषां लाभेन क्रमशो विशुद्धियोगो धर्मयोगः, मन्त्रयोगः, संस्थानयोगश्च सिद्धो भवति। एवं वज्रयाने सर्वेषां योगानां सम्पादनं चित्तेन सम्पाद्यते। अतश्चित्तस्य माहात्म्यं भवतीति नात्र सन्देहः। चित्तमेव समाजरूपेणापि जायते, ततः सर्वेषां धर्माणामेकाकारतो यद् ज्ञानं तदेव बोधिचित्तमपि कथ्यते। चित्ते निःस्वभावताया भावनयैव बुद्धत्वावाप्तिः सम्भाव्यते। सा च निःस्वभावता वस्तुनः स्वरूपज्ञानेनैव भवति, यथा घटस्य निःस्वभावतादृष्टिस्तदैव पूर्णा भवति, यदा घटस्य निष्पत्तये घटस्य स्वरूपम्, घटस्य कारणं, घटस्य यत् फलं सर्वेषामपि निःस्वभावतया बोधः स्यात्। एवमेव बुद्धस्य स्वरूपज्ञानाय शून्यतायाः, अनिमित्ततया अप्रणिहिततायाः, अथ चानभिसंस्कारस्य बोध आवश्यकः। इदं प्रागुक्तमेव यद् वज्रयोगी स्वस्य सर्वं शरीरं वज्रसमाकारं भावयति। अत एव प्रागुक्तेषु चतुर्ष्वपि योगेषु सर्वत्र प्रज्ञोपायात्मकस्वरूपयोगाद् योग इत्युच्यते। एवमेते चत्वारो बुद्धस्वभावा निस्वभावस्वरूपा एव भावनीयाः। बुद्धस्वभावस्य ज्ञानाय प्रथमस्य विमोक्षस्य शून्यताया ज्ञानमावश्यकमस्ति। यतो हि सहजबुद्धकायस्यास्वभावाद् भावनया शून्यतास्वरूपमेवावशिष्यते। अयं चातीतानागतभावानां शून्यत्वज्ञानेन परमगम्भीरः परमोदरश्चापि उच्यते। एताभ्यामुपलक्षितं ज्ञानमेव शून्यताविमोक्षः, तेन विशुद्धं तुरीयावस्थाक्षरं महासुखमुच्यते। यतो हि तत्स्थानं करुणया संसक्तं भवति। सं सुखं तद्रूणद्धीति रूपेण। तस्मात् करुणालक्षणं ज्ञानवज्रं प्रज्ञोपायात्मकं सहजकायं भवति विशुद्धियोगः।

एवं द्वितीयस्यापि आनिमित्तसमाधेर्ज्ञाने निमित्तं बुद्धो बोधिर्वा भवति, तत्र हेतुः विकल्पचित्तं, तस्यापि शून्यतास्वभावत्वाद् हेत्वभाव उच्यते। हेतोरभावत्वादेवोपलभ्यमानो विमोक्ष आनिमित्तकः कथ्यते। यतो हि न विद्यते निमित्तं यस्य तदनिमित्तविमोक्षः। स एव सुषुप्तिक्षयान्नित्यानित्यद्वयरहितो मैत्र्यात्मकश्चित्तवज्रो धर्मकायस्वभावो भवति। एतस्य प्रज्ञोपायात्मकत्वाद् धर्मात्मयोग इति नाम।

तथा च कारणाभावात् पूर्वमुत्पादितस्य बोधिचित्तस्य काले यत्प्रणिधानं बोधिचित्तोत्पादकेन कृतम्, यदहं तावद् न विमोक्ष्ये, यावदन्यान् सर्वान् सत्त्वान् न विमोक्षयिष्यामि। तर्हि निमित्ताभावात् पूर्वं कृतस्य प्रणिधानस्यापि संबुद्धो भविष्यामीत्यादिकमपि न विद्यते तस्मादेवायमप्रणिहितविमोक्ष इत्युच्यते। एवञ्च स्वप्नक्षय इव सर्वसत्त्वरुतात्मको मन्त्रमुदितालक्षणः सर्वसत्त्वानां मोदनान्मनसस्त्राणभूतत्वाद् वाग्वज्रात्मकः सम्भोगकायो भवति। स च प्रज्ञोपायात्मको मन्त्रयोग इत्यपि उच्यते।

एवमेव प्रणिधानाभावादभिसंस्कारोऽपि न भवति, सर्वस्य निःस्वभावत्वात् प्राणायामादयोऽपि न भवन्ति, येन कृतेन योगी समाधिमधिगच्छति। एवञ्चास्मिन् समाधौ जाग्रदवस्थाक्षयात् सर्वस्य क्लेशस्य प्रतिपक्षरूपत्वादुपेक्षास्वभावात्मको निःस्वभावत्वात् कायवज्रः प्रज्ञोपायात्मको निर्माणकायस्वरूपः संस्थानयोगो भवति।

एतदेवोक्तं सेकोद्देशटीकायाम्—"स एव सहजकायः शून्यताविमोक्षो विशुद्धो ज्ञानवज्रः सर्वज्ञः प्रज्ञोपायात्मकः शुद्धयोग इति। स एव धर्मकायोऽनिमित्तविमोक्षविशुद्धचित्तवज्रं ज्ञानकायः प्रज्ञोपायात्मको धर्मात्मयोग इति। स एव सम्भोगकायोऽप्रणिहितविमोक्षः विशुद्धं वाग्वज्रं दिनकरवपुः प्रज्ञोपायात्मको मन्त्रयोग इत्युक्तः। स एव निर्माणकायोऽनभिसंस्कारविमोक्षविशुद्धं कायवज्रं पद्मपत्रायताक्षः प्रज्ञोपायात्मकः संस्थानयोग इति।"

(सेकोद्देशटीकायां पृ० ६)

एते सर्वे योगा वज्रयोगरूपेणोच्यन्ते, यतो हि सर्वस्मिन्नेव वज्रकल्पनालाभात् निःस्वभावतारूपस्याच्छेद्यमभेद्यं स्वरूपमधिगतं भवति। केषाञ्चनात्र अयमस्ति परामर्शो यदेतस्य वज्रयोगस्य विकासः श्रावकयानपारमितायानयोर्विकासक्रमेणाभूत्। यतो हि श्रावकपारमितायानयोरपि वज्रोपमसमाधयो भवन्ति। ततस्तस्य समाधेरेव स्वरूपं कालान्तरे वज्रयोगरूपेण जातम्। यतो हि वज्रोपमसमाधेरनन्तरमेव निर्वाणं साक्षात्कृतं भवति, अर्हतः स्वरूपेण बुद्धरूपेण वा।

श्रावकयाने निर्वेधभागीयानां ज्ञानेनैव कुशलमूलानामुत्पत्तिर्भवति, यतो ह्यस्मादनन्तरमेवार्यो मार्गः समुदेति। तत्रैव आर्यसत्यानां षोडशरूपेषु विभागं कृत्वा क्रमशोऽकुशलानां कर्मणां प्रहाणं क्रियते। अत एव निर्वेध उच्यते। उक्तं च भाष्ये—

"निर्वेधभागीयानिति कोऽर्थः, विध्-विभागे, निश्चितो वेधो निर्वेध आर्यमार्गः, विचिकित्साप्रहाणात् सत्यानां च विभजनात्, इदं दुःखमयं यावद् मार्ग इति। तस्य मागो दर्शनमार्गैकदेशः, तस्यावाहकत्वेन हितत्वान्निर्वेधभागीयान्" इति।

(अभिधर्मकोशभाष्ये ६ कोशस्थानं, पृ० ३४६)

तत्र पञ्चदशसु क्षणेषु मृद्विन्द्रियः श्रद्धानुसारी तीक्ष्णेन्द्रियो धर्मानुसारी पुद्गलः क्रमशो भावनया भावनाहेयान् दोषान् परित्यज्य निर्वाति, तथा च भवाग्रमुत्पादयति, तत्रासौ नवविधदोषान् परित्यजति गुणांश्चोत्पादयति। तत्र दोषाणां गुणानां मृदुमध्याधिमात्राणां मृदुमध्याधिमात्रक्रमेण क्षयो भवति। एवञ्च यस्य भावनया क्लेशा दूरीभूता न भवन्ति, स आर्यपुद्गलः सप्तवारं जन्म गृहीत्वा निवृत्तो भवति। यश्च त्रिचतुःप्रकारेण दोषेण विमुक्तः, स द्वित्रिवारं जन्म गृहीत्वा, यश्च क्लेशानां प्रथमतः पञ्चमप्रकारान्तं परित्यजति स सकृदागामिफले समाधिं करोति। यश्च षष्ठ-प्रकारतः क्षीणः स सकृदागामी भवति। यश्च सप्ताष्टदोषान् यावत् परित्यजति स एकजन्मा भवति। किन्तु येनार्यपुद्गलेन नवानामपि दोषाणां परिहारः कृतः स अनागामी कथ्यते। स एव पुनरानन्तर्यमार्गे स्थितो भूत्वा अर्हत्फलाधिकारी भवति, स तत्र सर्वोत्तमं वज्रोपमं समाधिं समागम्य सम्पूर्णक्लेशान् विदूरीकृत्य अर्हन् जायते।

एवमेव रूपारूप्यध्यानेषु उत्पन्नानां मौलसामन्तकसमाधीनामनन्तरं त्रिविधाः समाधयः श्रूयन्ते। शून्यतासमाधिः, आनिमित्तसमाधिः, अप्रणिहितसमाधिश्च। आनि-मित्तसमाधिः शमाकारा भवति। निरोधसत्याकारसम्प्रयुक्तत्वाद् दशभिर्हेतुभिर्विनिर्मुक्त-त्वाद् आनिमित्तमुच्यते। अनात्मत्वसम्प्रयुक्ता समाधिः शून्यतासमाधिः कथ्यते। एवमेव शून्यानात्मभिन्नमनित्यं दुःखम् (दुःखसत्यस्य प्रथमाकारद्वयम्) समुदयस्याकार-चतुष्टयं चेति दशाकारसम्प्रयुक्ता समाधिरप्रणिहिता उच्यते। त्रयोऽप्येते समाधयो द्विविधाः—शुद्धका अमला च। तत्र लौकिकाः शुद्धाः लोकोत्तरा अनास्रवाः। अमला अपि विमोक्षमुखरूपेण त्रय उच्यन्ते। यतो हि विमोक्षा निर्वाणस्य द्वारमूलत्वाद् विर्मुक्तेर्द्वाराणि भवन्ति। एवं त्रिविधानि तानि विमोक्षद्वाराणि संगृह्य विमोक्षत्रयेण सह पूर्वोक्ताः समाधयो जायन्ते। तत्र प्रथमसमाधिः शून्यताशून्यता भवति, अस्मिन् विषयाः शून्यतया अधिकृता भवन्ति। द्वितीया च अप्रणिहिताप्रणिहिता समाधिः, अस्मिन् अनित्यतः विषयाः अधिकृताः। एवमेव अनिमित्तानिमित्तसमाधिना अप्रति-संख्यानिरोधस्य साक्षात्कारो भवति। स च शान्ततो भाव्यते, अनास्रवश्च भूत्वा। किन्तु लौकिकाः शुद्धकाः समाधयः कथ्यन्ते। एवञ्च चतुर्थध्याने सर्वास्रवक्षयकृद्रूपत्वेन वज्रोपमसमाधेः स्वरूपमधिगतं भवति। तत्र प्रथमे शुद्धकध्याने धर्मसुखविहारः, द्वितीये दिव्यचक्षुरभिज्ञा, तृतीये प्रज्ञानां प्रभेदज्ञानं भवति। एवञ्चेमे समाधयो वज्रयोग इव मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षायुक्ता भवन्ति।

एवमेव महायानेऽपि अवबोधनिर्वेधादीनां क्रमः पूरणीयो भवति। पारमिता-याने साधकः प्रथमं बोधिचित्तमुत्पादयति, सर्वान् लोकान् उद्धर्तुंकामनया पुनश्च

जगतो निस्वभावतां विजानाति। तस्माद् दुःखार्णवे निमग्नस्य जगतस्त्राणमभिलक्ष्य तदुद्धरणाय कुशलकर्मणः सम्पादनाय बुद्धत्वाय च चित्तमुत्पादयति। ततश्च स प्रणिधानं करोति सम्यक्संबोधिकामनायै—

'दशसु दिक्षु प्रत्येकं गङ्गानदीवालुकोपमेषु लोकधातुषु ये सत्त्वास्तान् सर्वाननु-पधिशेषनिर्वाणधातौ परिनिर्वापयितुकामेन प्रज्ञापारमितायां शिक्षितव्यमिति वा मत्सरिणः सत्त्वान् दाने, दुःशीलान् शीले, व्यापादबहुलान् शान्तौ प्रतिष्ठापयितुकामेन बोधिसत्त्वेन प्रज्ञापारमितायां शिक्षितव्यम्।

अत एवोक्तम्—

चित्तोत्पादः परार्थाय सम्यक्संबोधिकामता।
समासव्यासतः सा च यथासूत्रं स चोच्यते॥ १९।

(अभिसमयालङ्कारालोके—पृ० २८४)

क्रमशो बोधिसत्त्वो बोधिचित्तमुत्पाद्य चतुर्निर्वेधभागीयान् परिपूरयति। स समाहितेन चितेन सर्वधर्मनैरात्म्यं भावयन् क्रमेण यदा पृथग्भूतार्थाभिनिवेशा-भावादीषत्स्पष्टज्ञानालोकेन मनोमात्रं पश्यन् ऊष्मगतावस्थावदालोकलब्धनामकं समाधिं प्राप्नोति, तदा धर्मालोकस्य वृद्ध्यर्थं नैरात्म्यभावनायां वीर्यारम्भेण तस्य मध्यस्पष्टो ज्ञानालोको भवति। एवं च मूर्धावस्थावद् वृद्धालोको नाम समाधिर्जायते। यदा तु चित्तमात्रावस्थानेन स्पष्टतरो बाह्यार्थाभि-वेशाभावो ज्ञानालोको जायते, तदा क्षान्त्यवस्थायां ग्राहकाकारानुप्रवेशात् तत्त्वार्थैकदेशप्रविष्टो नाम समाधिः। यदा पुनरर्थग्राहकविक्षेपाणामाभासो ज्ञानालोको निष्पद्यते, तदा लौकिकाग्रावस्था, स एवानन्तर्यसमाधिर्भवति। ततश्च बोधिसत्त्वो 'निरात्मानः सर्वधर्माः' इति भावनया पुण्यज्ञानसंभारान् सम्पाद्य सर्वधर्मनिःस्वभावता-साक्षात्कारि स्फुटतरं ज्ञानमुत्पादयति। तदर्थं च पारमिताभूम्यादीनां साधनां करोति। तथा च बोधिसत्त्वो नानविधान् क्लेशान् कामरूपारूपधातुगतान् प्रहिणोति। ततश्च दर्शनमार्गे एव प्रमुदितायाः प्रथमः क्षणो गृहीतो भवति, एकाभिसमयज्ञानात्। "ततोऽन्ये द्वितीयादयः क्षणा वज्रोपमाख्य आनन्तर्यमार्गो यस्मादनन्तरं समन्तप्रभा-बुद्धभूमिरवाप्यते। सर्वोऽसावग्रार्थेनेत्यादिना धर्मधातोः प्रतिषेधाद् भावनामार्गोऽ-भिधीयते।" (अभिसमयालंकारालोके—सर्वाकारज्ञतापरिवर्ते पृ० ३१७)।

एवञ्च वज्रोपमसमाधेः पूर्वं भूमीनां समाधिज्ञानमावश्यकं भवति। तत्रैव विमोक्षाणां व्यवस्था अस्ति। विमोक्षा एव निर्वाणस्य द्वारमित्युक्तमेव प्राक्। पुनश्च त्रयाणां शून्यतानिमित्ताप्रणिहितपूर्वकाणां विमोक्षाणां शून्यतानिमित्ताप्रणिहित-समाधयो भवन्ति। परिकल्पितस्य जगतः स्वरूपज्ञानाय अनभिसंस्कारमपि विमोक्ष

एव कथ्यते तन्त्रयाने। तथैव पारमितायानेऽपि जगतः परिकल्पितस्वभावाद्
निःस्वाभाव्यं प्रतिपादयितुं नास्ति विप्रतिपत्तिः। अत एव मन्ये, वज्रयानस्य भूमेः,
अथ च वज्रोपमसमाधेः सूचना पारमितायाने एव दृश्यते। यत्तो हि प्रज्ञापारमिता-
यानेऽपि विमोक्षाणां तदेव रूपमस्ति यद् रूपं वज्रयानेऽस्ति। यद्यपि श्रावकयाने
एवं विमोक्षस्य स्वरूपं नास्ति, तथापि तत्रापि कल्पितस्यानित्यतोऽनात्मतः शान्ततो
विमोक्षस्यैव स्वरूपस्य पारमितायाने निःस्वाभाव्यं स्वरूपं पुनश्च तेषामेव वज्रयानी-
यानां विमोक्षरूपेण विकासः। अथ च श्रावकयानस्य वज्रोपमसमाधिरेव वज्रयोग-
रूपेण विकसित इति वक्तुं शक्यते। यतो हि महायाने विमोक्षाणां शून्यतानिमित्ताप्रणि-
हितानभिसंस्कारपूर्वकमेव शून्यतानिमिताप्रणिहितादिसमाधीनां ज्ञानम्। तच्च
समाधीनां स्वरूपम्—

> **परिज्ञायै प्रहाणाय पुनः साक्षात्क्रियां प्रति।**
> **शून्यतादिसमाधीनां त्रिधार्थः परिकीर्तितः॥**

इति वचनाद् येनाकारेण प्रतिभासते, स घटाद्याकारः कल्पितस्वभावः। तस्य
परिज्ञानार्थं शून्यतासमाधिरुक्तः। कल्पितो हि स्वभावः परिज्ञेयो भ्रान्तिख्याति-
मात्रेण सत्त्वात्। सर्वधर्माभिनिवेशविविक्तमायोपमज्ञानस्य साक्षात्क्रियार्थमानिमित्तः
समाधिः। योगिसंवृत्या तथारूपस्य परिनिष्पन्नस्याधिगन्तव्यस्वभावत्वात् पुद्गल-
धर्माभिनिवेशस्य परतन्त्रस्य प्रहाणार्थमप्रणिहितः समाधिः। ग्राह्यग्राहकाभिनिवेशस्य
विपर्यासप्रभवत्वेन प्रहेयत्वात्।"

(अभिसमया० ३० परिवर्तं पृ० ५४३–४४)

एवमेवाभिसंस्कारस्य विषयेऽप्युक्तम्—

"सुभूतिराह—यदा भगवन्, अभिसंस्कारो विकल्प इत्युक्तं भगवता, तदा कथं
बहुतरं पुण्यं प्रसवतीति उच्यते। भगवानाह—सोऽपीदानीं सुभूते, पुण्याभिसंस्कारो
बोधिसत्त्वस्य महासत्त्वस्य प्रज्ञापारमितायां चरतः शून्यक इत्येवाख्यायते, रिक्तक
एवाख्यायते, तुच्छक इत्येवाख्यायते,, असारक इत्येवाख्यायते। यथा यथा खलु पुनः
सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्व एवं सर्वधर्मान् प्रत्यवेक्षते, तथा तथा सुभूते, बोधिसत्त्वोऽ-
विरहितो भवति प्रज्ञापारमितया। यथा यथा च सुभूते, बोधिसत्त्वो महासत्त्वोऽ-
विरहितो भवति प्रज्ञापारमितया, तथा तथा अप्रमेयमसंख्येयं पुण्यं प्रसवति।"

(पृ० १७२ शून्यतापरिवर्तं, अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितायाम्)

• • •

रसदर्शने तन्त्र-योग-बौद्धमतप्रभावः

प० श्रीशिवनारायणशास्त्री

साहित्यसमोक्षाशास्त्रस्य भित्तिभूमित्वेन पाणिनीयदर्शनस्य परिचितिः।
भगवतः पाणिनेरष्टाध्यायी, कात्यायनस्य वार्त्तिकपाठः, पतञ्जलेर्महाभाष्यञ्चैतत् त्रितय-
मेव शब्दाद्वयवादस्याकरः। एषु च शब्दशुद्धिः, अर्थवैचित्र्यम्, प्रयोगविज्ञानम्,
वाग्वैदग्ध्यम्, रचनाविच्छित्तिरित्यादयः प्रकाशकलाः तत्रभवतां वैयाकरणमुख्यानां
वैदग्ध्यभणितिषु यद्यपि परं प्रावीण्यं लब्धाः; तथापि भगवतो भर्तृहरेर्वाक्यपदोये
ग्रन्थे एव शब्दाद्वयवादः सर्वविमतिविशुद्धां दार्शनिकीं भूमिमधिरूह्य प्रायेण सर्वसम्प्र-
दायस्वीकृतिं भजते। यत्र 'प्राप्तरूपविभागाया वाचः परमो रसः' आस्वाद्यते। तत्र
भगवतो भर्तृहरेस्तत्त्वपद्धतिं समवलम्ब्य धर्मकीर्त्ति-वामन-जिनेन्द्रबुद्धि-मैत्रेयरक्षित-
हेमचन्द्र-वोपदेवादयः शाब्दिकाः शब्दार्थबोधसमीचां परां काष्ठां प्रापितवन्तः। या हि
शब्दार्थसमीक्षाशैली एभिः शाब्दिकैः संवत्सरसहस्रं व्याप्य परिशीलनपरैः परां
प्रौढीं प्रापिता, सैव वामन-क्रमदीश्वर-राजेश्वर-भोजादीनां भाषातात्त्विकानां रचनासु
शब्दपाक-वाक्यपाक-काव्यपाकादिनाम्ना अर्थसौन्दर्यस्य क्रमाभिव्यञ्जनायां प्रतिष्ठा-
मधिगता। यद्यपि शब्दस्य नित्यानित्यत्वविचारप्रसङ्गे नास्तिकास्तिकदर्शनयोर्मध्ये
मौलिकवैमत्यमवलोक्यते, तथापि शब्दतत्त्वजिज्ञासायां तयोः सम्प्रदाययोर्बाहुल्येनैक-
मत्यं न स्वीकार्यं भवति। पाणिनीयदर्शनस्य काशिकाशाखा, दिङ्नाग-धर्मकीर्त्ति-
जिनेन्द्रबुद्धिपादादीनां शब्दतत्त्वसमीक्षा चात्र प्रमाणम्।

शब्दार्थतत्त्वजिज्ञासायाः क्रमविकाशपथि राजनैतिकपटपरिवर्त्तनस्य सामाजिक-
परिवर्त्तनस्य च प्रतिक्रिया अनवहेलनीया। बौद्धधर्मस्य प्रचारे प्रसारे च सा मौर्य-
युगादारभ्य शुङ्गयुगं यावद् वर्णज्येष्ठानां यद्यपि तथानुप्रवेशाधिक्यं जनजीवनं न
विक्षुभ्नाति, तथापि गुप्तसाम्राज्यकालमारभ्य हर्षवर्धन-पुलकेशिनोः राज्यकालपर्यन्तं
वैदिकसंस्कृतेर्बौद्धसंस्कृतेश्च प्रभावो लोकचित्ते आपाततस्तुल्यमूल्यत्वेनोपलक्षितोऽपि
गणमानसे बौद्धधर्मप्रभावोऽधिकतरोऽवभासते। हर्षवर्धनस्य च राज्यसमयतस्तत्र
भगवतः शङ्कराचार्यस्याभ्युदयकालं यावद् भारतोयेतिहासस्यान्धकारमयः काल इति
कथ्यते। समयश्चायं राष्ट्र-धर्म-समाज-संस्कृति-विप्लवादिभिः सुतरां विडम्बितः।
धर्माचरणेऽभिचारेन्द्रजालादयः, समाजपरिवृत्तौ अतिचारव्यभिचारादयः, राष्ट्र-
नीतौ उत्कलापन-मात्स्यन्यायादयः, संस्कृतिक्षेत्रे असूयाहमहमिकतादयऽस्या-

न्धकारमयकालस्य जनमानसं गणजीवनं च यथेष्टं निराशम्, निरुद्यमम्, विक्षुब्धम्, नोरसञ्च चक्रुः ।

एवं सत्स्वपि विकारेषु या हि ज्ञानसम्पत् सिद्ध-बौद्धाचार्येभ्योऽस्माभिरासादिता सा तुलनीया । अस्मिन् हि काले भौतिके आध्यात्मिके च रसशास्त्रे तत्रभवतां सिद्ध-बौद्धानां विचिकित्सा परिचिकीर्षा चैकत्र यथा आयुर्विज्ञानस्य रसायन-शास्त्रस्य च औत्कर्ष्ये सफलीभूता, आध्यात्मिक-रसशास्त्रविवेचनेऽपि तथा प्रावीण्यं लब्धा, अन्यत्र च तथा तान्त्रिकप्रतिक्रियात्वेन करुणायां निर्ममता, नैतिकतायां निष्प्राणाचारनिष्ठा, कोमलकाव्यालापे उदासीनता च जनमानसे परिलक्षिता । अस्मिन्नेव हि समये रसस्य सहृदयसंवेदनता वाच्यालङ्कारत्वेन परिगणिता ।

अस्मिन् काले यद्यपि रसमन्दाकिनी राष्ट्रक्रान्तिधर्मविप्लवादिना खलीकृता, तथापि शान्तरसस्य चर्चा समधिका आसीत् । त्रिवर्गसाधनभूते नाटयशास्त्रे मोक्ष-साधनभूतस्य सर्वरसप्रकृतेः शान्तरसस्यानुप्रवेशो नाटयशास्त्रकारैः चित्राङ्कितकदली-फलवत् प्रकृततात्पर्यहीनः शून्यायमानश्च मन्यते, किन्तु नाटयशात्रे शान्तरसस्य अङ्गिरसत्वेन सार्थकता नागानन्दादिनाटकेषु प्रतिपादिता, तस्य चानुचिकीर्षा प्रबोध-चन्द्रोदयादिनाटकेषु पूर्णतां प्राप्ता ।

रसविचिकित्सायामपि बौद्धाचार्याणामनुदानं न खलु न्यूनतरम् । रससूत्र-स्याद्यो व्याख्याता मातृगुप्तो बौद्ध इति श्रूयते मेधाविभामहादिषु बौद्धशङ्का नाद्यापि सम्यङ् निरस्ता काव्यात्मत्वस्य रसरूपताविषये बौद्धाचार्यस्य शौद्धोदनेः प्रतिभा-नैर्मल्यं सर्वैः स्वीकृतम् । बौद्धदर्शनस्य अपोहादिमतजातस्य अविच्छेद्यता समीक्षा-शास्त्रे स्वीकृता, शब्दार्थतत्त्वजिज्ञासायां रसविवेचनप्रसङ्गे चाचार्यस्य धर्मकीर्त्ति-मंतम् आचार्याभिवनगुप्तपादादिभिः सप्रश्रयमुरीकृतम् । किमधिकं वैदिकदार्शनिकैर्बौद्ध-समीक्षकैश्च सह वीर्यंकरणेन तन्त्रयोगादिभ्यो रहस्यसूत्रं च समाकलय्य यदपूर्वं रस-शास्त्रं शासितम्, तच्च सर्वसम्प्रदायस्य सकलधर्ममतस्य विविधप्रस्थानस्य च पारे स्थितम्, सर्वजनमान्यमनवद्यं भारतीयं साहित्यसमीक्षात्मकं रसदर्शनम्, यतो रसास्वादो जातिधर्मवयोविचारैर्नाच्छाद्यते । रसास्वादक्रमे युक्तयुञ्जान-ध्यान-योग-साहश्यकल्पनेऽपि परनिवृत्तिरूपा बौद्धदर्शनीयनिर्वाणवादविकल्पनापि कैश्चिद् वितर्क्यंते, अस्तित्वानस्तित्ववादयोर्विभेदः केवलं वेदस्य मान्यत्वामान्यत्वे, न तु कदाचित् सत्यार्थतत्त्वस्योहापोहे सत्यार्थतत्त्वसंवृतौ वेति भारतीया परम्परा ।

महात्रिपुरसुन्दरी वाच्यवाचकरूपेणाखिलं जगद् व्याप्नोतीति त्रिपुरार्णव-तन्त्रस्य परामर्शः । सा हि चैतन्यमयी परमा शक्तिर्विश्वं बहुधा व्याकुर्वंती सिसृक्षया

परमशिवेनालिङ्गिता जडाजडात्मकं चराचरं सृजति, आत्मानं लीलारसेन प्रगुणयन्ती क्रीडति, लीलावसाने च आत्मन्येव संहरति, अव्याकृतपरावाग्रूपा सा स्वायंभुवेन शिवेन सह सार्धत्रितयावगुण्ठिता सती त्रिलोकं समुद्भाष्य तिष्ठतीति त्रिपुरसुन्दरीति कथ्यते । स्वकीयानन्दशक्त्या विश्वमानन्दसुन्दरं विदधातीति ललिताऽस्या अपरं नाम । चर्चास्तवे तत्रभगवत्याः साक्षात्कारं लभमानः साधको गायति—

त्रिपुरासंज्ञया भद्रे तद्रूपा विश्वविग्रहा ।
वाच्य-वाचक-रूपेण व्याप्नोत्यमितवैभवम् ।।
त्रिरूपा नाम विज्ञेया तदभिन्ना जगन्मयी ।
ललिता श्रीमंहीदेवी महात्रिपुरसुन्दरी ।।

तन्त्रयोगसमादिष्टां कुलपद्धतिमनुसृत्य यदा सा विचित्रलीलारसं नाटयन्ती चक्रे चक्रे यथा यथा चित्ररसं समास्वादयन्ती सहस्रारे परमपुरुषेण सह महामिलना-भीप्सया ऊर्ध्वमूर्ध्वमुत्क्रामति, तथा तथा साधकचित्ते कवित्वकमलकलिकाविचित्र-वर्णनरसेन जगत्त्रयं व्यामोहयन्ती विकसिता भवति । सा हि भगवती कवीनां हृदये सौन्दर्यविभ्रममाविष्करोति । कोटिविद्युत्समप्रभायास्तस्या हि विचित्राः कान्तयः कवित्वकुमुदप्रकरबोधपूर्णेन्दवः ।

मूलाधारे परमशिवेन संगता सा ललिता महाविद्या प्रतिभारूपेण कविहृदये काव्यनिर्माणशक्तिमभिव्यनक्ति । पूर्णचन्द्रचन्द्रिकारूपेण सा काव्यकुमुदं प्रस्फोटयति । किन्तु साऽनाराधिता मूलाधारत्रिके सार्धत्रितयावगुण्ठिता फणिनीवाधोमुखी तिष्ठति । तदिदं मूलाधाररूपं पञ्चभूतात्मकं पद्मचक्रं वकारादिसकारान्तैर्वर्णैरूप-लक्षितं काव्यकलाकृष्टिक्षेत्रम्; यत्र खलु काव्यबीजानि उप्यन्ते, अङ्कुरितानि च भवन्ति । तद्रहस्यमुपश्लोकयितुमाह सौन्दर्यलहरीकारः—

चक्रं त्रिपुरसुन्दर्या ब्रह्माकारमोश्वरी ।
पञ्चभूतात्मकं चैव तन्मात्रात्मकमेव च ।।

अस्मिन्नेव मूलाधारे अव्याकृता परावाक् परमारतिश्च चित्रशृङ्गार-मास्वादयन्त्यौ तिष्ठतः । यदाह सौन्दर्यलहरीकारः—

"तवाधारे मूले···नवरसमहाताण्डवनटनम् ।"

नवभिः शृङ्गारादिभी रसैस्तस्य नृत्यावसानमेव जगत्संहृतिरिति ।

एतदुक्तं भवति, यावद् नादरूपो महादेवः परमया शक्त्या सह सङ्गतो विश्व-सृजन-लीला-नृत्यव्याजेन नवभिः शृङ्गारादिरसैर्विचित्रानन्दरसमास्वादयन्नस्ति, तावदेव नानारसात्मकं नवं नवं जगद्विचित्रसौन्दर्यसम्पद्भिर्बहुधा स्फुरति ।

तन्त्रशास्त्रे सैव परा वाग् आनन्दभैरवीति चितीति ह्लादिनीति कुलकुण्डलिनीति च बहुविधाभिरभिधाभिर्जगति अभिनन्दिता। अस्या एव कुलकुण्डलिन्याः स्वरूपं ख्यापयन्नाह परमानन्दस्वामी सैव कोटिविद्युत्प्रकाशा परमानन्दमयी कुलशक्तिः उत्तमकाव्यबन्धस्य मूलकारणम्, या हि रुचिराभी रीतिभिः, सरसैः शब्दबन्धैः, विच्छित्तिविलसितध्वनिभिर्नवं नवं रसमयं विश्वं व्याकरोति "कूजन्ती कुलकुण्डलिनी······'कोमलकाव्यबन्ध-रचना-भेदाति-भेदक्रमैः।" एतदेव तत्त्वं स्वात्मसाक्षात्कारेण समर्थयन्ती सौदर्यलहरी उल्लसति—"कवीनां सन्दर्भस्तबकमकरन्दैकरसिकं····'नवरसास्वादतरलम्" इति।

काव्यतत्त्वस्य रहस्यं खलु पिहितमास्ते काश्मीरशैवागमस्य स्पन्द-प्रत्यभिज्ञातत्त्वयोः। शब्दाद्वयवादस्य शब्दार्थयोर्द्वैत्वे यदद्वैतामृततत्त्वम्, तत् काव्यतत्त्वत्वेन परिगृह्यते। चन्द्र-चन्द्रिकयोरिवाव्यतिषक्तयोः शब्दार्थयोर्द्वन्द्वत्वेऽपि यदा स्पन्दक्रमेण शिवतत्त्वेन शक्तितत्त्वमभिभूयते शब्द इति, तदा तस्य नाम; यदा तु प्रतिस्पन्दन्यायेन शक्तितत्त्वमाहात्म्येन शिवतत्त्वमाच्छाद्यते, तदा अर्थ इति नाम। यो हि रसशास्त्रे वस्तु वा अलङ्कृतिर्वा रसो वेति त्रिधा आस्वाद्यते। तात्पर्यञ्चात्र—

न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।
अनयोरन्तरादर्शी संसारान्न प्रमुच्यते॥

रससंवित्तिः पुनरलौकिकातीन्द्रियप्रत्यक्षविशेषो लौकिक-यौगिकप्रत्यक्षव्यतिरिक्तः स्वात्मसाक्षात्कारापरपर्यायः सच्चिदानन्द-संविद्-विश्रान्तिरूपः। स हि साक्षात्कारविशेषो विभावादिजीवितावधित्वेऽपि शैवागमे वैष्णवागमे चास्वादप्रकारतायां भिद्यते। शैवागमानुगसैद्धान्तिकरसप्रस्थाने विभावादिसम्पदां सत्तासत्ते रसनिष्पत्तेरन्वयव्यतिरेकता। स एष रसास्वादो लौकिककार्यकारणादीनामनुमानेन प्राकृतकाव्य-नाटकोपलक्षित-विभावादिसम्पद्भिर्निष्पाद्यते, व्युत्थानधर्मशीलत्वात् प्रकृतो रस इति परिगणना। सर्वे सहृदया एवास्याधिकारिणः। अप्राकृते रसत्वे रसजीवातुविभावादयः सर्वेऽप्राकृतभावविभूतयः। साधक-सहृदया एव तत्रास्वादकाः, नान्ये। नित्यधाम्नि परिनिर्वृतिं लब्धाः शाश्वतिकताङ्गता भक्तसहृदयाः सहस्रारशतदलकमलामृतसमुद्रे एकदा लीनाश्चेद् न कदाचिद् व्युत्थानरूपं विच्छेदं सहन्ते। "यद् गत्वा न निवर्तन्ते" तस्मिन् परमे धाम्नि षट्सम्पत्तिमतिक्रम्य नवधाभक्तिमाहात्म्येन परां निर्वृतिं नितरां भजन्त इति शम्।

टिप्पणी : प० श्रीबकुदनाथशास्त्री खिस्ते

शब्दतत्त्वविदां वैयाकरणानां मतमनुसृत्य यद्यपि प्रवृत्तोऽभूद् ध्वनिव्यवहारः, तथाऽपि तस्य साहित्याध्वनि किमप्यन्यादृशं वैशिष्ट्यं जरीगरीति। न केवलं भर्तृहर्यादियुक्तायाः 'प्राप्तरूपविभागाया वाचः परमो रसः' एवाऽत्र विवक्षामारुरुक्षति, किन्तु मयूराण्डरसन्यायेन स्वान्तर्गर्भीकृतसकलार्थवैचित्र्यसम्पदः शाब्दयाः संविद एव काव्यत्वेन व्यवहारः सहृदयैरङ्गीक्रियते। ततश्च—ध्वनतीति ध्वनिर्वाक्, ध्वन्यतेऽस्मिन् ध्वनिरर्थः, ध्वननं ध्वनिर्व्यापारः, तत्प्रतिपादकत्वाद् ध्वनिरुत्तमं काव्यम्, प्रतिपाद्यप्रतिपादकाभेदाद् ग्रन्थोऽपि ध्वनिरिति लोचनकारपरामर्शः समीचीनतामञ्चति।

'शब्दार्थौ काव्यम्' इति दर्शनमतीव प्राचीनं भामहाद्यैराचार्यैः स्वमनीषिकया परिपोष्यमाणं प्रसारमापत्, न केवलं वैय्याकरण-दार्शनिकाद्याश्रयमात्रेण सोऽयं फलेग्रहिरभूत् काव्यशास्त्री, किन्तु कवीनामेव स्वयं लब्धसमुन्मेषया प्रतिभया प्रभूतवैभवः समजायत, यदुक्तमाचार्यदण्डिना—

इह शिष्टानुशिष्टानां शिष्टानामपि सर्वथा।
वाचामेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते॥ इति।

शिष्टानुशिष्टत्वं नाम महाकविप्रयोगविषयतया सर्व जनसम्मतत्वमेव।

प्रायः 'संवादिन्यो भवन्ति मेधाविनां बुद्धयः' इत्यस्ति भणितिः, ततश्च बौद्धाचार्याणामपि विचारदृक् साहित्याध्वनि निपतन्ती न नाम प्रतिक्षेप्यतामर्हति, अत एव च नाट्यशास्त्रव्याख्याने अभिनवगुप्तपादैरन्यैश्च मम्मटादिभिर्यथास्थानं तद्विचारोऽपि व्यधायि।

रसदर्शनस्य वेदोपज्ञत्वं भरताद्युक्तदिशा—

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

इति व्यवस्थाप्यमानं न दुष्यति। किञ्च पण्डितराजाद्यैर्विद्वद्भिः शब्द-प्रत्यक्षाभ्यां प्रमाणाभ्यां रससिद्धौ क्रियमाणायां 'रसो वै सः' इत्यादिश्रुतिप्रमाणमुद्धृतमेव। कविना राजशेखरेण काव्यविद्यासम्प्रदायक्रमे 'रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः' इति वदता भगवतः शिवस्य शिष्यपरम्परायां रससम्प्रदायोपबृंहणकर्तृत्वं नन्दिकेश्वरस्य सूचितम्। न चेयं दन्तकथा इति शक्यते वक्तुं तत्रैव 'रूपकनिरूपणीयं भरतः' इति सूचनया भरतनाट्यशास्त्रसङ्केतः प्रदत्तः, योऽद्यापि प्रत्यक्षतामधिशेते।

शान्तरसस्य सर्वरसोपादनत्वमपि बौद्धाचार्यैः शैवाचार्यैरपि च वर्ण्यमानं स्व-स्वसिद्धान्तभेदादुपयुज्यते, मूलगत-दृष्टिभेदाद् व्याख्याभेदस्तु सम्भवत्येव। एकत्र पूर्णाहंभावस्य परत्र नैरात्म्यस्य च चरमलक्ष्यतया वस्तुनि भेदो दुर्वारः।

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः श्लोकः शोकत्वमागतः॥

इति श्लोकव्याख्यायामभिनवगुप्ताचार्यैः प्रत्यपादि यन्नायं लोकसाधारणः शोकः, नहि दुःखितः कवयितुं चेष्टते, किन्तु पूर्णाहंभावसमुन्मेषादुच्छलन्त्याश्चित्तवृत्तेर्बहिरुन्मेषदशायां परिपूर्णजलकुम्भोच्चलनन्यायेन श्लोकः स्वयमेव निर्गतः। नात्र दुःखोद्रेकः, नाऽपि तत्प्रहाणबुद्धिरपि।

अश्वघोषादिभिर्महाकविभिर्नागानन्दादिनाटककारैः शान्तकरुणादिरसपरिपोषः सम्यगनुष्ठितोऽपि न कालिदासादिकृतिवत् सर्वजनसंवेद्यतामयासीत्, तत्र कारणं हृदयसंवादसञ्जनने तदक्षमत्वमेव। यतः साहित्याचार्याणामियमुक्तिः—

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥

यद्यपि त्रैपुरदर्शनवचनान्युपन्यस्तानि तान्यनुग्राहकाण्येव वैय्याकरणैरागमिकैरपि शिव-शक्त्योः शब्दार्थरूपतां स्वीकृत्य रसमयत्वं व्याख्यातमस्ति।

कवेः काव्यनिर्माणे प्रतिभैव हेतुरिति प्राचीनोऽयं पन्थाः। सा च शक्तिरिति संविदिति स्वात्मकलेति वा व्यपदिश्यते। यत्तु रसविषये प्राकृताऽप्राकृतविभागः स तु नाऽस्मभ्यं रोचते, बीभत्स-भयानकादीनां रसत्वभङ्गापत्तेः। भक्तेरेव रसत्वमित्यपि न समीचीनम्। निरवच्छिन्नायाः प्रसरन्त्याः संविदः साम्राज्ये सङ्कोचकलङ्कातङ्कस्य निरवकाशत्वादित्यलं पल्लवितेन।

• • •

आयुर्वेद-चिकित्सायां योगगौरवम्

प० श्रीगोमतीप्रसादमिश्रः

चिकित्सायां योगगौरवविचारे चिकित्सापदं कित् (व्याधिप्रतीकारे)-धातोः "गुप्तिज्किद्भ्यः सन्" इति स्वार्थे सन्प्रत्यये कृते सिद्धं भवति। एतेन सिद्धं भवति रोगप्रतीकारश्चिकित्सितमिति। तल्लक्षणम्—

याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरे धातवः समाः।
सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम्॥
(च० सू० १६ अ०)

प्रयोगः शमयेद् व्याधिं योऽन्यमन्यमुदीरयेत्।
नासौ विशुद्धः शुद्धस्तु शमयेद्यो न कोपयेत्॥

चिकित्स्यतेऽनेनेति करणे क्तप्रत्यये चिकित्सितं भेषजमिति, अस्य पर्यायाश्चरकसंहितायाम्—

चिकित्सितं व्याधिहरं पथ्यं साधनमौषधम्।
प्रायश्चित्तप्रशमनं प्रकृतिस्थापनं हितम्॥
विद्याद् भेषजनामानि भेषजं द्विविधञ्च तत्।
यद् व्याधिनिर्घातकरं वक्ष्यते तच्चिकित्सितम्॥
चिकित्सितार्थ एतावान् विकाराणां यदौषधम्।
(च० चि० १ अ०)

एतेनैतत्सिद्धं यच्चिकित्सा रोगापनोदनाय क्रियते। रोगाश्च तानेव क्रमन्ते ये तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यादिविहीनाः सन्ति। स्पष्टञ्चैतदायुर्वेदावतरणोपक्रमे चरकसंहितायाम्—

विघ्नभूता यदा रोगाः प्रादुर्भूताः शरीरिणाम्।
तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यव्रतायुषाम्॥
तदा भूतेष्वनुक्रोशं पुरस्कृत्य महर्षयः।
समेताः पुण्यकर्माणः पार्श्वे हिमवतः शुभे॥
सम्मिलिताश्च सर्वे पुण्यां चक्रुः कथामिमाम्।
धर्मार्थकाममोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्॥

रोगास्तस्यापहर्त्तारः श्रेयसो जीवितस्य च।
कः स्यात्तेषां शमोपाय इत्युक्त्वा ध्यानमास्थिताः॥
(च० सू० १ अ०)

ततश्च भरद्वाजः सर्वानुमत इन्द्रादखिलामायुर्वेदविद्यामधीत्य ऋषिभ्यः परम्परया प्रोवाच।

आयुर्वेदस्वरूपाभिधेयवर्णनोपक्रमे स्पष्टमुल्लिखितं वर्तते "तन्मना मुनिः" इति; तन्मनस्कत्वमेव योगसन्धानम्—

हेतुलिङ्गौषधज्ञानं स्वस्थातुरपरायणम्।
त्रिसूत्रं शाश्वतं पुण्यं बुबुधेयं पितामहः॥
सोऽनन्तपारं त्रिस्कन्धमायुर्वेदं महामतिः।
यथावदचिरात् सर्वं बुबुधे तन्मना मुनिः॥
तेनायुरमितं लेभे भरद्वाजः सुखान्वितम्।

आयुर्वेदश्च—

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानञ्च तच्च यत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते॥

आयुश्च—

'शरीरेन्द्रियसत्त्वात्मसंयोगो धारि जीवितम्' इत्यादि। तत्र सर्वप्रथमं रोगाणामुत्पत्तौ तपोपवासाध्ययनब्रह्मचर्यादिसत्कर्मणामयोग एव हेतुः, ये चोचिते तपसि, उपवासे, अध्ययने, ब्रह्मचर्यव्रते वा तन्मनसो योगयुक्ताः सन्ति न तान् रोगाः संक्रामन्ति, न वा पीडयन्ति।

मनुष्याणामुभयोर्लोकयोर्हितार्थमायुर्वेदस्योपदेशः प्रतिज्ञातः, इदमुभयलोकसाधनमुद्देश्यं योगमुक्तमेव सफलतां धत्ते। पूर्वमुक्तम् "तन्मना मुनिः" इति पदं स्पष्टमेव योगगौरवमुद्घोषयति, यतो हि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः" इति पातञ्जलदर्शनानुसारं तन्मनस्कत्वमेव योगस्वरूपं सुस्पष्टं भवति।

अथ च द्रष्टव्यश्चरकसंहिताया अष्टमोऽध्यायः। तत्र स्पष्टमुल्लिखत्याचार्यो मनःपुरःसराणीन्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्तीति। मनसो लक्षणञ्च—

लक्षणं मनसो ज्ञानस्याभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्त्तते॥
वैवृ (वृ) त्यान्मनसो ज्ञानं सानिध्यात्तच्च वर्तते।

मनसः कार्यम्—

चिन्त्यं विचार्यमूह्यञ्च ध्येयं सङ्कल्प्यमेव च।
यत्किञ्चिन्मनसो ज्ञेयं तत्सर्वं ह्यर्थसंज्ञकम्॥

इदञ्च चिन्तनविचारणोहनध्यानसङ्कल्पादिकं योगमन्तरा दुर्लभं किम्, असम्भवमेव।

तत्रेन्द्रियाणां समनस्कानामनुपतप्तानामनुपतापाय प्रकृतिभावे प्रयतितव्यं सद्वृत्तानुष्ठानैः। सद्वृत्तानि—देवगोब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धाचार्यानर्चयेत्, वश्यात्मा, धर्मात्मा, निश्चिन्तः, निर्भीकः, ह्रीमान्, धीमान्, महोत्साहः, दक्षः, क्षमावान्, धार्मिकः, आस्तिकः, रागद्वेषहेतूनां हन्ता च।

अथ च नानृतं ब्रूयात्, नान्यस्वमाददीत, नान्यस्त्रियमभिलषेत्, नान्यश्रियम्, न वैरं रोचयेत्, न कुर्यात् पापम्, न पापे पापी स्यात्, ब्रह्मचर्यज्ञानदानमैत्रीकारुण्यहर्षोपेक्षाप्रशमपरश्च स्यात्। इदञ्च सर्वं मनसोऽन्तर्मुखवृत्तिं विना दुष्करमेव। अन्यच्च विचारयन्तु सुधियः?

रोगा द्व्याश्रया भवन्ति—केचन शारीराः, केचन मानसाश्च। तत्र शारीररोगनाशाय क्रियमाणोऽपि हरीतक्यादीनां द्रव्याणां प्रयोगो योगयुक्त एव श्रेष्ठो भवति; मानसव्याधौ तु ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधय एव शरणम्। अत एवाह—

प्रशाम्यत्यौषधैः पूर्वो दैवयुक्तिव्यपाश्रयैः।
मानसो ज्ञानविज्ञानधैर्यस्मृतिसमाधिभिः॥

एवञ्च संयोगापरपर्यायो योगस्तु रोगोत्पादने तत्प्रशमने च प्राणभूत एव। सर्वेषामेव वस्तूनाम् अयोग-अतियोग-मिथ्यायोगा रोगोत्पादका भवन्ति, उक्तं हि—

कालबुद्धीन्द्रियार्थानां योगो मिथ्या न चाति च।
द्व्याश्रयाणां च व्याधीनां त्रिविधो हेतुसङ्ग्रहः॥

अन्यच्च पश्यन्तु योगगौरवमायुर्वेदाब्धौ चरके। तत्र शारीरे स्थाने कतिधापुरुषीये प्रथमम् 'कतिधा पुरुषो धीमन्'…… इत्यारभ्य बहवः प्रश्नाः कृताः, तेष्वयमपि प्रश्नोऽस्ति—"किञ्चैता वेदनाः सर्वा निवृत्तिं यान्त्यशेषतः।" इति। प्रश्नस्यास्योत्तरमिदमेव—

योगे मोक्षे च सर्वासां वेदनानामवर्तनम्।
मोक्षे निवृत्तिर्निःशेषा योगो मोक्षप्रवर्त्तकः॥

अर्थात् सर्वासां वेदनानां समाप्तिर्योगे मोक्षे च निहितास्ति, तत्र सर्वात्मना दुःखनिवृत्तिर्मोक्षनिष्ठा, किन्तु योग एव मोक्षमार्गप्रवर्तकोऽतो गरीयान्।

यथा च योगो वेदनानिवर्त्तको भवति यश्च योगस्तमाह—

आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्त्तते।
सुखदुःखमनारम्भादात्मस्थे मनसि स्थिरे॥
निवर्तते तदुभयं वशित्वं चोपजायते।
सशरीरस्य योगज्ञास्तं योगमृषयो विदुः॥

अर्थात् सुखं दुःखं चोभयमप्यात्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकर्षात् प्रवर्तते, यदा हि मनः केवलात्मज्ञाने निश्चलं भवति, अन्यविकारेभ्यो निवृत्तं भवति, तदा उभयम् (सुखदुःखम्) निवर्त्तते। अथ च वशित्वमुपजायते। तथा तत्रैव—

आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतः क्रिया।
दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्॥
इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरम्।
शुद्धसत्त्वसमाधानात् तत्सर्वमुपजायते॥

अर्थाद् योगिनामष्टविधमैश्वरं बलमुक्तम्। तद्यथा—१. आवेशः=परपुरप्रवेशः। २. चेतसो ज्ञानम्=परचित्तज्ञानम्। ३. अर्थानां छन्दतः क्रिया=अर्थानां इच्छानुसारं सम्पादनम्। ४. दृष्टिः=अतीन्द्रियदर्शनम्। ५. श्रोत्रम्=अतीन्द्रियश्रवणम्। ६. स्मृतिः=सर्वभावतत्त्वस्मरणम्। ७. कान्तिः=अमानुषी कान्तिः (शोभा)। ८. इष्टतश्चाप्यदर्शनम्=यदेच्छति तदादर्शनयोग्य एव न दृश्यते, यदा चेच्छति तदा दृश्यते। अथवा, आवेशश्चेतसः=परचेतसः प्रवेशः। ज्ञानम्=अतीतानागतादिज्ञानम्। शुद्धसत्त्वसमाधानात्=नीरजस्तमस्कस्य मनस आत्मनि सम्यग् आधानात्। अतः परं मोक्षमार्गदृष्टिर्भवति।

कथं मोक्षो भवति, कश्च मोक्ष इत्याह—

मोक्षो रजस्तमोऽभावाद् बलवत्कर्मसंक्षयात्।
वियोगः कर्मसंयोगैरपुनर्भव उच्यते॥

मोक्षस्योपायाः—सतामुपासनम्, असतां परिवर्जनम् मनोबुद्धिसमाधानमर्थतत्त्वपरीक्षणमित्यादि, एतत् सर्वं तत्त्वस्मृतेरुपस्थानात् प्रवर्तते।

स्मृतिः कथं दुःखापनोदने कारणमित्यत आह—

स्मृतिः सत्सेवनाद्यैश्च धृत्यन्तैरुपजायते।
स्मृत्वा स्वभावं भावानां स्मरन् दुःखात् प्रमुच्यते॥

स्मृतिकारणानि च वसुसंख्याकानि भवन्ति। तद्यथा—

वक्ष्यन्ते कारणान्यष्टौ स्मृतिर्यैरुपजायते।
निमित्तरूपग्रहणात् सादृश्यात् सविपर्ययात्॥
सत्त्वानुबन्धादभ्यासाज्ज्ञानयोगात् पुनः श्रुतात्।
दृष्टश्रुतानुभूतानां स्मरणात् स्मृतिरुच्यते॥

एवं तत्त्वस्मृतेर्मोक्षसाधकत्वं सुस्पष्टतया प्रतिपादितम्, यद् जीवनमुक्तेरिदमेकमयनं ज्ञेयम्, येन गता न पुनरागताः। संक्षेपतः संसारहेतुमज्ञानं तथा मोक्षहेतुं सम्यग्ज्ञानं दर्शयन्नाह चरके—

सर्वं कारणवद्दुःखमस्वं चानित्यमेव च।
न चात्मकृतकं तद्धि तत्र चोत्पद्यते स्वता॥
यावन्नोत्पद्यते सत्या बुद्धिर्नैतदहं यया।
नैतन्ममेति विज्ञाय ज्ञः सर्वमतिवर्तते॥
तस्मिंश्चरमसंन्यासे समूलाः सर्ववेदनाः।
ससंज्ञाज्ञानविज्ञाना निवृत्तिं यान्त्यशेषतः॥
अतः परं ब्रह्मभूतो भूतात्मा नोपलभ्यते।
निःसृतः सर्वभावेभ्यश्चिह्नं यस्य न विद्यते॥
ज्ञानं ब्रह्मविदां चात्र नाज्ञस्तज्ज्ञातुमर्हति॥

अर्थाद् योगनिष्ठ एव तत्त्वज्ञानवान् भवति। ततश्च संसारदुःखान्मुक्तो भवत्यतो योगः सर्वदुःखानामात्यन्तिकनिरोधकर्तृत्वात् सर्वातिगः सर्वमान्यः सुखकरश्च पन्थाः।

किं बहुना संसारेऽस्मिन् किमपि कार्यं योगमन्तरा साधयितुं न कोऽपि क्षम इति मम विश्वासः, गृहे गृहे मातरो बालकानुपदिशन्ति मनोयोगपूर्वकमध्ययनं सम्पादयत। अध्ययनेऽध्यापने वान्यकर्मणि वैपरीत्यापादको मनोयोगाभाव एव। भगवान् श्रीकृष्णस्तु योगः कर्मसु कौशलमित्युपदिशन् "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धि लभते नरः" इत्युपदिदेश। तत्रापि मुख्यः कल्याणकरो योग एव।

ऐहिकामुष्मिकरोगप्रतीकारे योग एव समर्थोऽतोऽस्य गौरवं महच्चेतोगम्यम्, अतः "योगयुक्तो भवार्जुन" इति भगवद्वाक्यममृतोपमं पेयम्।

●●●

बौद्ध एवं अन्य भारतीय योगसाधना

हिन्दी-निबन्ध

सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञं च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं ॥
(संयुत्त० १ : १४)

नत्थि झानं अपञ्ञस्स पञ्ञा नत्थि अझायतो।
यम्हि झानं च पञ्ञा च स वे निब्बानसन्तिके ॥
(धम्म० २५।१३)

यो च वस्ससतं जीवे दुप्पञ्ञो असमाहितो।
एकाहं जीवितं सेय्यो पञ्ञवन्तस्स झायिनो ॥
(धम्म० ८ : १२)

योग की उत्पत्ति और उसका प्रारम्भिक इतिहास

लालमणि जोशी

[१]

'योग' क्या है ? भारतीय धार्मिकता के ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक अध्ययन के दृष्टिकोण से इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं हो सकता। 'योग' शब्द के अनेक अर्थ हैं। इसका सामान्य अर्थ जोड़ने, युक्त करने, एक साथ होने से है। रथ के साथ बाँधे जाने वाले पशुओं के बन्ध को 'योग' कहा गया है। ऋग्वेद (१-२४-९) में 'योग' शब्द का प्राचीनतम यही अर्थ है। यद्यपि ऋक् संहिता में अन्यत्र 'योग' एवं 'योगक्षेम' शब्द आये हैं, परन्तु उनका अर्थ योगसूत्र अथवा उपनिषदों अथवा महाभारत में उपलब्ध 'योग' के अर्थ से अति दूर है। दूसरे शब्दों में 'योग' शब्द प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में सुविदित है, परन्तु वह ध्यानपथ अथवा योगमार्ग का पारिभाषिक शब्द नहीं है। हमारा विश्वास है कि 'निर्वाण' अथवा 'मोक्ष' की निष्णात कल्पना और 'योग' द्वारा उसकी प्राप्ति की खोज ऋग्वैदिक आर्यों की संस्कृति की परिधि के बाहर आर्येतर एवं अवैदिक विचारधारा का परिणाम थी।

'योग' का सम्बन्ध 'तप' के साथ रहा है। प्राचीन वैदिक ग्रन्थ 'तप' का और उसके परिणामों का बहुल उल्लेख करते हैं। 'तप' का यज्ञ के साथ भी घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल का 'तप' यज्ञ का ही एक स्वरूप अथवा पहलू था। चूँकि 'मोक्ष' का आदर्श संहिताओं, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में अज्ञात है, अतएव वैदिक 'तप' को उसी प्रकार मुक्ति का मार्ग नहीं माना जा सकता है, जिस प्रकार वैदिक यज्ञ को निर्वाण का साधन नहीं माना जा सकता। 'योग' का 'तप' व यज्ञ के अतिरिक्त जादू (वैदिक 'यातु') चमत्कार, तन्त्र, मन्त्र, चिकित्सा एवं सिद्धियों से भी प्राचीन समय से सम्बन्ध रहा है। ऐतिहासिक युग में 'तप' और उससे प्राप्त होने वाली शक्तियों का ध्यान से उत्पन्न सिद्धियों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध समझा जाता था। तपस्या के विचारादर्शों ने प्राचीन भारतीय धार्मिक पुराकथाओं, उपदेशपरक आख्यानों एवं लोकमानस को अत्यधिक प्रभावित किया था। महाभारत (उद्योगपर्व, अध्याय ४३, श्लोक १३) में **'तपोमूलमिदं सर्वम्'** कहा गया है। इस धारणा में महाभारत के पूर्व वैदिक युग में और उसके पश्चात्

के समय में आज तक जनसाधारण की आस्था रही है। 'योग' की भाँति 'तप' का भी विस्तृत ऐतिहासिक अध्ययन करना आवश्यक है।

'योग' का सम्बन्ध 'संन्यासाश्रम' से भी है, परन्तु 'योग' की उत्पत्ति चतुर्थाश्रम की उत्पत्ति से और योगाभ्यास को संन्यासाश्रम तक ही सीमित समझना त्रुटिपूर्ण है। आश्रमव्यवस्था शाक्यमुनि बुद्ध के पश्चात्काल की उपज है और चतुर्थ अथवा संन्यास-आश्रम का ब्राह्मणपरम्परा में प्रवेश जैन एवं बौद्ध श्रमणों के संगठित संघों की व्यापकता का परिणाम माना गया है।[1] प्राचीन वैदिक ब्राह्मण परम्परा संन्यासाश्रम अथवा श्रामण्य के पक्ष में नहीं थी। कालान्तर में 'योग' की भाँति संन्यासाश्रम अथवा भिक्षु-जीवन भी प्रगतिशील वैदिक परम्परा की एक महत्त्वपूर्ण संस्था माना गया।

'योग' की उत्पत्ति अनेक पश्चिमी विद्वानों ने 'जादू' से सम्बन्धित काय-वाक्-चित्त की उन प्रक्रियाओं से हुई मानी है, जो विश्व भर में व्यापकरूप से आदिकाल से प्रचलित रही हैं। 'योग' के लौकिक एवं अर्द्धलौकिक स्वरूप की अवहेलना नहीं की जा सकती है। 'योग' का तप, मन्त्रविद्या, गुह्यसाधना, सिद्धि, शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक चमत्कार, परकायप्रवेश, परचित्तज्ञान, अभिचार, वशीकरण, भूत-प्रेत पर विजय, रोग व विष से मुक्ति आदि नाना मानवीय व्यापारों से जो लोकप्रिय सम्बन्ध रहा है, वह इतिहास में सुविदित है।[2] 'योग' विषयक नाना भ्रान्तियों का सम्बन्ध 'योग' के लौकिक एवं अर्द्धलौकिक स्वरूप से है। इससे यह भी संकेतित है कि 'योग' का पारलौकिक एवं पारमार्थिक स्वरूप भी है। वस्तुतः यही स्वरूप हमारे वर्तमान अध्ययन का विषय है। हमारा मत यह है कि 'योग' एक पद्धति है, शरीर एवं मन को व्यवस्थित करने की एक विद्या अथवा शास्त्र है। मार्ग, यान, विधि इसके पर्यायवाची हैं। 'योग' इस पद्धति अथवा पथ को भी कहते हैं और इस पद्धति अथवा पथ पर उद्योग एवं प्रयत्न अथवा प्रधान (पालि=पधान) को भी कहते हैं। इस पद्धति का उपयोग आरोग्य-प्राप्ति, सुख-प्राप्ति, सिद्धियों की प्राप्ति अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिये किया जा सकता है और कदाचित् किया जाता रहा है। यही कारण है कि 'योग' का सम्बन्ध बोधिचर्या अथवा ब्रह्मविद्या के साथ ही नहीं, अपितु

१. द्रष्टव्य—गोविन्दचन्द्र पाण्डेय, 'स्टडीज इन दि ओरिजिन्स आफ बुद्धिज्म' १९५८ (इलाहाबाद), पृ० ३२२–२६; लालमणि जोशी—'ब्राह्मनिज्म बुद्धिज्म एण्ड हिन्दूइज्म', १९७०, (कण्डी) पृ० ३५–३८।

२. द्र०—मर्सिया इलियाडे, 'शमनिज्म', न्यूयार्क १९६४, वही, इमार्टैलिटी एण्ड फ्रीडम, न्यूयार्क १९६४ पृ० २७४ से आगे।

नाना प्रकार की 'तिरच्छान' (तिरश्चीन) विद्याओं एवं लौकिक जीवनव्यापार से भी रहा है।

प्रस्तुत निबन्ध में 'योग' को मोक्षप्रापक धर्मसाधना अथवा निर्वाण-गामिनी प्रतिपदा के रूप में समझा गया है। इस अर्थ में 'योग' जैनधर्म, बौद्धधर्म एवं वैदिक-ब्राह्मण परम्परा से सम्बन्धित अनेक धार्मिक मतों में विद्यमान रहा है। वस्तुतः भारतीय धार्मिक परम्पराएं विश्व के अन्य धर्मों की तुलना में योगप्रधान कही जा सकती हैं। 'योग' भारतीय धार्मिक साधना-पद्धतियों की विशेषता है। भारतीय संस्कृति एवं विचारजगत् में, भारतीय लौकिक तथा धार्मिक जीवन में, साहित्य में, भारतीय कलाओं में और भारतीय जनमानस में 'योग' शब्द से अभिप्रेत होने वाले नाना तत्त्वों का व्यापक प्रभाव विवाद का विषय नहीं कहा जा सकता है।[1] 'योग' की व्यापकता, निरन्तरता एवं प्राचीनता असाधारण एवं आश्चर्यजनक तथ्य हैं। इस निबन्ध का उद्देश्य 'योग' को प्रारम्भिक अवस्थाओं एवं उसके स्वरूपों का ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से मात्र विहङ्गावलोकन करना है। इस विषय का विस्तृत अध्ययन एक विशाल ग्रन्थ में हो किया जा सकता है।[2]

यहाँ पर यह कहना प्रसङ्गानुकूल होगा कि हमारा दृष्टिकोण परम्परागत न होकर ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक है। इन दोनों दृष्टियों में पर्याप्त मतभेद हैं। हमारे देश में अनेक धार्मिक परम्पराएं हैं, उनमें परस्पर मतैक्य भी हैं, मतान्तर भी हैं। चूँकि 'योग' लगभग सभी धार्मिक मतों में प्रचलित रहा है, अतएव 'योग' के अर्थ एवं स्वरूप में भी मतभेद अथवा समानता की आशा करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त 'योग' के अनेक अर्थ हैं और अनेकार्थक होने से इसे विविध भी मानना पड़ेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर 'योग' को दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त नहीं माना जा सकता, जैसा कि महाभारत अथवा भगवद्गीता[3] में अथवा परवर्ती काल के बहुसंख्यक शैवागमों एवं योग-उपनिषदों में कहा गया है। हम 'योग' को दैवी नहीं, अपितु मानवीय उत्पत्ति मानते हैं तथा अनादिकालिक नहीं, अपितु देश और काल के अन्तर्गत विकसित उच्चतर मानव संस्कृति को एक बहुमूल्य देन

१. देखिये—ई० डब्ल्यु० हाप्किन्स, 'योग टेकनीक्स इन दि महाभारत' जर्नल आँफ अमेरिकन आरियन्टल सोसायटी, वर्ष २२ (१९०१) पृ० ३३३–७९।

२. इस विषय पर मर्सिया इलियाडे का योग इमार्टैलिटी एण्ड फ्रीडम नामक ग्रन्थ (न्यूयार्क द्वितीय संस्करण, तथा सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त के अनेक ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

३. गीता ३–३।

मानते हैं। 'योग' अथवा ध्यान आर्येतर एवं अवैदिक ही नहीं, वरन् पूर्ववैदिक माना गया है।[1] पुरातत्त्व एवं भाषाविज्ञान के तुलनात्मक अध्ययन के परिणाम तथा स्वयं वैदिक साहित्य के साक्ष्य के आधार पर यह मान्यता ख्यातिप्राप्त हो चुकी है कि सैन्धव संस्कृति के निर्माता आर्येतर एवं पूर्ववैदिक भारतीय जन थे। उन्हें द्रविड जातीय कहने के लिये जो प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं, वे अपर्याप्त हैं। परन्तु उन्हें आर्यभाषाभाषी ऋग्वैदिक जनों से सम्बन्धित करने के बलात् प्रयत्न और भी अधिक दरिद्र एवं असन्तोषजनक हैं। प्राचीन भारत में 'आर्य' एवं 'द्रविड' शब्दों से सम्बोधित होने वाली दो ही जातियाँ नहीं थीं। इनके अतिरिक्त और भी अनेक जातियों के लोगों ने भारतीय संस्कृति को समृद्ध एवं बहुमुखी बनाने में सहयोग किया होगा। प्राचीन भारतीय संस्कृति का इतिहास आर्य एवं आर्येतर, वैदिक एवं अवैदिक विचारादर्शों के पारम्परिक संघर्ष, सम्पर्क एवं मिश्रण के विकास का इतिहास है।

'योग' और 'ध्यान' शब्द हड़प्पा-संस्कृति में प्रचलित थे अथवा नहीं, हमें ज्ञात नहीं है। परन्तु 'ध्यान' अथवा 'योग' के अभ्यास करने वाले मनुष्यों की सत्ता के पुरातात्त्विक एवं असन्दिग्ध प्रमाण ईशा से तीसरी सहस्त्राब्दी पूर्व को इस संस्कृति में उपलब्ध होते हैं। मोहिंजोदड़ों नगर के खण्डहरों से उत्खनन-पश्चात् प्राप्त कुछ मुहरों पर अङ्कित तथा पाषाणखण्डों पर तक्षित चित्र ध्यानस्थ पुरुष और तपस्वी व्यक्ति को चित्रित करते हैं। अतएव ध्यान परम्परा की उत्पत्ति आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व में हुई माननी पड़ती है।[2]

ऋग्वेद (१०-१३६) के केशीसूक्त में वर्णित 'मौन से उन्मत्त' 'वातरसना मुनि' का दृश्य प्रागैतिहासिक काल के एक प्रकार के 'योगी' का परिचय देता है। यह 'मुनि' अवैदिक परम्परा का एक प्रतिनिधि इस कारण माना गया है कि सूक्तकार उससे प्रभावित एवं उसके असाधारण सिद्धि सरीखे चरित्रों से आश्चर्य में पड़ गया प्रतीत होता है। ऐसा 'मुनि' वैदिक समाज व धर्म में सुपरिचित व्यक्ति नहीं था।

१. लालमणि जोशी, पूर्व उल्लिखित ग्रन्थ पृ० ५७-५८, पाण्डे पू० उ० ग्रन्थ, पृ० ३०२-३०५, इलियाडे, योग पृ० १०१, ३५३-३५८, सुनीति कुमार चटर्जी का लेख 'दि कल्चरल हेरिटेज ऑफ इण्डिया' खण्ड १ (कलकत्ता) १९५८, पृ० ८०-८१, हाइनिक जिमर, फिलासाफीज ऑफ इण्डिया, न्यूयार्क १९६० पृ० २८१।

२. जान मार्शल,—'मोहिंजोदड़ो एण्ड दी इन्डस सिविलाइजेशन' खण्ड १, लन्दन, १९३१, पृ० ५२, स्टुअर्ट पिगट,–'प्रिहिस्टरिक इण्डिया', लन्दन, १९५०, पृ० २०२-२०३, इलियाडे, योग, पृ० ३५४-३५६।

अनेक आधुनिक विद्वानों ने योगपद्धति की उत्पत्ति इन्हीं अवैदिक मुनियों, यतियों एवं श्रमणों की संस्कृति से निःसृत मानी है, जिनका विरल उल्लेख वैदिक ग्रन्थों में सुरक्षित है।

वैदिक काल के मध्य में अवैदिक तथा वैदिक संस्कृतियों का पर्याप्त सम्मिश्रण हो गया था। इस सांस्कृतिक मिश्रण का प्रभाव जैन, बौद्ध, सांख्य, आजीवक एवं प्राचीनतर वेदान्त अथवा उपनिषदों में स्पष्ट दिखायी देता है। न केवल जैन, आजीवक एवं बौद्ध मतों के विशिष्ट विचार, अपितु सांख्य का प्राचीन स्वरूप, 'योग'-पद्धति तथा प्राचीनतर उपनिषदों के योगप्रधान और निवृत्तिपरक विचार सम्भवतः मुनिश्रमण संस्कृति के प्रभाव के परिणाम थे।

मोक्षोपाय अथवा निवृत्तिमार्ग के रूप में 'योग' की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि यह सभी वर्णों अथवा जातियों के मुमुक्षुओं के लिये खुला था। जैन एवं बौद्ध क्षेत्रों में यह स्त्रियों व पुरुषों के लिये प्राचीन काल से समान रूप से सुलभ था। ब्राह्मण परम्परा में यह उदारता कालान्तर में विकसित हुई।

ऐतिहासिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टि से 'योग' को 'श्रमणयोग' और ब्राह्मणयोग इन दो प्रकारों के रूप में देखा जा सकता है। यह प्रकारभेद 'योग' के ईश्वरवादी एवं अनीश्वरवादी दोनों दिशाओं में विकास-क्रम से सम्बन्धित है। श्रमणयोग का बौद्ध-संस्करण न केवल अनीश्वरवादी है, वरन अनात्मवादी भी है। दूसरी ओर ब्राह्मणयोग ब्रह्मात्मवादी, ईश्वरवादी तथा पुरुषवादी है। यह सम्भव है कि वैदिक-ब्राह्मण परम्परा के प्रभाव में आने के पूर्व 'योग' एक अनीश्वरवादी ध्यानपद्धति मात्र था। अनेक अधिकारी विद्वानों का मत है कि प्रारम्भिक योग एवं सांख्य अनीश्वरवादी थे। जैसा कि विदित है, मध्यकाल में इन दोनों की सेश्वर व्याख्यायें लिखी गयीं और इनकी गणना ब्राह्मणपरम्परा के षट्दर्शनों में होने लगी।

'योग' एक व्यावहारिक ध्यानपरक मार्ग था, जो पतञ्जलिकृत योगसूत्र तथा उस पर लिखे गये व्याख्या-साहित्य में एक ईश्वरवादी दार्शनिक सम्प्रदाय का रूप धारण करता है। योगसूत्र तीसरी शती ईसवी की रचना मानी गयी है। इस ग्रन्थ में उपनिषदिक वेदान्त, प्राचीन सांख्य एवं प्राचीन योगपद्धति का समन्वित रूप प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। आलोचकों ने इस प्रयत्न को असफल माना है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि 'योगदर्शन' एक अर्वाचीन सम्प्रदाय है, जिसका योग व ध्यान सम्बन्धी अंश प्राचीन योग की परम्परा पर आधारित है।

महाभारत के शान्तिपर्व में सङ्कलित सांख्य एवं योग विषयक सामग्री विविध युगों की तथा विभिन्न स्रोतों पर आधारित है। महाभारत का वर्तमान स्वरूप चतुर्थ

शती ईस्वी में सम्पन्न हुआ माना जाता है। अतएव ईसा पूर्व की अन्तिम छः या पाँच शतियों में 'योग' का विकास-क्रम समझने के लिये प्राचीनतर पालिसुत्तो, उपनिषदों, महाभारत के प्राचीनतर अंशों एवं जैन सूत्राङ्गों की सहायता पर निर्भर करना पड़ता है। प्राचीनतर उपनिषदों का काल इन छः या पाँच शतियों से पूर्व नहीं ले जाया जा सकता है। प्राचीन उपनिषदों की सूची में केवल निम्नलिखित ग्रन्थों की गणना होती है। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, कौषीतकी, केन, ईश, कठ, मुण्डक, प्रश्न, श्वेताश्वतर, माण्डूक्य तथा मैत्रायणी। इनमें से प्रथम दो उपनिषद् छठी शती में, उनके बाद के पाँच उपनिषद् पाँचवीं व चौथी शतियों में तथा अन्तिम छः उपनिषद् तीसरी व दूसरी शतियों में रखे जा सकते हैं।[1] मैत्रायणी उपनिषद् निश्चित रूप से अन्य उपनिषदों से बहुत पश्चात् काल की रचना मानी गई है। एक सौ आठ उपनिषदों के संग्रह में सम्मिलित अन्य सभी उपनिषद् पूर्व मध्यकाल अथवा ईसा के पश्चात् की प्रथम सहस्राब्दी की रचनायें हैं।

पालि त्रिपिटक का प्राचीनतम अंश विनय के कुछ अंशों, सुत्तपिटक के बहु-संख्यक सुत्तों एवं ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। अभिधम्मपिटक तीसरी शती ईसा पूर्व के पश्चात् का संग्रह है। इसी प्रकार खुद्दकनिकायान्तर्गत संकलित विमानवत्थु, पेतवत्थु, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, बुद्धवंश, अपदान एवं चरियापिटक निश्चय ही अशोक के पश्चात् काल की रचनाएँ हैं। बौद्ध योग विषयक सामग्री पालि निकायों के प्राचीनतम भागों में विकसित रूप में मिलती है। इनकी तिथि शाक्यमुनि और अशोक अर्थात् ईसा पूर्व छठी और तीसरी शती के मध्य में रखी जा सकती है। कुछ संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों—यथा उदानवर्ग, गान्धारी धर्मपद, महावस्तु एवं प्राचीन-तम महायान सूत्रों के प्राचीनतर अंशों की साक्षी भी पर्याप्त प्राचीन एवं प्रामाणिक है।

[२]

डॉ॰ सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त का यह मत उचित लगता है कि "योग" शब्द तीन धातुओं से निकला है। यथा "युजिर् योगे" एक साथ मिलने या युक्त होने के अर्थ में, "युज् समाधौ" एकाग्रता के अर्थ में, और "युज् संयमने" नियन्त्रित अथवा निरुद्ध होने के अर्थ में।

१. लालमणि जोशी, पू॰ उ॰ ग्रन्थ पृ॰ २१-३१।

२. सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त, 'हिस्टरी आफ इण्डियन फिलासफी' खण्ड १, केम्ब्रिज १९२२, पृ॰ २२६-२२७।

'योग' शब्द का 'युक्त' अर्थ दो परस्पर विरोधी दिशाओं में प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मण योग के परवर्ती ग्रन्थों में जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन 'योग' कहा गया है। परमहंस उपनिषद् (१-२) में **"परमात्मात्मनोरेकत्वं"** तथा योगतत्त्वोपनिषद् (श्लोक १०७) में **"समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः"** का योग अथवा समाधि कहा गया है। भक्तिमार्गी परम्पराओं में 'योग' का यही सामान्य अर्थ है। इस दृष्टि से 'योग' मिलन, एकता अथवा संयोग का नामान्तर है। श्रमणयोग के अनेक ग्रन्थों में 'योग' शब्द का प्रतिकूल अर्थ है। पालि निकायों में 'योग' बन्धन का पर्याय है। **"चत्तारो योगा" "चत्तारो आसवा"** काम, भव, दिट्ठि एवं अविद्या नामक योग एवं आस्रव हैं, जो मार के पाश कहे गये हैं। सांख्य मत में पुरुष का प्रकृति से सम्बन्ध अथवा मिलन 'योग' कहा गया है। इस संयोग से वियोग को कैवल्य कहा गया है। जैन मत में भी आत्मा (जीव) का जड (अजीव) पदार्थों के साथ सम्मेलन 'योग' कहलाता है। हम यह नहीं कह रहे हैं कि श्रमणयोग में अथवा बौद्ध पालि एवं संस्कृत ग्रन्थों में 'योग' समाधि का और ध्यान का पर्यायवाची नहीं है। हम इस तथ्य की ओर ध्यानाकर्षित करना चाहते हैं कि 'योग' शब्द अपनी व्युत्पत्ति के धातु के अर्थ का अतिक्रमण करते हुए अनेकार्थक हो गया। अतएव मात्र व्युत्पत्ति से इसका अर्थ सम्यक् रूपेण स्पष्ट नहीं किया जा सकता है। आचार्य धर्मोत्तर ने लिखा है। **"योगः समाधिः"**। **स यस्यास्ति स योगी**। योग और समाधि समानार्थक हैं। तीसरा समानार्थक शब्द ध्यान अथवा ज्ञान है। इस परम्परा में 'योगी' शब्द श्रमण मुनि, ध्यानी, समाहित एवं प्रतिसंलीन का पर्यायवाची है। यद्यपि शाक्यबुद्ध को पालि ग्रन्थों में योगी नहीं कहा गया है, तथापि उन्हें प्रथम बौद्ध योगी कहने में स्थविरवादी सौगतों को आपत्ति नहीं होगी। वस्तुतः पहले चार निकायों में हमें 'योगी' शब्द नहीं मिला है। प्राचीन वैदिक साहित्य में भी यह शब्द कदाचित् प्रयुक्त नहीं हुआ है। परन्तु खुद्दकनिकाय के कुछ ग्रन्थों में एवं मिलिन्दपञ्ह में और उनके पश्चात् के ग्रन्थों में 'योगी' शब्द सुपरिचित है। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में 'योगिनो योगाचारा' वाक्य प्रयुक्त हुआ है। 'योगावचर' शब्द योगचर्या करने वाले श्रमण का सुविदित नामान्तर है। प्रथम शती ईसा पूर्व में प्रकाशित काश्यपपरिवर्त नामक सूत्र में 'योग' शब्द प्रयत्न के अर्थ में व ध्यान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है और 'योगाचारो भिक्षु' को 'योगी' कहा गया है। महायान का 'योगाचार' आम्नाय ध्यान, योग के लिये प्रसिद्ध है। पालि ग्रन्थों में भी 'योग' शब्द अभ्यास तथा प्रयत्न के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परन्तु प्राचीन पालि ग्रन्थों में 'योग' शब्द समाधि शब्द का पर्याय-वाची नहीं है। पटिसल्लान (प्रतिसंलीन) बहुधा समाधि का समानार्थक माना गया है। उदाहरणार्थ :—

पटिसल्लाने भिक्खवे, योगमापज्जथ।
पटिसल्लानो भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति॥

(संयुत्तनिकाय खण्ड ३, पृ० ७४)

तथा—

समाधिं भिक्खवे, भावेथ। समाहितो भिक्खवे, भिक्खु यथाभूतं पजानाति।

(संयुत्तनिकाय, खण्ड ३, पृ० ७४)

अनेक स्थलों पर बौद्धधर्म का सार निम्नलिखित गाथा द्वारा निर्दिष्ट किया गया है।[1]

सीलं समाधि पञ्ञा च विमुत्ति च अनुत्तरा।
अनुबुद्धा इमे धम्मा गोतमेन यसस्सिना॥

तथाकथित बौद्ध अष्टाङ्गमार्ग वस्तुतः शील, समाधि एवं प्रज्ञा रूपी धर्मस्कन्धों वाला त्रिविध मार्ग है। यही बौद्ध योग का विषय है। अर्हत् उपतिस्स रचित 'विमुत्तिमग्ग' एवं आचार्य बुद्धघोष विरचित 'विसुद्धिमग्ग' इसी त्रिविध योजना पर आधारित है।

गौतम बुद्ध प्रथम 'योगी' अथवा प्रथम 'ध्यानी' माने जाते हैं। उनके समय में उनकी ख्याति एक 'ध्यानी' एवं ध्यानपथ के उपदेष्टा के रूप में भी थी।[2]

झायी चेव सो भवं गोतमं अहोसि झानसीली च।
सब्बं च पन सो भवं गोतमो झानं वण्णेसि॥

स्वयं तथागत ने स्मृति, ध्यान, समाधि, शमथ, विपश्यना एवं पटिसल्लान (प्रतिसंलीन आदि के महत्त्व पर जोर डाला था। स्मृति (पालि=सति) तथा समाधि का महत्त्व इतने से स्पष्ट हो जाता है कि स्मृति एवं समाधि की गणना पांच 'इन्द्रियों' पांच 'बलों' सप्त बोध्यङ्गों, तथा मार्ग के अष्टाङ्गों में की गयी है। पालि संहिताओं में दो स्थलों पर बुद्धवचन के रूप में चार स्मृत्युपस्थानों की साधना को निर्वाण का एक मात्र मार्ग कहा गया है।[3]

एकायनो अयं भिक्खवे, मग्गो सत्तानं विसुद्धिया.......
निब्बानस्स सच्छिकिरियाय:-यदिदं चत्तारो सतिपट्ठाना।

---

१. दीघनिकाय, खण्ड २, पृ० ७५।

२. मज्झिमनिकाय, खण्ड :, पृ० ९५।

३. दीघनिकाय तथा मज्झिमनिकाय "महासतिपट्ठानसुत्त"।

स्मृति शमथभावना के लिये परमावश्यक है। स्मृति की प्राप्ति न होने से विपश्यना का अभाव रहता है और विपश्यना के अभाव में प्रज्ञाचक्षु का उन्मीलन नहीं होता है। वस्तुतः शमथ एवं विपश्यना का विकास एक साथ होता है। इसी कारण इन्हें युगनद्ध कहा गया है:

इमे द्वे धम्मा युगनद्धा वत्तन्ति—समथो च विपस्सना च।

(मज्झिमनिकाय खण्ड ३, पृ० ३९१)

योग अथवा समाधि का चरम लक्ष्य परमार्थ की प्राप्ति करना है। कामधातु, रूपधातु एवं अरूपधातु से परे निर्वाणधातु अथवा धर्मधातु को अधिगत करना ही बौद्ध योग अथवा समाधि का एकमात्र उद्देश्य है। चित्त की एकाग्रता समाधि है। चार स्मृत्युपस्थान इसके निमित्त और चार सम्यक् प्रधान इसके परिष्कार हैं। इनके अभ्यास, विकास एवं इनको वृद्धि को समाधिभावना कहा गया है।

"या चित्तस्स एकग्गता अयं समाधि, चत्तारो सतिपट्ठाना समाधिनिमित्ता, चत्तारो सम्मप्पधाना समाधिपरिक्खारा, या तेसं येव धम्मानं आसेवना भावना, बहुलीकम्मं-अयं एत्थ समाधिभावना[1]।"

ध्यान एवं समाधि विषयक जितना साहित्य प्राचीन भारत में बौद्धों ने लिखा, उसकी समानता भारत अथवा विश्व के किसी अन्य धार्मिक परम्परा का एतद्विषयक साहित्य नहीं कर सकेगा। चीन एवं जापान में ध्यानमार्ग पर आधारित 'चान' एवं 'जेन' सम्प्रदायों का प्रभावशाली विकास बौद्ध योग की महान् परम्परा के विश्वव्यापी स्वरूप का परिचायक माना गया है।

[३]

पालि निकायों एवं प्राचीन उपनिषदों का तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि प्राचीन उपनिषदों में ध्यान-योग-समाधि का स्थान साधारण महत्त्व का था। योग शब्द बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में अज्ञात है। समाधि शब्द सभी प्राचीन उपनिषदों में अविदित है। इसी प्रकार ध्यान शब्द का उल्लेख चित्त, विज्ञान, बल, अन्न आदि के सापेक्षिक महत्त्व के प्रसङ्ग में प्रथम बार छान्दोग्य में हुआ है। बृहदारण्यक का सुविदित वाक्य **"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"** ध्यान या योग को प्रमुखता नहीं देता है। अन्य प्राचीन उपनिषदों में ध्यान-योग का प्रारम्भ होता देखा जा सकता है। पातञ्जल योग के अनेक

---

१. मज्झिमनिकाय, खण्ड १, पृ० ३७१।

तत्त्वों को इन उपनिषदों में ढूढ़ा जा सकता है। कठोपनिषद् (६–११) में सर्वप्रथम योगशब्द का पारिभाषिक प्रयोग हुआ है। 'तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्।' यह ग्रन्थ 'योगविधि' का एवं 'अध्यात्मयोगाधिगमेन' प्राप्त होने वाले हर्ष व शोक से रहित अवस्था का उल्लेख करता है। परन्तु आत्मा का साक्षात्कार देव की कृपा पर निर्भर है, न कि मात्र ध्यानयोग पर। **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"** यह भी ध्यातव्य है कि नचिकेता ने यह 'योगविधि' किसी वैदिक ब्राह्मण ऋषि से नहीं, वरन् मृत्यु (मार अथवा यम) से सीखी थी। इस पुराकथा में योगविधि के एक वास्तविक ऐतिहासिक आचार्य का नाम लुप्त हो गया है। यहाँ पर यह कहना प्रसङ्गानुकूल लगता है कि बृहदारण्यक एवं छान्दोग्य उपनिषदों में ब्रह्मविद्या के मौलिक एवं मान्यता प्राप्त आचार्य पाञ्चाल नरेश, प्रवाहण जैवालि जैसे महापुरुष 'राजर्षि' हैं, न कि 'ब्रह्मर्षि।' श्वेताश्वतर उपनिषद् (१–३) में 'ध्यानयोग' द्वारा 'देवात्मशक्ति' देखने का उल्लेख सुविदित है। यह ग्रन्थ ध्यान व योग से सम्बन्धित अनेक तत्त्वों, सिद्धियों, योगाग्निमय शरीर, कपिल ऋषि एवं 'सांख्ययोग' के अतिरिक्त 'भक्ति' शब्द का भी उल्लेख करता है। **मुण्डक उपनिषद्** जैसा कि इसके नाम से संकेतित होता है, मुण्डकों अथवा भिक्षुओं की कृति है। इस ग्रन्थ में चारों वेदों तथा छः वेदाङ्गों को 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत रखा गया है और उसे अक्षर अर्थात् ब्रह्म को जानने की 'पराविद्या' से हीनतर कहा गया है। यह उपनिषद् यतियों, भिक्षुओं एवं वीतराग ऋषियों का तथा 'सन्यास-योग' का उल्लेख करता है।

मैत्रायणी उपनिषद् ग्रन्थ उपर्युक्त सभी उपनिषदों के पश्चाद्वर्ती काल का माना गया है। यह प्रथम उपनिषद् है, जो योग के छः अंगों की एक सूची प्रस्तुत करता है—**"प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्ग इत्युच्यते योगः।"** परवर्ती काल के ध्यानविन्दूपनिषद् तथा योगचूडामणि उपनिषद् में भी योग के छः अङ्गों की सूची मिलती है, जिसमें 'तर्क' अनुपस्थित है और अङ्गों का क्रम भी अधिक व्यवस्थित है।

"आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट्॥"

मैत्रायणी-उपनिषद् में ॐ तथा प्राण की एकता को 'योग' माना गया है। छान्दोग्य-उपनिषद् के प्रारम्भ में ही ॐ ब्रह्म का प्रतीक प्रतीत होता है। योगसूत्र में 'प्रणव' को ईश्वर का वाचक कहा गया है। प्रत्याहार की दिशा में छान्दोग्य उपनिषद् एवं प्राणायाम की दिशा में बृहदारण्यक उपनिषद् संकेत करते हैं। परन्तु योग के अष्टाङ्गों का क्रमबद्ध वर्णन सर्वप्रथम योगसूत्र में ही उपलब्ध होता है।

"अथ योगानुशासनम्" वाक्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ में प्राचीन समय से विकसित योगविद्या का प्रतिपादन करने का प्रयत्न किया था। गीता में 'योग' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। श्रमण योग की दृष्टि से अध्याय ६ श्लोक २३ में **"दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्"** ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार अध्याय २ के ५२–७२ श्लोक भी ध्यातव्य हैं। योग के आठ अथवा छः अङ्गों का क्रमबद्ध उल्लेख गीता में नहीं मिलता, परन्तु गीता को एक 'योगशास्त्र' कहा गया है। एक ओर आसन, संयम, इन्द्रियनिग्रह, त्याग, ध्यान एवं समाधि द्वारा प्राप्य स्थिरबुद्धि अथवा स्थितप्रज्ञ की अवस्था की प्रशंसा की गई है और स्थिर समाधि वाले योगी को मुनि की संज्ञा दी गयी है। दूसरी ओर ध्यानयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, सांख्ययोग, बुद्धियोग, समत्वयोग आदि शब्दों के द्वारा 'योग' का लौकिक व धार्मिक कृत्यों के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ा गया है। अन्त में सभी धर्मों अर्थात् सर्व प्रकार के योगों और दायित्वों का परित्याग करके भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाकर ही सब क्लेशों से मुक्ति की घोषणा की गयी है। गीता में प्रतिपादित केन्द्रीय विचार वैष्णव भक्ति है, जिसे गुह्यतम विद्या अथवा योग कहा गया है। यद्यपि गीता को एक उपनिषद् कहा गया है, तथापि इसकी विद्या उपनिषदों से भिन्न प्रतीत होती है और जिस योग को गुह्य कहा गया है, वह गुह्यसमाज में प्रतिपादित योग से सर्वथा भिन्न है। गीता का योग पातञ्जल योग से भी भिन्न है। इसको योगशास्त्र उसी अर्थ में समझा जा सकता है, जिस अर्थ में हेमचन्द्र ने अपने एक ग्रन्थ को 'योगशास्त्र' कहा है। कुछ आधुनिक लेखकों ने जैन श्रावकाचार को 'योग' की संज्ञा दी है। यह उल्लेख है कि गीता में योग के आचार्य श्रीकृष्ण एक गृहस्थ हैं और योगविद्या का शैक्ष्य अर्जुन भी गृहस्थ हैं। यह कोई नवीन बात नहीं है। उपनिषदों के अधिकांश आचार्य एवं अन्तेवासी गृहस्थ ही थे। पालि ग्रन्थों में उपासक 'अर्हतों' की लम्बी सूची सुविदित है।[1] महायान सूत्रों में भिक्षु और उपासक में बोधिचर्या अथवा पारमिताभ्यास की दृष्टि से कोई भेद नहीं माना गया है।

गीता के अतिरिक्त महाभारत का एक अन्य भाग योग की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह शान्तिपर्व के अन्तर्गत सङ्कलित 'मोक्षधर्म' नामक अंश है। परन्तु योग के स्वरूप का इस ग्रन्थांश में निरूपण करना अति कठिन है। योग को लोकप्रिय, बहु-उद्देशीय एवं विविधार्थक बनाने में महाभारत का सर्वाधिक योगदान रहा है।

---

१. अङ्गुत्तरनिकाय, खण्ड ३ पृ० १४८–१५९ जहाँ पर इक्कीस गृहपति अर्हतों की सूची दी हुई है।

हमारी समझ के अनुसार महाभारत में वे सभी कार्य योग के अन्तर्गत हैं, जो जीवात्मा को ब्रह्म अथवा ईश्वर की ओर ले जाते हैं और साथ ही सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। तप, जप, ध्यान, त्याग, इन्द्रियों का नियन्त्रण करना, मन का समाहित होना, संन्यास आदि व्यष्टिगत व समष्टिगत रूप में योग माने गये हैं। मोक्ष के मार्ग में जहाँ उपनिषदों में आत्मज्ञान का प्राधान्य है, वहाँ महाभारत और गीता में भगवान् (विष्णु) की भक्ति का प्राबल्य दृष्टिगोचर होता है। परन्तु कुछ श्लोकों में योग का श्रमण संस्करण भी प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ—

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥

(गीता, २-७१-७२)

यथा स्वनुष्ठितं ध्यानं तथा कुर्वन्ति योगिनः।
महर्षयो ज्ञानतृप्ता निर्वाणगतमानसाः॥

(महाभारत, शान्ति० १९५-२)

अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रिरमत्सरी।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित्॥

× × ×

सुखेन तेन संयुक्तो रंस्यते ध्यानकर्मणि।
गच्छन्ति योगिनो ह्येवं निर्वाणं तन्निरामयम्॥

(महाभारत, शान्तिपर्व १९५-१४,२२)

मोक्षप्रापक धर्मव्यापाररूपी ध्यानयोग के साथ साथ प्राचीन भारत में 'योग' के अन्य अनेक स्वरूपों का भी विकास हुआ था। बुद्ध और वर्धमान के युग में श्रमण एवं ब्राह्मण परम्परा के तथा अन्य अब लुप्तप्राय परम्पराओं के तथा-कथित 'योगी' अथवा 'परिव्राजक' बहुसंख्या में थे। उदाहरणार्थं पालि उदान (६-४-९) में एक स्थल पर नाना तैर्थिकों की श्रावस्ती नगर में उपस्थिति का उल्लेख करते हुए कहा गया है-"**नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका सावत्थियं पटिवसन्ति नानादिट्ठिका नानाखन्तिका नानारुचिका नानादिट्ठिनिस्सयनिस्सिता।**" ब्रह्मजालसुत्त के समय से विसुद्धिमग्ग के समय तक विविध प्रकार के कुक्कुरव्रतधारी, गोव्रतधारी हत्थयोगी, पत्तयोगी, दण्डधारी, जटाधारी, नग्न और चीवर पहनने वाले, भक्ष्याभक्ष्य

का भेद न करने वाले, कठोर शारीरिक यातनाओं को सहन करने वाले, तथा अन्य कई प्रकार के योगियों के उल्लेख साहित्य में ही नहीं, वरन् कभी-कभी शिलालेखों में अथवा मूर्तिकला में भी हैं। वस्तुतः बुद्ध के समय से लेकर आज तक भारत में विविध एवं विचित्र योगियों की परम्परा बनी हुई है। वैखानसस्मार्तसूत्र में औदुम्बर, वैरिञ्च, बालखिल्य एवं फेनप इन चार प्रकार के सपत्नीक योगियों के अतिरिक्त कूटीचक, बहूदक, हंस एवं परमहंस कहे जाने वाले मुमुक्षुओं का तथा 'सारङ्ग' 'एकार्ष्य' एवं 'विसारग' नामक योगी-वर्गों का वर्णन हुआ है। 'सारङ्ग' योगियों की एक शाखा ऐसी थी जो 'विमार्ग' योग का अनुगमन करती थी। यह अनीश्वरवादी शाखा थी। जहाँ तक हमारी सूचना की पहुँच है 'सारङ्ग' 'एकार्ष्य' एवं 'विसारग' शब्द वैखानसस्मार्तसूत्र के अतिरिक्त अन्यत्र अज्ञात हैं[1]। योगियों की एक तालिका वराहमिहिर के बृहज्जातक (१५-१) में उपलब्ध है, जिसमें निम्नलिखित सात प्रकार के प्रव्रजितों की गणना की गई है—

शाक्य, आजीवक, भिक्षु, वृद्ध (वृद्धश्रावक), चरक, निर्ग्रन्थ तथा वन्यासन। बृहज्जातक के टीकाकार भट्ट उत्पल ने जैन कालकाचार्य के साक्ष्य के आधार पर निम्नलिखित नामों का उल्लेख किया है—तपस्वी, कापालिक, रक्तपट, एकदण्डी, यति, चरक तथा क्षपणक[2]। यह उल्लेख्य है कि कपालियों का उल्लेख ललितविस्तर तथा मैत्रायणी-उपनिषद में भी हुआ है। वस्तुतः कापालिक-पाशुपत के संस्थापक आचार्य नकुलीश एक प्रसिद्ध योगी थे, जिनका समय ईसा की दूसरी शती माना गया है। पाशुपत सूत्र में पाँच 'अर्थों', अथवा तत्त्वों में से एक तत्त्व 'योग' है। चीनी बौद्ध परिव्राजकाचार्य श्वानच्वाङ् ने भारत के अनेक भागों में पाशुपत योगियों को देखा था। योग के विकास में शैव आम्नायों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। ललितविस्तर महायानसूत्र के 'दुष्करचर्या परिवर्त' में नाना प्रकार के धार्मिक व्रताभ्यासकों की सूची एक पूरे पृष्ठ में विस्तृत है। यह सभी विशुद्ध ध्यानयोग के अन्तर्गत नहीं आते, परन्तु 'योग' शब्द के अन्तर्गत आने वाले विचारादर्शों के बाहर भी इन्हें नहीं रखा जा सकता है। इसी कारण प्रारम्भ में ही हमने निवेदन किया था कि 'योग क्या है' इस प्रश्न का एक उत्तर नहीं हो सकता है। योग के विकास का इतिहास हमें बताता है कि 'योग' योग की सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता

१. वैखानसस्मार्तसूत्र, सम्पादक डब्ल्यु० कैलेन्ड, कलकत्ता, १९२९, द्र०—इलियाडे, योग पृ० १३ -१४०।
२. द्र — ए० एल० बाशाम, 'हिस्टरी एण्ड डाक्ट्रिन्स आफ दि आजीविकास्' लन्दन १९५१ पृ० १६९-१७३।

गया है। यदि आप चाहें तो योग के विकास को योग का ह्रास कह सकते हैं। परन्तु यह दृष्टिभेद का विषय है। पाञ्चरात्र भागवत संहिताओं, शाक्तन्त्रों, शैव आगमों, वज्रयानी तन्त्रों तथा ब्राह्मणपरम्परा के पुराणों एवं उपपुराणों में योग के जो स्वरूप प्रगट हुए, उनमें वैदिक कर्मकाण्ड, सांख्यदर्शन, पूर्वमीमांसा, उपनिषदों का रहस्यात्मक ब्रह्मात्मवाद, बौद्ध श्रामण्य एवं ध्यानपरम्परा, पातञ्जलयोग, शैव-शाक्त उपासना एवं वैष्णव भक्ति के अतिरिक्त कुछ मध्य एशिया से आये हुए विचारादर्शों का अभूतपूर्व मिश्रण देखा जा सकता है। यह यागों का संयोग कहा जा सकता है। बौद्ध ग्रन्थों में सुविदित धूतगुणों, जैन धर्म में प्रस्तावित कठोर संवर एवं निर्जरा तथा पातञ्जल योग द्वारा प्रतिपादित साधना का उग्र रूप हमें नहीं भूलना चाहिए। योग के दुष्कर बाह्य स्वरूपों को उसके समाधि पक्ष से पूर्णरूपेण अलग करना कठिन है। यह दोनों ही स्वरूप प्राचीन काल से चले आ रहे थे। मध्यकालीन भारत में समाधि-भावना का स्थान मन्त्रयोग, लययोग और ईश्वराराधन ने ले लिया, जिसको श्रमणयोग का लोप कहा जा सकता है। धुताङ्गों[1], संवरों एवं यमनियमों का स्थान हठयोग और शक्तिसाहचर्य ने ले लिया प्रतीत होता है। दूसरी दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि योग के सभी स्वरूप मध्य युग में भक्ति और सिद्धि से सम्बन्धित धाराओं के प्रवाह में प्रवाहित होकर अन्त में लुप्तप्राय हो गये। भक्ति का 'फैशन' और सिद्धियों का आकर्षण आज भी लोकप्रिय हैं।

योग के प्रारम्भिक विकास का उपर्युक्त सर्वेक्षण अत्यन्त संक्षिप्त तथा अनेक दृष्टियों से अपूर्ण है। जैन साहित्य की सामग्री का उपयोग न कर सकने का एकमात्र कारण अज्ञान है। योग का ऐतिहासिक अध्ययन करना योगाभ्यास करने से भिन्न है। हमें योगमार्ग पर चलने का लेशमात्र भी अनुभव नहीं है। अतएव योग के व्यावहारिक पक्ष पर प्रकाश डालना हमारे अधिकार में नहीं हो सकता।

[४]

उपसंहार रूप में बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध योगविषयक सामग्री का कुछ बौद्धेतर साहित्य की सामग्री के साथ तुलना की दिशा में संकेतमात्र कर देना यहाँ पर अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

'ईश्वर' एवं 'प्रणव' को छोड़कर योगसूत्र के अन्य अधिकांश पारिभाषिक शब्द पालि एवं संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों में सुविदित हैं। महायान ग्रन्थों में यह दो शब्द

१. धुतागों अथवा धूतगुणों की सूची विसुद्धिमग्ग का दूसरा प्रकरण तेरह धुतंग, धर्मसंग्रह ६२ में द्वादश धूतगुणों की ही सूची है।

भी सुपरिचित हैं। बोधिसत्त्व अवलोकितेश्वर तथा 'ओम् मणि पदमे हूँ' का स्मरण कराना पर्याप्त होगा। तिब्बती बौद्ध मत में अवलोकितेश्वर का और स्वयम्भूपुराण में प्रतिपादित आदिबुद्ध का ईश्वर के रूप में स्मरण वही महत्त्व रखता है, जो योगसूत्र में ईश्वर का है। श्रमणयोग की ईश्वरपरक व्याख्या नेपाली बौद्ध परम्परा तथा पातञ्जल योग की समान विशेषता है। परन्तु बौद्ध योग की ईश्वरपाक्षिक परम्परा उन वैष्णव पुराणों के पश्चात् काल की उपज है, जिसमें शाक्यमुनि को विष्णु का नवाँ अवतार घोषित कर दिया गया था। सद्धर्म के इतिहास के प्रथम एक सहस्र वर्षों में बौद्धयोग विशुद्ध श्रमणयोग के रूप में विकसित हुआ था। इस काल में ब्राह्मणयोग और श्रमणयोग के बीच एक मौलिक दृष्टिभेद था, जिसे 'आत्मा' का प्रश्न कह सकते हैं। एक ओर **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** (बृहदारण्यक उप० २-४-५), **'ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानम्'** (मुण्डक उप० २-२-६), **'आत्मानं सततं ज्ञात्वा कालं नय महामते'** (नादविन्दूप० २१), **'संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः'**, (अहिर्बुध्न्यसंहिता, ३१-१५) और **'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म ध्येयं सर्वमुमुक्षुभिः'** (ध्यानविन्दूपनिषद, ९), **'ओम् इति ब्रह्म'** (तैत्तिरीय उप० १-८) इत्यादि द्वारा आत्मवाद, ब्रह्मवाद अथवा ब्रह्मात्मवाद का शाश्वतवादी विचार ध्याता, ध्यान और ध्येय के मूल में निहित था। दूसरी ओर **'सब्बे धम्मा अनत्ता ति यदा पञ्ञाय पस्सति, अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया।'** (धम्मपद २७९), **'निरात्मानः सर्वधर्माः'** (वज्रच्छेदिका अध्याय १७), **'सर्वमात्मशून्यम्'** (तर्कभाषा, पृ० ३४), **'मुक्तिस्तु शून्यतादृष्टिस्तदर्थाशेषभावना'** (तत्रैव) **'आत्या तीर्थ्यैः कल्प्यते नित्यरूपो'** (मध्यमकावतार, ६-१४२), **'आत्मदृष्टौ हि विनष्टाः (निविष्टाः ?) सर्वतीर्थिकाः'** (तत्त्वसंग्रह, ३३२४) और **'विंशतिशिखरसमुद्गतः सत्कायदृष्टिशैलः'** (महाव्युत्पत्तिः ४६८४) इत्यादि द्वारा सर्वविकल्पजालवासनाप्रपञ्चविगत शान्ति (निर्वाण) को ध्यान और समाधि का लक्ष्य माना गया था, इस आधारभूत दृष्टिभेद के कारण समाधि के परिष्कारों में भेद होना स्वाभाविक था। परन्तु भेदों के विस्तार में न जाकर हम संक्षेप में तुलनीय सामग्री की ओर ध्यानाकर्षण की चेष्टा करेंगे। योग साधना का फल दृष्टधर्म दोषों अथवा आस्रवों का विनाश है। योगी निष्पाप एवं शुद्ध होता है। इस दृष्टि से गीता में उक्त **'योगी विगतकल्मषः'** (६-२८), **'ऋषयः क्षीणकल्मषाः'** (५-२५), मुण्डकोपनिषद् (३-१-५) में उल्लिखित **'यतयः क्षीणदोषाः'** तथा (वही ३-२-६) **'यतयः शुद्धसत्त्वाः'** का तथा दूसरी ओर धम्मपद (४२०) के **'खीणासवं अरहन्तं'** और लङ्कावतारसूत्र (१०-६२९) के **'योगिनां शुद्धचित्तानां'** की स्मृति कराता है। गीता (६-२०) का **'चित्तं निरुद्धं**

योगसेवया' जहाँ योगसूत्र (१-२) के 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' से तुलनीय है, वहीं बोधिचर्यावतारपञ्जिका (पृ० १३७) के 'शमथः चित्तैकाग्रतालक्षणः' की ओर भी संकेत करता है। गीता में 'युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु' (६-१७) आदि के द्वारा बौद्ध योगी के मध्यम मार्ग की दिशा में और साथ ही योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित दुष्करचर्या के प्रतिकूल उपदेश हुआ है। सिद्धियों की परम्परा योगसूत्र व बौद्ध ध्यान-साहित्य की समान विशेषता है। गीता में भक्ति का प्रतिपादन सर्वोपरि होने के कारण श्रमणयोग के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली शक्तियों का उल्लेख नहीं हुआ है। शान्तिपर्व का ध्यानयोगवर्णन सिद्धि का उल्लेख करता है। 'आस्रवक्षयज्ञान' नामक अभिज्ञा बौद्धयोग की विशेषता है। श्रमणयोग के दो प्राचीनाचार्य आलार कालाम तथा रुद्रक रामपुत्र थे। आचार्य अश्वघोष ने जिस परम्परा का उल्लेख किया है उसके अनुसार आलार एक सांख्य विचारक थे। परन्तु सभी बौद्ध ग्रन्थ एकमत होकर यह कहते हैं कि उनके द्वारा सिद्ध ध्यानयोग की पहुँच केवल नैवसंज्ञा न-असंज्ञा आयतन तक ही थी 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतनसमापत्तेर्मार्गः' (ललितविस्तर पृ० १८०)। सिद्धार्थ मुनि ने संज्ञावेदयितनिरोधसमापत्ति स्वयं अधिगत की थी। निर्वाण-भूमि इसके पश्चात् प्राप्त होती है। 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (योगसूत्र २-१५) का यह कथन बौद्धधर्म के किसी भी ग्रन्थ में सर्वथा समीचीन होगा। शास्ता ने प्रथम आर्यसत्य द्वारा इसी तथ्य का उपदेश किया था। योगसूत्र में दी गई अविद्या की परिभाषा भी सौगत सिद्धान्तानुकूल है। अनित्य, अनात्म एवं दुःख इन लक्षणों को न पहचानना अविद्या है, इसमें इनका प्रतिकूल ढूढ़ना विपर्यास है।

करुणा, मैत्री, मुदिता और उपेक्षा इन चार ब्रह्मविहारों की सूची योगसूत्र, पालि एवं संस्कृत सूत्रों के अतिरिक्त एक मध्यकालीन पाशुपत अभिलेख में भी उल्लिखित है। गीता और उपनिषदों में यह अज्ञात हैं। परन्तु बौद्ध क्षेत्र में बुद्ध के युग से ही इनका प्रचलन व वर्णन होता आया है।

श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञा (योगसूत्र १-२०) की गणना बोधिपाक्षिक धर्मों में, पाँच 'इन्द्रियों' व पाँच 'बलों' के अन्तर्गत बौद्ध ग्रन्थों में सैकड़ों बार हुई है। स्मृति के प्रकार और समाधियों की लम्बी सूची संस्कृत बौद्ध ग्रन्थों की विशेषता है। उदाहरणार्थ कुछ सूचियाँ अर्थविनिश्चयसूत्र, धर्मसंग्रह, महाव्युत्पत्ति तथा श्री एडजर्टनकृत 'बौद्धसंस्कृतशब्दकोश' की सहायता से तैयार की जा सकती है।

'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' के ऊपर टीका करते समय योगभाष्य के लेखक ने योगशास्त्र के चतुर्व्यूह-संसार, संसारहेतु, मोक्ष, एवं मोक्षोपाय की तुलना चिकित्सा-

शास्त्र के चतुर्व्यूह-रोग, रोगहेतु, आरोग्य एवं भैषज्य के साथ की है। चतुर्व्यूह का हेय, हान, हानोपाय तथा अतिगन्तव्य के अन्तर्गत उल्लेख न्यायसूत्रभाष्य (१-१-१) के लेखक वात्स्यायन ने भी किया है। इस चतुर्व्यूह की तुलना बौद्ध चतुर्व्यूह अथवा सत्यचतुष्टय—दुःख, दुःखसमुदय, दुःखनिरोध एवं दुःख निरोधमार्ग के साथ अनेक विद्वानों ने की है। योगशास्त्र, बौद्ध तथा अबौद्ध, एक प्रकार का चिकित्साशास्त्र है। योगी ही चिकित्सक है। मार्ग भैषज्य है। अविद्या, तृष्णा, दुःख, मृत्यु आदि रोग हैं। भगवान बुद्ध को 'स वैद्यराजो अमृतभेषजप्रदः' (ललितविस्तर पृ०३) में वैद्यराज कहा गया है। काश्यपपरिवर्त (पृ० १३९) में कहा गया है—'आर्याष्टाङ्गो मार्गः दौष्प्रज्ञसर्व-परप्रवादिनां कुमार्गप्रतिपन्नानां चिकित्सा इयं उच्यते काश्यप, भूतचिकित्साः; तत्र काश्यप, बोधिसत्त्वेन योगः करणीयः।' मध्य एशिया, चीन तथा जापान में बुद्ध की भैषज्यगुरु के रूप में स्तुति प्राचीनकाल से सुविदित है। निर्वाण का एक नामान्तर आरोग्य भी है। अर्थविनिश्चयसूत्र में भी अष्टाङ्गमार्ग को 'महोषधं शान्तिकरं' कहा गया है।

अष्टाङ्गमार्ग के आठ अङ्गों—सम्यग्दृष्टि, सम्यक्संकल्प, सम्यग्वाक्, सम्यक्कर्मान्त, सम्यगाजीव, सम्यग्व्यायाम, सम्यक् स्मृति, सम्यक्समाधि—की पातञ्जलयोग के आठ अङ्गों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि के साथ बहुधा तुलना की जाती रही है। परन्तु 'आठ अङ्गों' को गिना देने के अतिरिक्त दोनों मार्गों का विस्तृत अध्ययन कदाचित् अभी नहीं किया गया है। यह यहाँ पर उल्लेखनीय है कि इन दोनों अङ्ग-सूचियों के मध्य एक भेद यह है कि बौद्ध अङ्ग-सूची में बौद्ध दार्शनिक पक्ष भी सम्मिलित है: 'सम्यग्दृष्टि' जिसका स्थान सबसे पहले सुरक्षित है तथा 'सम्यक्संकल्प' भी इसी वैचारिक पक्ष को संकेतित करता है। पातञ्जल अङ्ग-सूची में इस प्रकार का कोई अङ्ग नहीं है। बौद्ध 'स्मृति' एवं 'समाधि' के परिष्कारों में ही प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान को सम्मिलित किया गया है।

बौद्ध योग के चार ध्यानों की तुलना पातञ्जल योग की चार समाधियों के साथ अनेक विद्वानों ने की है। सेनार्त एवं पूसें द्वारा फ्रेञ्चभाषा में इस विषय पर उल्लेखनीय कार्य हैं। समाधि एवं समापत्ति समानार्थक शब्द हैं। इसी प्रकार ध्यान और समाधि भी समानार्थक हैं। अर्थविनिश्चयसूत्र (पृष्ठ ३१६) में कहा है:—"सम्यक्समाधिः कतमः? चत्वारि ध्यानानि। "सवितर्कं सविचारं विवेकजं प्रीतिसुखं, अध्यात्मप्रमोदनात्प्रीतिसुखं, उपेक्षास्मृतिसम्प्रजन्यसुखं, तथा उपेक्षास्मृतिपरिशुद्धि-रदुःखासुखा वेदना" (धर्मसंग्रह ७२)। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि ध्यान की चरमावस्था समाधि है, जिस अवस्था में ध्याता, ध्येय एवं ध्यान का भेद समाप्त हो

जाता है। इसकी सिद्धि ईश्वरप्रणिधान के विना भी होती है। पतञ्जलि ने चार समाधियों के लिये नामों की दो मालायें प्रयुक्त की हैं। प्रथम में 'सवितर्क', 'निर्वितर्क', 'सविचार', तथा 'निर्विचार' तथा द्वितीय में 'वितर्क', 'विचार', 'आनन्द' व 'अस्मिता' हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि अथवा समापत्ति की विभिन्न भूमियाँ अथवा अवस्थाएँ हैं। पातञ्जल योग और बौद्धयोग के बाहर भी चार ध्यानों की परम्परा सुविदित है। उदाहरणार्थ जैन सूत्रों में अट्ट (आर्त्त), रोद्द (रौद्र), धम्म (धर्म) एवं सुक्क (शुक्ल) यह चार प्रकार के ध्यानों की विस्तृत चर्चा है।[1] इनमें से धम्म झाण की चार अवस्थाएँ भी जैन ग्रन्थों में सुविदित हैं। महाभारत (शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, अध्याय १९५, श्लोक १) में **"ध्यानयोगं चतुर्विधम्"** कहा गया है। परन्तु चतुर्विध ध्यान का विस्तार वहाँ पर नहीं मिलता है। मात्र 'विचार' 'विवेक' एवं 'वितर्क' का प्रथम ध्यान के साथ सम्बन्ध बताया गया है। (तत्रैव श्लोक १५)।

ऐसा समझना कि ध्यान अथवा समाधि की केवल चार अवस्थाएँ या प्रकार होते हैं, त्रुटिपूर्ण होगा। बौद्धग्रन्थों में कई प्रकार से ध्यानों व समाधियों का वर्गीकरण तथा नामकरण किया गया है। उदाहरण के लिये कुछ का यहाँ उल्लेख कर देना पर्याप्त होगा। बौद्ध ग्रन्थों में नौ प्रकार की अनुपूर्व समापत्तियों की सूची में उपर्युक्त चार ध्यानों के अतिरिक्त चार आरूप्य समापत्तियों—आकाशानन्त्यायतन-समापत्ति, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन, न संज्ञा-न-असंज्ञायतन तथा संज्ञा-वेदयितनिरोध की भी गणना की जाती है। महाव्युत्पत्ति (१४९१) में यह संख्या बढ़ाकर ग्यारह समापत्तियों की तालिका दी गई है। पालि ग्रन्थों में 'चेतोसमाधि', 'धम्मसमाधि', 'उपचारसमाधि', 'अप्पनासमाधि', 'खणिकसमाधि', 'सम्मासमाधि' आदि के उल्लेख सुविदित हैं। विसुद्धिमार्ग में विमोक्षत्रय को सुञ्ञतसमाधि, अप्पणिहित तथा अनिमित्त कहा गया है। एक पालिजातक में कहा गया है कि सम्यक्सम्बुद्ध ने 'अनेककोटिसतसहस्स' समापत्तियों को प्राप्त किया था। ललितविस्तर (पृ० १८०) में **"लौकिकसमाधीनां"** तथा **"संस्कृतसमाधीनां"** का अलग अलग उल्लेख तथा पुनः **"ध्यानसमाधिसमापत्तीनां"** का एक साथ उल्लेख हुआ है। यह विदित है कि समापत्ति का अर्थ 'प्राप्ति' है। उदाहरणार्थ लङ्कावतारसूत्र (पृ० ४२) में **"समाधि-समापत्त्याधिष्ठानेन"** वाक्यांश से यह स्पष्ट है। परन्तु चार समाधियों अथवा ध्यानों के अतिरिक्त चार अथवा पाँच समापत्तियों का उल्लेख यह संकेतित करता है कि

१. द्रष्टव्य—वाल्टर शूब्रिंग, दि 'डाक्ट्रिन आफ दि जैनास्', दिल्ली, १९६२, पृ० ३१३-३१५, संस्कृत साक्ष्यों के लिये हेमचन्द्रकृत 'योगशास्त्र' उल्लेख्य है।

समाधि का अर्थ समापत्ति के अर्थ से भिन्न है और यह अर्थ मात्र 'प्राप्ति' नहीं कुछ और भी है।[1] इस विषय पर बौद्ध ध्यानियों व योगियों द्वारा प्रकाश अपेक्षित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि चार समापत्तियों की गणना आठ प्रकार के विमोक्ष की सूची में अन्तिम चार प्रकार के विमोक्ष के अन्तर्गत भी की गई है (धर्मसंग्रह ५९)।

हमारा विश्वास है कि ध्यान, समाधि एवं समापत्ति बहुधा सूत्रों व शास्त्रों में समानार्थक शब्दों के रूप में प्रयुक्त हुए हैं; तथापि उनके व्यक्तिगत प्रसङ्गभेद के कारण अर्थभेद भी सम्भव है।

चतुर्विध ध्यान के सम्बन्ध में महायान सूत्रों में सुविदित एक अन्य प्रकार के वर्गीकरण का वर्णन लङ्कावतारसूत्र (२-१५९, पृ० ४०-४१) में हुआ है। **"पुनरपरं महामते, चतुर्विधं ध्यानम्। कतमच्चतुर्विधम्? यदुत बालोपचारिकं ध्यानम्, अर्थ-प्रविचयध्यानम्, तथतालम्बनं ध्यानम्, ताथागतं चतुर्थं ध्यानम्।"** श्रावकों व प्रत्येक-बुद्धों के योग के योगियों द्वारा किया जाने वाला ध्यान 'बालोपचारिक' कहा गया है। अर्थप्रविचय से तात्पर्य पुद्गलनैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य की दृष्टि से किया जाने वाला ध्यान है। तथतालम्बन ध्यान वह ध्यान है, जिसमें द्विविध नैरात्म्य को यथा-भूततथता की दृष्टि से मात्र परिकल्पित समझकर तथता का ध्यान होता है। चतुर्थ ध्यान की परिभाषा में कहा गया है: **"यदुत ताथागतभूम्याकारप्रवेशं प्रत्यात्मार्यज्ञान-लक्षणत्रयसुखविहाराचिन्त्यसत्त्वकृत्यकरणतया ताथागतं ध्यानम् इति।"** इस दृष्टि से ध्यान का चरम लक्ष्य पुरुष की कैवल्यावस्था न होकर असंख्य प्राणियों की बोधि के लिये कार्य करना है। शाक्यमुनि ने तथागतभूमि अधिगत करके यही आदर्श सौगतों के समक्ष रखा था।

गुह्यसमाजतन्त्र (१८-१४३) में चार के स्थान पर निम्नलिखित पाँच प्रकार के ध्यानों की सूची दी गई है—

वितर्कं च विचारं च प्रीतिश्चैव सुखं तथा।
चित्तस्यैकाग्रता चैव पञ्चैते ध्यानसंग्रहाः॥

यहाँ पर यह उल्लेख्य है कि योग के अङ्गों की दो परम्पराएं प्राचीन काल में प्रचलित थीं। एक षडङ्गयोग की और दूसरी अष्टाङ्गयोग की। मैत्रायणी-उपनिषद्,

१. देखिए फ्रैंकलिन एडजर्टन, 'बुद्धिस्ट हाइब्रिड संस्कृत डिक्शनरी' दिल्ली १९७०, पृ० ५६९-७०, टी० डब्ल्यू० रीज डेविड्स एवं विलियम स्टेड, 'पालि-इंगलिश डिक्शनरी' लन्दन, १९६६, पृ० ६८५-८६।

ध्यानविन्दूपनिषद्, तथा योगचूडामणि-उपनिषद् योग के केवल छः अङ्गों का वर्णन करते हैं। प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये पाँच अङ्ग इन तीनों सूचियों में समान रूप से विद्यमान हैं। छठा अङ्ग मैत्रायणी उप० में तर्क है, परन्तु अन्य दो उपनिषदों में आसन है। षडङ्गयोग का उल्लेख एक बौद्ध ग्रन्थ भी करता है। श्री गुह्यसमाजतन्त्र (१८–१४०) में कहा गया है —

प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥

इस सूची में पाँच वही अङ्ग हैं जो उक्त सूचियों में हैं, परन्तु अनुस्मृति इस सूची की विशेषता है। इस ग्रन्थ में षडङ्गयोग को तन्त्र के चार उपायों में से एक उपाय के अन्तर्गत माना गया है। यह स्मरणीय है कि तान्त्रिक योग में यम-नियमों का वह स्थान नहीं है, जो पातञ्जल योग व जैन-बौद्ध योगों में महाव्रतों, अणुव्रतों, पञ्चशीलों तथा दशशीलों का है। पूर्वमध्यकालीन एक अभिलेख[1] भावतेज नामक पाशुपत योगी की प्रशंसा करता है, जो पातञ्जल योग के सभी अङ्गों का अभ्यास करता था। परन्तु अभिलेख में केवल नियम, प्राणायाम, समाधि, ध्यान तथा आसन इन्हीं पाँच अङ्गों का उल्लेख है।

अहिर्बुध्न्यसंहिता (३१–१७) में अष्टाङ्गों की उसी क्रम में गणना की गई है, जिस क्रम में योगसूत्र में उनका उल्लेख है। अष्टाङ्गयोग का तथा उपनिषदिक षडङ्ग-योग का उद्देश्य आत्मा और परमात्मा का संयोग अथवा सायुज्य है। परन्तु गुह्य-समाजतन्त्र (१८–३२) में 'बोधिचित्त' अथवा 'प्रज्ञोपाय' का योग लक्ष्य है। "प्रज्ञो-**पायसमापत्तिर्योग इत्यभिधीयते।**" तन्त्रों के प्रकाशन के पूर्व बौद्ध योग का लक्ष्य समाधि प्राप्त करना था। 'समाधि' न केवल ध्यान और योग का, अपितु निर्वाण का भी नामान्तर है। 'प्रज्ञोपाय' अथवा प्रज्ञा और उपाय समाधि के ही दो स्वरूप हैं।[2] समाधि को 'वज्रसत्त्व' भी कहा गया है। अद्वयवज्राचार्य ने कहा है–'वज्रेण शून्यता प्रोक्ता, सत्त्वेन ज्ञानमात्रता।' (अद्वयवज्रसंग्रह, पृ० २४)। शून्यता अथवा चित्त-मात्रता समाधि के अधिवचन हैं। जिस प्रकार समथ और विपस्सना युगनद्ध कहे गये हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय अथवा शून्यता और करुणा भी युगनद्ध हैं, एक सिक्के के दो पहलू मात्र हैं। इस अद्वैत तत्त्व को प्रज्ञापारमिता, तथता, धर्मकाय, धर्मधातु,

१. द्र०—विश्वम्भरशरणपाठक, 'शैव कल्ट्स इन नार्दर्न इण्डिया' वाराणसी १९६०, पृ० १५। सम्बन्धित अभिलेख 'इण्डियन एन्टीक्वरी' के अट्ठारहवें अङ्क में प्रकाशित है।

२. द्र०—लालमणि जोशी–'स्टडीज इन दि बुद्धिस्ट कल्चर आफ इण्डिया' दिल्ली १९६७,

परमार्थ, निर्वाण, उपशम, और शान्ति कहा गया है। यही बौद्ध योग और साधना का परमार्थ ध्येय है। इसे समाधि भी कहा गया है। यही ध्यानपारमिता है। दश-भूमिकसूत्र (पृ० ३७) में ध्यानपारमिता को 'सर्वज्ञज्ञानाभिमुखता' कहा गया है। समाधिराजसूत्र (पृ० ७९) के समाधिनिर्देशपरिवर्त में समाधि का वर्णन इस प्रकार किया गया है।

"**कतमः समाधिनिर्देशः? या यथावत्तता सर्वधर्माणां समता अविषमता। अकल्पना अविकल्पना। अविठपना असमुत्थापना। अनुत्पादः अनिरोधः। कल्पविकल्प-परिकल्पसमुच्छेदः। चित्तानालम्बता। अमनसिकारः। प्रज्ञप्तिसमुच्छेदः। वितर्कविकल्प-समुच्छेदः। रागद्वेषमोहसमुच्छेदः। नान्तानन्तमनसिकारः। मनसिकारसमुच्छेदः। स्कन्धधात्वायतनस्वभावज्ञानम्। स्मृतिमतिगतिह्रीधृतिचारित्राचारगोचरप्रतिपत्ति-स्थानम्। अरणाभूमिः। शान्तभूमिः। सर्वप्रपञ्चसमुच्छेदः। सर्वबोधिसत्त्वशिक्षा। सर्व-तथागतगोचरः। सर्वगुणपरिनिष्पत्तिः। अयमुच्यते कुमार, समाधिनिर्देशः। यत्र समाधिनिर्देशे प्रतिष्ठितो बोधिसत्त्वो महासत्त्वोऽविरहितो भवति समाधिना, अभ्रान्त-चित्तश्च भवति, महाकरुणासमन्वागतोऽप्रमेयाणां च सत्त्वानामर्थं करोति।**" इस समाधि को लङ्कावतारसूत्र में 'तथागतध्यान' कहा गया है। षडङ्गयोग और अष्टाङ्ग-योग की चर्चा के साथ अचानक समाधि के इस परिनिष्पन्न स्वरूप का वर्णन करने का हमारा मन्तव्य यह बताना था कि 'योग' के अङ्गों के केवल ये दो ही संग्रह नहीं हैं और समाधि केवल योग का एक अङ्गमात्र नहीं है। मैत्रायणी-उपनिषद व गुह्य-समाजतन्त्र में उल्लिखित षडङ्गयोग के अतिरिक्त दो अन्य षडङ्ग मार्ग भी बौद्ध साहित्य में विदित हैं। एक षडङ्गयोग षट् पारमिताओं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा का है, जो बोधिसत्त्वयान अथवा बुद्धयान अथवा एकयान कहा गया है। पालि अङ्गुत्तरनिकाय (खण्ड ३ पृ० १४८–१४९) में एक स्थल पर एक अन्य षडङ्गयोग अथवा षडङ्गमार्ग का वर्णन हुआ है। कहा है—

"**छहि, भिक्खवे, धम्मेहि समन्नागतो तपुस्सो गहपति तथागते निट्ठङ्गते अमतद्दसो अमतं सच्छिकत्वा इरियति। कतमेहि छहि? बुद्धे अवेच्चप्पसादेन, धम्मे अवेच्चप्पसादेन, संघे अवेच्चप्पसादेन, अरियेन सीलेन, अरियेन ञाणेन, अरियाय विमुत्तिया।**" न केवल तपुस्स गृहपति ने वरन् बीस अन्य गृहपतियों ने भी इसी षडङ्गमार्ग द्वारा निर्वाण अथवा अमृत प्राप्त किया था। इन गृहस्थ अर्हतों की सूची स्थानाभाव के कारण यहाँ पर नहीं दुहराई जा रही है। इस मार्ग में त्रिमुखी श्रद्धा, शील, ज्ञान तथा विमुक्ति ये छः अङ्ग मोक्ष के लिये पर्याप्त माने गए हैं। यहाँ पर परम्परागत अष्टाङ्ग मार्ग से भेद ध्यातव्य है, विशेषरूपेण ध्यान और समाधि की अनुपस्थिति।

स्थानाभाव के कारण दश पारमियों या पारमिताओं की तथा तेरह धुतङ्गों की चर्चा से वियोग करना पड़ रहा है।[1]

निबन्ध में उल्लिखित पालि एवं संस्कृत ग्रन्थों की सूची—

अङ्गुत्तरनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
संयुत्तनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
दीघनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
मज्झिमनिकाय पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
धम्मपद पालि (नालन्दा नागरी संस्करण)।
विमुत्तिमग्ग (अंग्रेजी अनुवाद, कोलम्बो)।
विसुद्धिमग्ग पालि (हार्वर्ड आरियन्टल सिरीज)
उदान पालि (नालन्दा ना० सं०)
जातक पालि (रोमन संस्करण, लन्दन)
ऋग्वेद संहिता (पूना संस्करण)
महाभारत (गीताप्रेस संस्करण)
भगवद्गीता (गीताप्रेस संस्करण)
योगसूत्र (गीताप्रेस संस्करण)
बृहदारण्यक उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
छान्दोग्य उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
तैत्तरीय उपनिगद् (गीताप्रेस संस्करण)
कठ उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
मुण्डक उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
श्वेताश्वतर उपनिषद् (गीताप्रेस संस्करण)
मैत्रायणी उपनिषद् (रोमन संस्करण)
परमहंस उपनिषद् (बरेली संस्करण)
योगतत्त्वोपनिषद् (बरेली संस्करण)
योगचूडामणि उपनिषद् (बरेली संस्करण)
ध्यानबिन्दूपनिषद् (बरेली संस्करण)
नादबिन्दूपनिषद् (बरेली संस्करण)

१. धूतगुणों की सूची व चर्चा के लिये देखिए—'मिलिन्द पञ्हो' बम्बई, १९४० पृ० ३५१ विसुद्धिमग्ग (दूसरा अध्याय)।

अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार-मद्रास)
वैखानससमार्तसूत्र (कलकत्ता संस्करण)
स्वयम्भूपुराण (कलकत्ता संस्करण)
महाव्युत्पत्ति (रोमन संस्करण, टोकियो)
तत्त्वसंग्रह (वाराणसी संस्करण)
न्यायबिन्दुटीका-धर्मोतर (वाराणसी संस्करण)
मध्यमकावतार (मद्रास)
तर्कभाषा (बड़ौदा संस्करण)
अद्वयवज्रसंग्रह (बड़ौदा संस्करण)
काश्यपपरिवर्त (शांघाई से प्रकाशित रोमन संस्करण)
अर्थविनिश्चयसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
धर्मसंग्रह (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावलो, दरभंगा)
वज्रच्छेदिका (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
समाधिराजसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
लङ्कावतारसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
ललितविस्तर (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
गुह्यसमाजतन्त्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावलो, दरभंगा)
बोधिचर्यावतारपञ्जिका (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)
दशभूमिकसूत्र (बौद्ध संस्कृत ग्रन्थावली, दरभंगा)

• • •

"त्रिकायवाद एवं व्यूहवाद–एक तुलनात्मक सर्वेक्षण"

डा० सिद्धेश्वर भट्ट

प्रस्तुत लेख का लक्ष्य बौद्धदर्शन के त्रिकायवाद एवं पाञ्चरात्र दर्शन के व्यूहवाद का तुलनात्मक दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत करना है। ये दोनों सिद्धान्त तत्तत् दर्शनों में प्रतिपादित अद्वैतवाद के एकमेवाद्वितीय निष्प्रपञ्च चरम तत्त्व को नानात्व-मय प्रपञ्चात्मक जगत् से सम्बन्धित करने के प्रयास के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। विशुद्ध अद्वैत, जो मात्र एकत्व को ही स्वीकार कर नानात्व का पूर्ण निषेध कर देता है, वह एकत्व और नानात्व के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न से सर्वथा मुक्त हो जाता है, परन्तु जब निर्विशेष अद्वैत को स्वीकार करते हुए भी सविशेष नानात्व को अस्वीकार नहीं करने का मोह किया जाए तो यह समस्या उत्पन्न होती है कि किस तरह इन दो विरोधी तत्त्वों में सामञ्जस्य स्थापित किया जाए। ठीक इसी पृष्ठभूमि में त्रिकायवाद एवं व्यूहवाद के सिद्धान्त समाधान के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं।

त्रिकायवाद का सिद्धान्त अपने स्पष्ट एवं यथार्थ रूप में हीनयान सम्प्रदाय में अनुपलब्ध है और महायान सम्प्रदाय की ही देन है। वैसे तार्किक दृष्टि से हीनयान में इसकी आवश्यकता ही नहीं थी, क्योंकि उसमें न तो अद्वैत का दार्शनिक प्रारम्भ विन्दु या निष्कर्ष माना गया है और न उसमें व्यावहारिक जगत् से परे पारमार्थिक तत्त्व को स्वीकार किया गया है। अतः हीनयान में त्रिकायवाद का प्रारम्भिक स्वरूप देखना भ्रामक ही होगा। परन्तु महायान सम्प्रदाय में जब एक ओर विशुद्ध दार्श-निक दृष्टि से निर्विशेष अद्वैत का प्रतिपादन किया गया (योगाचार मत में विज्ञानाद्वैत का तथा माध्यमिक में शून्याद्वैत का) और दूसरी ओर धार्मिकता के प्रभाव में उस निर्विशेष चरम तत्त्व को सविशेष जगत् से निर्लिप्त मानते हुए भी तटस्थ नहीं मानने का आग्रह हुआ तो उस जगदितर निरवद्य, निष्प्रपञ्च, निर्गुण, निराकार चरम तत्त्व को एकमात्र सत्य मानते हुए भी उसे इस नानात्वमय सांवृतिक जगत् से कुछ मध्यस्थों के माध्यम से सम्बन्धित करने की आवश्यकता उत्पन्न हुई। अन्यथा दोनों में प्रत्यक्ष सम्बन्ध तार्किक दृष्टि से सम्भव नहीं था। त्रिकायवाद इसी का परिणाम है।

पाञ्चरात्र सम्प्रदाय भी अपनी विशुद्ध दार्शनिक पृष्ठभूमि में पूर्णतः अद्वैतवादी है। धार्मिक स्वरूप में वैष्णविक होने से सदियों से इसे दार्शनिक दृष्टि से अनद्वैतवादी माना जाता रहा है, परन्तु मैंने अपने ग्रन्थ में इसकी मौलिक अद्वैतवादी प्रवृत्ति को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। पाञ्चरात्र सम्प्रदाय में भी महायान बौद्धमत की तरह चरम सत्ता की निर्गुण-निराकारिता पर बल देते हुए उसके स्वरूप का वर्णन ठीक ऐसो भाषा में किया गया है, जो औपनिषदिक निषेधक भाषा से पूर्ण साम्य

रखती है। परन्तु भारत का तत्कालीन सांस्कृतिक पर्यावरण ही ऐसा था कि कोई भी अद्वैतवादी दार्शनिक परम्परा धार्मिक प्रभाव से अछूती नहीं रह पाई। महान् अद्वैता-चार्य शङ्कर को भी 'भज गोविन्दम्' की धुन लगानी पड़ी। दर्शन पर धर्म का यह प्रभाव पाञ्चरात्र दर्शन में भी दृष्टिगत होता है। परिणामतः यहाँ पर भी एक विश्वेतर निश्चल निरवद्य चरम तत्त्व को चलायमान विश्व से सम्बन्धित करने का प्रयास किया गया, जो चरम तत्त्व की पञ्चविध अभिव्यक्ति के सिद्धान्त के रूप में फलित हुआ। (ये पाँच हैं—पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा) व्यूहवाद इसी का एक अङ्ग है।

पाञ्चरात्र दर्शन में एकमेव निष्प्रपञ्च, निर्विशेष, निराकार तत्त्व को (जिसे परब्रह्म के नाम से पुकारा जाता है) एक मात्र सत्य माना गया है। इसका तार्किक परिणाम नानात्वमय प्रपञ्चात्मक जगत् को असत्य स्वीकार करना होता था। परन्तु धर्म के प्रभाव से उत्पन्न यथार्थवादी प्रवृत्ति के कारण पाञ्चरात्र आचार्यों को यह स्थिति मान्य न थी। अतः उन्होंने चरम तत्त्व की चरमता को अक्षुण्ण रखते हुए भी जगत् की सांवृतिक यथार्थता प्रतिपादित करने तथा चरम तत्त्व को विश्वेतर रखते हुए भी जगत् से किसी न किसी रूप में सम्बन्धित करने का प्रयास किया। व्यूहवाद, जैसा कि ऊपर कहा गया है, इसी प्रयास का फल है, जो कारण रूप ब्रह्म को किसी तरह प्रभा-वित किये बिना उसमें से कार्यरूप जगत् की उत्पत्ति की व्याख्या करता है। जगत् की उत्पत्तिविषयक व्याख्या का यह सिद्धान्त न तो परिणामवाद है और न विवर्तवाद, वरन् दोनों के बीच की स्थिति है, जिसमें सत्कारणवाद की ओर अधिक झुकाव है।

व्यूहवाद के अन्तर्गत परब्रह्म को श्री या लक्ष्मी तत्त्व से सम्बन्धित माना गया है। जो ब्रह्म की सृजनकारी शक्ति के रूप में स्वीकार की गई है। (शक्तितत्त्व की तुलना अद्वैत वेदान्त की माया और सेश्वर सांख्य की प्रकृति से की जा सकती है) श्रीसंयुक्त परब्रह्म को नारायण की संज्ञा दो गई है। मूलतः निर्गुणी होते हुए भी श्री के सानिध्य से परब्रह्म में गुणोन्मेष होता है और नारायण षाड्गुण्य विग्रह के रूप में प्रकट होते हैं। इन छः गुणों में से दो दो गुणों के युगलों से तीन व्यूहों की अभिव्यक्ति होती है, जो क्रमशः सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के नाम से अभिहित किये गये हैं। (यह नामकरण कृष्ण की वंशावली पर आधारित प्रतीत होता है) कहीं-कहीं पर व्यूह वासुदेव की पर-वासुदेव से पृथक् अभिव्यक्ति और इसे इन तीनों व्यूहों से पूर्व का एक अन्य व्यूह मानकर चतुर्व्यूह की कल्पना भी मिलती है (**चतुर्मूर्तिधरो नारायणः**), परन्तु प्रायः त्रिव्यूह विचार ही अधिक मान्य है। इन तीन व्यूहों में से सङ्कर्षण को जीव का, प्रद्युम्न को मन या बुद्धि का और अनिरुद्ध को अहङ्कार का रूप माना गया है। इस दृष्टि से पाञ्चरात्र की विश्व-विकास-प्रक्रिया को समता सांख्यदर्शन प्रतिपादित प्रक्रिया से की जा सकती है, जिसमें जीवरूप सङ्कर्षण को

सांख्य के अव्यक्त के, प्रद्युम्न को बुद्धि के और अनिरुद्ध को अहङ्कार के समरूप माना जा सकता है। एक अन्य दृष्टि से इन चार व्यूहों की तुलना अद्वैत वेदान्त के प्रज्ञा, विराट्, विश्व और तेजस् की चार अभिव्यक्तियों से की जा सकती है।

त्रिकायवाद के सिद्धान्त का विकास भी व्यूहवाद के सदृश हुआ है। व्यूहों की ही तरह प्रारम्भ में दो, फिर तीन, और अन्त में चार कायों की कल्पना की गई है। अभिसमयालङ्कार कारिका में चरम सत्ता को, जो एकमात्र सत्य है, स्वाभाविक-काय की संज्ञा दी गई है और उसकी तीन क्रमिक सांवृतिक कायाओं की चर्चा की गई है, जो धर्मकाय, सम्भोगकाय और निर्माणकाय के नाम से पुकारी गई हैं। परन्तु प्रायः तीन कायाओं के ही विचार को महत्ता मिली है। धर्मकाय, चरम तत्त्व (शून्यता) का ही नाम है। यह भूतमात्र का आदि एवं अन्त, सार एवं सर्वस्व है। स्वयं में अचल एवं अपरिवर्तनीय होते हुए भी यह समस्त गति एवं परिवर्तन का जन्मदायक है (इस दृष्टि से यह पाञ्चरात्र परब्रह्म के तुल्य है)। इसमें से ही समस्त बुद्ध एवं बोधिसत्त्व स्फूर्त होते हैं। धर्मकाय के रूप में चरम तत्त्व निराकार है, जो दया एवं करुणा के कारण सगुण और साकार होकर सम्भोगकाय के रूप में अभि-व्यक्त होता है। सम्भोगकाय का प्रकटीकरण संसार के समस्त दुःखी प्राणियों के उद्धार के लिए होता है। यह समस्त शुभगुणसम्पन्न एवं शुद्ध लोक में निवास करने वाली काय है, जिसका दर्शन बोधिसत्त्व ही कर सकते हैं, अन्य प्राणी नहीं (इसकी तुलना पाञ्चरात्र के पर वासुदेव तथा शुद्ध लोक से की जा सकती है)। सम्भोगकाय सूक्ष्म देह है, जिसकी स्थूल अभिव्यक्ति निर्माणकाय के रूप में होती है। यद्यपि यह स्थूल देह है, इसका निर्माण भौतिक तत्त्वों से न होकर शुद्ध सत्त्व से होता है (ऐसा विचार पाञ्चरात्र में भी मिलता है)। निर्माणकाय के अन्तर्गत तीन प्रकार की अभि-व्यक्तियाँ आती हैं—बुद्ध, बोधिसत्त्व और अर्चा। निर्माणकाय के माध्यम से ही सम्भोगकाय की जगदुद्धार की प्रतिज्ञा पूर्ण होती है।

त्रिकायवाद एवं व्यूहवाद के सिद्धान्तों को यदि तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की उत्पत्ति अद्वैतवादी पृष्ठभूमि में ही होती है। दोनों सृष्टि प्रक्रिया की व्याख्या के सिद्धान्त हैं, परन्तु इनकी आवश्यकता विशुद्ध अद्वैतवाद में नहीं, वरन् तब ही होती है, जब अद्वैतवाद के साथ धर्म के प्रभाव से उत्पन्न जगत् के प्रति यथार्थवादी दृष्टिकोण का समन्वय तथा अद्वैत तत्त्व को नाना-त्मक जगत् से सम्बन्धित करने का प्रयास किया जाए। इन दोनों सिद्धान्तों में एकत्व को ही चरम तत्त्व मानने से उसके स्वरूप का वर्णन निषेधक रूप में हुआ है तथा नानात्वमय जगत् को सांवृतिक मानकर परमतत्त्व की अभिव्यक्तियों को भी सांवृतिक ही माना गया है।

• • •

जैन गुणस्थान और बौद्ध दशभूमि

पं० श्री दलसुख मालवणिया

भारत में योगप्रक्रिया का सम्पूर्ण इतिहास लिखा जाना अभी बाकी है। किन्तु यह सम्भावना तो विद्वानों को सम्मत है कि सिन्धु की आर्यपूर्वकालीन प्राचीन संस्कृति में जो मुद्राएँ मिली हैं, उनका सम्बन्ध योग से है। अद्यतन भारतीय संस्कृति में वैदिक और अवैदिक दोनों में योग का स्थान महत्त्वपूर्ण है। इतना ही नहीं, योग का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण या मोक्ष सभी में एक जैसा होना यह सूचित करता है कि समग्र योगप्रक्रिया का मूलस्रोत एक ही है। यहाँ संक्षेप में अवैदिक संस्कृति—जैन और बौद्ध की योग प्रक्रिया का साम्य-वैषम्य दिखाना अभिप्रेत है। किन्तु यह दावा नहीं कि यहाँ सम्पूर्ण बातों का निर्देश है। कुछ ही महत्त्वपूर्ण तथ्यों का निर्देश करना अभीष्ट है—यह इसलिए कि विद्वान् इस विषय में विशेष अभ्यास के लिए प्रेरित हों।

जैनों में आत्मविकास के सोपानों का सामान्य नाम जीवसमास या गुणस्थान है। महायान बौद्धों में विहार या भूमि नाम से इनका निर्देश है। जैनों में गुणस्थान चौदह हैं और बौद्धों में महायान में विहार १३ हैं, भूमि सात या दश हैं। आचार्य असङ्ग ने विहार और भूमियों का समीकरण किया है। हीनयानी बौद्धों में सोता-पत्ति आदि चार सोपानों का निर्देश है—वह वस्तुतः अतिसंक्षेप में विकासक्रम के सोपान समझने चाहिए।

वैदिक और अवैदिक दोनों में आध्यात्मिक विकास के लिए ध्यान का महत्त्व स्वीकृत है।

भूमि और गुणस्थानों की इस बात में सहमति है कि प्रथम सम्यक्दृष्टि का लाभ जरूरी है। उसके बाद विशुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है। उसके बाद क्लेश या कषायों का निवारण होता है। इतना होने पर ही सर्वोत्तमज्ञान केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व का लाभ होता है। यही प्रक्रिया वैदिकों के सम्मत योगमार्ग में भी देखी जाती है। क्लेश के निवारण की प्रक्रिया में भी उपशम और क्षय—ये दोनों प्रकार सर्वसम्मत जैसे हैं। उपशम की प्रक्रिया में उपशान्त दोष जब अपना कार्य करना पुनः शुरु करता है, तब पतन होता है और ऐसा पतन क्षय की प्रक्रिया में सम्भव नहीं, यह भी सर्वसम्मत बात है। महायान में और हीनयान में भी क्लेशों के नाश से निर्वाण माना गया है। सर्वज्ञत्व की प्राप्ति निर्वाण के लिए अनिवार्य नहीं।

महायान के अनुसार ज्ञेयावरण का निवारण वही करेगा, जिसे सम्यक्संबुद्ध होना है। अर्हत् के लिए क्लेशावरण का निवारण ही पर्याप्त समझा गया है। किन्तु जैनों में तीर्थंकर हो या सामान्य वीतरागी—दोनों के लिए ज्ञानावरण का निवारण अनिवार्य है। इतना ही नहीं, क्लेशावरण के निवारण के होते ही ज्ञानावरण का निवारण हो ही जाता है और बिना इसके निर्वाण या मोक्ष सम्भव ही नहीं। महायान में ज्ञेयावरण के निवारण का विशेष प्रयत्न अपेक्षित है।

यहाँ इतना ध्यान में लेना जरूरी है कि जैन हो या बौद्ध दोनों में जिन सिद्धान्तों की यहाँ चर्चा की गई है, उनकी व्यवस्था के लिए पर्याप्त समय व्यतीत हुआ है। ये सिद्धान्त प्राथमिक भूमिका में ही स्थिर हो गये हों, ऐसा नहीं है।

जैन और बौद्ध ये दोनों अध्यात्ममार्ग पर बल देनेवाले धर्म हैं। ये दोनों साधना के द्वारा निर्वाण प्राप्ति का मार्ग दिखाते हैं। जैन के मत में आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है, जिसके विविध परिणाम होते हैं; किन्तु बौद्ध धर्म का मानना है कि आत्मा कोई स्वतन्त्र द्रव्य नहीं, किन्तु चित्त की धारा या सन्तति का नाम आत्मा दिया गया है। आत्मा माना जाय या नहीं, किन्तु दोनों ने अनादिकाल से जन्म-परम्परा या संसार का चक्र तो समान भाव से माना है और दोनों का उद्देश्य इस जन्म-परम्परा का निराकरण करना है। आत्मा को द्रव्य मानकर जैन उसके विविध परिणामों के द्वारा पुनर्जन्म और संसार चक्र की घटना समझते हैं और बौद्ध नये-नये चित्तों के उत्पाद या चित्तसन्तान के द्वारा संसारचक्र की उत्पत्ति करते हैं। बौद्धों में एक ऐसा भी सम्प्रदाय हुआ, जो पुद्गल के नाम से आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व मानता था और पुनर्जन्म के चक्र की उपपत्ति करता था। किन्तु आत्मद्रव्य का स्वीकार बौद्धों के द्वारा सम्मत धर्म=धर्मिशून्य केवल धर्म की कल्पना के साथ सङ्गत नहीं होने से उस मान्यता को बल मिला नहीं। फिर भी दूसरे रूप में महायान में आलयविज्ञान के नाम से आत्मा जैसा तत्त्व आ ही गया, जिससे छुटकारा पाना दार्शनिक काल के बौद्धों के लिए कठिन हो गया। जो भी हो, किन्तु जैन-बौद्ध दोनों ने संसारचक्र के काटने के उपायों को मानकर निर्वाण का मार्ग प्रशस्त किया है—इसमें तो सन्देह नहीं है।

व्यावहारिक भाषा में जैन और बौद्ध में अन्तर होने पर भी लक्ष्य की दृष्टि से दोनों एक ही दिशा के यात्री हैं—ऐसा कहा जा सकता है। शास्त्र में जैनों के द्वारा सचेतन पदार्थ के लिए आत्मा या जीव शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु बौद्धों के द्वारा 'सत्त्व' या 'पुद्गल' शब्द का प्रयोग होता है। यहाँ हम दोनों के लिए 'आत्मा' शब्द का ही प्रयोग करेंगे।

मोक्ष की प्राप्ति की योग्यता रखने वाले आत्मा को जैन 'भव्य' संज्ञा देता है और उस योग्यता से शून्य आत्मा 'अभव्य' है। अर्थात् मान्यता ऐसी है कि संसार में जितने भी आत्मा हैं उनमें से कुछ ऐसे भी हैं, जिनका मोक्ष कभी होगा ही नहीं। ऐसी ही मान्यता बौद्धों में भी देखी जाती है। उनके अनुसार आत्मा के दो भेद हैं गोत्र और अगोत्र। गोत्र की तुलना भव्य से और अगोत्र की तुलना अभव्य से है।

जैन और बौद्ध दोनों के अनुसार निर्वाण हो जाने के बाद भवभ्रमण नहीं होता। अर्थात् पुनः जन्म लेने की कोई गुंजाईश नहीं। यदि सभी का निर्वाण हो जाएगा तो संसार आत्मा से रिक्त हो जायगा—इस प्रश्न के उत्तर की तलाश में से या जो जिन या बुद्ध के बताए मार्ग का कभी अनुसरण नहीं करता तो उसकी क्या गति हो? ऐसे प्रश्न के उत्तर की तलाश में से भव्य-अभव्य और गोत्र-अगोत्र की कल्पना का जन्म हुआ होगा—ऐसा सम्भावित है। भव्य और गोत्र में से भी सभी मोक्ष या निर्वाण को प्राप्त होंगे ही—ऐसा भी नियम नहीं है। योग्यता होने पर भी उस योग्यता का कार्यकारी होना अनिवार्य नहीं—ऐसा भी जैन एवं बौद्ध दोनों ने माना है। जैन ऐसे भव्यों को 'दुर्भव्य' कहते हैं और बौद्धों ने उसे आत्यन्तिक अनैर्याणिक बोधिचित कहा है। जबकि निर्वाण प्राप्त करने वालों को नैर्याणिक बोधिचित की संज्ञा दी है। इस कल्पना का मूल अनुभव में है। लोक में देखा जाता है कि बीज में अङ्कुरोत्पादन की योग्यता तो है, किन्तु कारण-सामग्री की प्राप्ति न होने से अङ्कुर होता नहीं है। ऐसी ही बात दुर्भव्य और अनैर्याणिक के लिए कही जा सकती है।

जैनों के अनुसार भव्य जब अपना ध्येय सिद्ध कर लेता है, तब वह केवली होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है। ऐसे केवली के भी दो भेद किये गये हैं—सामान्य केवली और तीर्थङ्कर। सामान्य केवली धर्मशासन की स्थापना नहीं करता, जब कि तीर्थङ्कर धर्मशासन की स्थापना करता है। हीनयानी बौद्धों में भी अर्हत् या प्रत्येक-बुद्ध और बुद्ध ऐसे दो प्रकार की कल्पना है। अर्हत् धर्मचक्र का प्रवर्तन नहीं करता और बुद्ध धर्मचक्र का प्रवर्तन करता है। जैनों ने तीर्थङ्कर को—अर्हत् भी कहा है। महायानी बौद्धों ने अर्हत्त्व प्राप्ति पर भार न देकर बोधिसत्त्व की चर्या पर भार दिया और यह आदर्श उपस्थित किया कि बोधिसत्त्व सम्यक् सम्बुद्ध होना चाहता है, किन्तु जब तक संसार में सभी प्राणियों की मुक्ति नहीं हो जाती, तब तक वह अपना निर्वाण नहीं चाहता। इस प्रकार जैनतीर्थङ्कर या हीनयानी के अर्हत् की अपेक्षा महायानी धर्म में बोधिसत्त्व की ही प्रतिष्ठा बढ़ाई गई है और आग्रह रखा कि बोधिचर्या का आदर्श केवल अपना मोक्ष ही नहीं होना चाहिए, किन्तु समग्र प्राणी की मुक्ति होना चाहिए। यह मन्तव्य हीनयान और जैन दोनों के आदर्श से आगे

बढ़ गया। जैनों के तीर्थङ्कर और हीनयान के बुद्ध—ये दोनों अपने मोक्ष को महत्त्व देते हैं, शासन की स्थापना प्रासङ्गिक है। जैनसम्मत अन्य सामान्य केवली या हीनयान के प्रत्येकबुद्ध शासन की स्थापना नहीं करते, यानी मोक्ष मार्ग का उपदेश नहीं देते और तीर्थङ्कर या बुद्ध मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, इस भेद का यही कारण माना गया है कि साधना के प्रारम्भ में अपने और पर के कल्याण की दृष्टि होना या न होना यह है। किन्तु हीनयानी बुद्ध या जैन तीर्थङ्कर अपना निर्वाण स्थगित नहीं करते या स्थगित करने की भावना भी नहीं रखते, किन्तु महायानी का बोधिसत्त्व अपने निर्वाण के लिए उतावला है ही नहीं। उसने तो समग्र प्राणी की मुक्ति अपना ध्येय बना लिया है। यही दोनों के आदर्श में भेद उपस्थित करता है।

जैन तीर्थङ्कर उपदेशक अवश्य है, किन्तु अन्य के मोक्ष के लिये क्रियाशील नहीं है। हीनयानी बुद्ध की भी यही स्थिति है। जब कि बोधिसत्त्व केवल उपदेश देकर सन्तुष्ट नहीं हो जाता, अपितु प्राणियों के कष्टों का निवारण अपने प्राण गँवाकर भी करना बोधिसत्त्व को इष्ट है और सम्यक्सम्बुद्ध को भी।

बोधिसत्त्व की चर्या में और जैन तीर्थङ्कर की चर्या में इस दृष्टि-भेद के कारण भेद देखा जा सकता है। हीनयानी बुद्ध के पूर्व जन्म की कथाओं में बोधिसत्त्व की चर्या का अर्थात् पारमिताओं की प्राप्ति का जो निरूपण है, वह महायानी बोधिसत्त्व के आदर्श का प्रतिफल है, किन्तु हीनयानी बुद्ध का जो चित्र मूलपिटक से उपस्थित होता है, उसमें जातककथा से फलित होनेवाला बुद्ध जीवन दिखाई नहीं देता, अपितु जैन तीर्थङ्कर के समान उपदेशक प्रधान जीवन दिखाई देता है, बोधिसत्त्व का आदर्श उससे उपस्थित नहीं होता। अर्थात् यह हम कह सकते हैं कि वह यद्यपि दुःखनिवारण का मार्ग दिखलाता है, किन्तु निवारण में सक्रिय नहीं। बोधिसत्त्व या सम्यक् सम्बुद्ध का महायानसम्मत आदर्श तो सक्रिय व्यक्ति उपस्थित करता है। वैसी सक्रिय व्यक्ति बुद्ध की पूर्वजीवन की जातककथा में देखी जाती है, पालिपिटक में अन्यत्र नहीं। यह जातकों में महायान के प्रभाव का द्योतक है।

जैन तीर्थङ्कर और हीनयानी बुद्ध दोनों अपने क्लेश और अज्ञान के निवारण के लिये प्रयत्नशील हैं, फिर भी जातकों के बुद्ध और जैनों के द्वारा तीर्थङ्करचरित में वर्णित पूर्वभवों की कथा द्वारा उपस्थित तीर्थङ्कर में भेद दिखाई देता है। पालिपिटक में मूल में जिस प्रकार बुद्ध की साधना का वर्णन है वह और जैन-आगम मूल तथा बाद के साहित्य में वर्णित पूर्वभवों की तीर्थङ्कर की साधना का वर्णन एक जैसा कहा जा सकता है। दोनों में अपने क्लेश और अज्ञान निवारण का प्रयत्न स्पष्ट है। जैनों ने बाद के साहित्य में बोधिसत्त्व का मार्ग उपस्थित होने

पर भी ध्येय रूप से उसे स्वीकृत नहीं किया और अपने मोक्ष के महत्त्व को कम करके बोधिसत्त्व के सक्रिय मार्ग को नहीं अपनाया, जब कि बौद्धों ने अपने मोक्ष के महत्त्व के साथ पर के दुःखनिवारण के सक्रियमार्ग को अपनाया और तदनुसार ही जातकों की रचना की। सारांश यह है कि हीनयानी बौद्धों ने महायान के आदर्शों को बुद्ध के पूर्वजन्म की कथाओं में ले लिया, किन्तु बुद्ध की अन्तिम भव की कथा में उसका कोई असर होने नहीं दिया। महायान में तो बुद्धचरित की अपेक्षा बोधिसत्त्व का ही चरित बुद्धचरित का स्थान ले लेता है और बुद्ध को तो लौकिक की अपेक्षा अलौकिक ही बना दिया है। इस प्रकार अवतारवाद को प्रश्रय दे दिया है।

जैन तीर्थङ्कर के जो पूर्वभवों के चरित है, उनमें अपने ही क्लेश के निवारण का प्रयत्न स्पष्ट है, किन्तु जो विशेषता देखी जाती है, वह दूसरी ही है। बौद्धों ने चित्त का विश्लेषण करके अभिधर्म लिखा, किन्तु जैनों ने कर्म का विश्लेषण किया और उसका एक स्वतन्त्र शास्त्र बना लिया। कर्मशास्त्र के मूल सिद्धान्त जैसे कर्म, वैसे फल को तीर्थङ्करचरित द्वारा उपस्थित किया। जातकों में बोधिसत्त्व एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपने गुणों का प्रदर्शन करता है, किन्तु जैन तीर्थङ्कर के पूर्वभव की कथा तो ऐसे व्यक्ति को उपस्थित करती है, जो सामान्य मानवी हैं, जिसमें गुण-दोष दोनों हैं, जो अपने दोषों के कारण नाना भव उत्पन्न करता है और अपने कर्म का फल भोगता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वभवों का वर्णन इस दृष्टि को समक्ष रखकर किया गया है कि व्यक्ति छोटा हो या बड़ा, वह अपने कर्म का फल अवश्य पाता है। अतएव साधक को चाहिए कि बुरे कर्मों से बचें, सत्कर्म न हो सके तो अकर्म न करें, किन्तु बुरे कर्म तो करे नहीं। किसी गुण की वृद्धि करके पराकाष्ठा तक पहुँचाना, पारमिता प्राप्त कर लेना—यह जातककथाओं का रहस्य कहा जा सकता है तो तीर्थङ्कर के पूर्वभवों का इतना ही रहस्य है कि तीर्थङ्कर को भी अपने कर्म के फल भोगने पड़ते हैं। किसी खास विशेष गुण की उत्तरोत्तर वृद्धि और पराकाष्ठा कैसे होती है—यह दिखाना तीर्थङ्करचरित के पूर्वभवों का उद्देश फलित नहीं होता। यही कारण है कि बोधिचर्या और तीर्थङ्करचर्या में भी भेद हो गया। जैनों ने आत्मा की उन्नति का क्रम कर्म के क्षय के क्रम से वर्णित किया है, जबकि बोधिचर्या में गुणवृद्धि की ओर ध्यान केन्द्रित है। किन्तु अन्त में जाकर आवरणनिराकरण दोनों में समान रूप से माना गया है।

जैन योगसाधना और बौद्ध योगसाधना में जो मौलिक भेद है, उसका विचार करना जरूरी है। हीनयान की साधना और महायान की साधना में भी भेद है। योग-साधना में जैन और बौद्ध दोनों में जो साम्य है, वह इतना ही कि सम्यग्दृष्टि के बिना योगसाधना में प्रवेश ही नहीं मिल सकता है। मिथ्यादृष्टि का त्याग यह हीनयान,

महायान दोनों बौद्धों की प्रथम शर्त है। मिथ्यादृष्टि का त्याग ही जैनसाधना की भी प्रथम शर्त है। यही सम्यग्दृष्टि एक ऐसी है, जो दोनों के अनुसार जन्मजन्मान्तर में साथ रह सकती है। उसके बाद की जितनी भी योग्यता सम्यक्संबोधि के लिए बौद्धों ने और केवलज्ञान के लिए जैनों ने मानी है, उसके विषय में बौद्धों की मान्यता है कि वह योग्यता कई जन्मजन्मान्तरों में प्राप्त हो सकती है, उनका विकास भी कई जन्मजन्मान्तरों में हो सकता है। जब कि जैनों का मानना है कि सम्यग्दृष्टि के अलावा जो भी योग्यता प्राप्त की हो, यदि अपने ध्येय तक पहुँचने के पहले मृत्यु हो जाए तो वह समाप्त हो जाती है तथा नये जन्म में नये सिर से उस योग्यता की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है।

जैन-बौद्ध दोनों की तत्त्व-व्यवस्था में भी भेद है। अतएव ध्यान का विषय भी भिन्न हो जाता है। इतना ही नहीं, जैनों में ध्यान की पराकाष्ठा में वस्तु का साक्षात्कार होता है तो महायानी और हीनयानी दोनों बौद्धों में वस्तु का प्रतिभास ध्यान की पराकाष्ठा में स्थान ही नहीं पाता।

इस प्रक्रियाभेद के कारण जैन और बौद्ध द्वारा मान्य साधना के सोपानों में भेद पड़ जाता है। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि प्रथम क्लेशावरण का दूर होना और बाद में ज्ञानावरण या ज्ञेयावरण का दूर होना इस मान्यता में जैन और बौद्धों का ऐकमत्य है। अर्थात् यह कहा जा सकता है कि बिना क्लेश के दूर हुए विशुद्धतम ज्ञान का लाभ सम्भव नहीं; यह मान्यता दोनों की समान है और यहाँ आकर समग्र भारतीय योगपरम्परा का भी ऐककत्य है।

• • •

श्रमण संस्कृति में योगसाधना

डॉ० भागचन्द्र जैन भास्कर

साधना रहस्यवाद की भूमिका पर आधारित एक वैयक्तिक उपलब्धि है। संसार का यथार्थवादी दृष्टिकोण उसकी सीमा है और आदर्श उसकी चरम परिणति है। साधक निरासक्त भाव से उस चरम परिणति की साधना करता है। यही उसका मूल उद्देश्य है। यही उसकी चरम साधना है।

हर व्यक्ति गलत या सही ढंग से किसी न किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध रहता है। अतः साधक अवस्था में उसकी साधना भी उसी सम्बद्ध सम्प्रदाय अथवा धर्म द्वारा निर्दिष्ट पथ-चिह्नों का अनुकरण करती है। प्रस्तुत निबन्ध की सीमा श्रमण संस्कृति में उपलब्ध योग-साधना का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनकी वस्तुनिष्ठ समीक्षा प्रस्तुत करना है। विशेष रूप से जैन एवं बौद्ध साधनाओं को हमने अपने अध्ययन का विषय बनाया है। दोनों साधनाएँ दो पृथक् विषय हैं और उनकी समीक्षा उनके अतिरिक्त। इतने अल्पकाय निबन्ध में उन सभी का समुचित समावेश और परिचर्चा सम्भव नहीं। अतः हम समास पद्धति से उनका मात्र अवलोकन कर सकेंगे।

श्रमण संस्कृति की मूलभूत विशेषताएँ सम (समानता), शम (शान्ति-कर्मक्षय) एवं श्रम (स्वयं का परिश्रम, ईश्वर विशेष का प्रसाद रूप नहीं) पर आधारित हैं। इसलिए इस संस्कृति से सम्बन्धित जो भी शाखाएँ हैं, प्रायः सभी की भूमिकाएँ इन तीन गुणों पर केन्द्रित दिखाई देती हैं। सुत्तनिपात[१] में श्रमण साधुओं के चार भेद वर्णित हैं—मग्गजिन, मग्गदूसिन, मग्गदेसिन और मग्गजीविन्। सम्भव है, ये भेद श्रमण साधु की प्रकृति पर आधारित हों। जैनाङ्ग ठाणाङ्ग[२] में श्रमण परम्परा के पाँच भेद निर्दिष्ट हैं—निगण्ठ, सक्क, तावस, गेरुय और आजीव। इन परम्पराओं में जैन और बौद्ध परम्पराएँ ही जीवित हैं। शेष परम्पराओं का साहित्य भी उपलब्ध नहीं। पालि त्रिपिटक[३] एवं जैनागम[४] में क्रमशः ६२ और ३६३ मिथ्या-दृष्टियों का वर्णन मिलता है। उनमें श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित कितनी दृष्टियाँ हैं,

---

१. सुत्तनिपात, ८३–८४।
२. ठाणाङ्ग, पृ० ९४९।
३. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त।
४. सूयगडङ्ग प्रथम अध्ययन।

यह अन्वेषणीय है। उमास्वामी ने विभिन्न वादों के वर्णन के प्रसङ्ग में बौद्धधर्म का प्रतिनिधित्व मौद्गल्यायन द्वारा कराया है।[1]

समस्त कर्मों से मुक्ति प्राप्त करना ही मूल साधना है। अतः साधना और धर्म समानार्थक बन जाते हैं। योग और समाधि भी लगभग इसी अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। योग शब्द युज्-धातु से जोड़ने के अर्थ में निर्मित हुआ है, जिसका अर्थ है चित्त-चैतसिक क्रियाओं को केन्द्रित करना। यही समाधि है। हरिभद्र ने योग को मुक्ति का मार्ग माना है।[2] इसके पूर्व भी योग शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया जाता था।[3] आत्मा के साथ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र का सम्बन्ध होना ही योग है, निश्चय दृष्टि है। इसकी प्राप्ति के लिए धर्मशास्त्रोक्त विधि के अनुसार गुरु का विनय, परिचर्या आदि करना और यथाशक्ति विधि-निषेधों का पालन करना, व्यवहार करना योग है।[4] पालि साहित्य में भी सच्चक निगण्ठ के माध्यम से जैन योग साधना का निर्देश हुआ है।

बौद्ध साधना में भी योग का सम्बन्ध समाधि के साथ जोड़ा गया है। मूल पालि त्रिपिटक में इस शब्द का उपयोग इस अर्थ में प्रायः नहीं मिलता। अरियपरियेसेनसुत्त (मज्झिमनिकाय) में आलार कालाम और उद्दकरामपुत्त की योग साधना का वर्णन अवश्य है पर बुद्ध ने उसे अनुपयोगी मानकर छोड़ दिया। बाद में उसका सुसम्बद्ध रूप मिलने लगा। धम्मपद की "योगा वे जायति भूरि, अयोगा भूरि सङ्खयो" गाथा (२८२) इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसकी टीका में कर्मस्थानों के अड़तीस प्रकारों पर चिन्तन करने को योग कहा है—"तत्थ योगा ति अट्ठतिंसाय आरम्मणेसु योनिसो मनसिकारो।"[5] संयुत्तनिकाय, मज्झिमनिकाय, अङ्गुत्तरनिकाय एवं विनयपिटक में भी यह शब्द इसी अर्थ में आया है। थेरवाद साहित्य में योग शब्द का पारिभाषिक प्रयोग ध्यान करने के अर्थ में अधिक नहीं किया गया, परन्तु टीका साहित्य में योगी एवं योगाचार शब्द Meditation के अर्थ में अनेक बार आया है।

बौद्ध साहित्य में योग के अतिरिक्त समाधि, चित्तेकग्गता, चेतोसमाधि, जड़पान, पधान, कम्मट्ठाण, आरम्मण, निमित्त, अभिञ्ञा, समापत्ति, विमोक्ख, अभि-

१. तत्त्वार्थराजवार्त्तिक, १.२०।
२. मुक्खेण जोयणाओ जोगो सब्बो विधम्मवायारो—योगविंशिका, का० १।
३. कायवाङ्मनःकर्मयोगः, तत्त्वार्थसूत्र, ६.१।
४. योगशतक, २–५; योगशास्त्र, १.१३–१८।
५. धम्मपदट्ठकथा, ३, पृ० ४२१।

आयतन आदि शब्दों का भी प्रयोग योग-साधना के सन्दर्भ में हुआ है। इनमें समाधि शब्द अधिक प्रचलित है। भगवान् बुद्ध ने अभिसम्बोधिकाल में "सम्मा समाधि" प्राप्त की थी। मज्झिमनिकाय व धम्मसंगणि में इसका अर्थ चित्त की एकाग्रता (चित्तस्स एकग्गता) किया गया है। विसुद्धिमग्ग में समाधि का विस्तृत वर्णन मिलता है।

जैनाङ्ग नायाधम्मकहाओ में चित्तस्वास्थ्य को समाधि कहा है।[1] तीर्थङ्कर नामकर्म के बन्धहेतुओं में समाधि भी एक हेतु है।[2] समाधि के माध्यम से साधक नाना शरीरों का निर्माण करता है, जो अपवर्ग की प्राप्ति में कारण होते हैं।[3] समाधि, चारित्र, योग, साधना और ध्यान समानार्थक हैं। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। यह योग शुभ रूप और अशुभ रूप होता है। प्रवचनसार में आत्मा के सन्दर्भ में उपयोग शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसे हम योग की कोटि में रख सकते है। उपयोग के तीन भेद किये गये हैं—शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग। श्रमण भिक्षु के लिये शुद्धोपयोगी होना बताया है। तभी वह मोक्षदायी हो सकता है। योगी श्रमण सुख-दुःख में समभावी हो, संयम-तप से संयुक्त हो और वीतरागी हो। वह श्रमण आश्रव एवं बन्धहीन होता है। उसे पुण्य का भी बन्ध नहीं होता।[4] सावद्ययोग और निरवद्ययोग ये दो भेद भी योग के हैं।

इस प्रकार जैनधर्म में योग का अर्थ प्रवृत्ति, सम्बन्ध अथवा भावों से लिया गया है। बाद में योग का उपयोग मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को संयमित करने के अर्थ में हुआ। इस तरह से संयमन करने वाले को योगी कहा गया है। धनञ्जय-नाममाला में ऋषि, मुनि, यति, भिक्षु, तापस, संशित, व्रती, तपस्वी, संयमी, वर्णी और साधु योगी के समानार्थक माने गये हैं। आत्मस्वरूप में अवस्थित होने को समाधि कहा है—"आत्मरूपे स्थीयते जलभृतघटवत् निश्चलेन भूयते स समाधिः।"[1]

१. अभयदेव टीका, ८.६९। २. नायाधम्मकहाओ, ८.२।
३. तत्त्वार्थश्लोकवार्त्तिक, पृ० ६६।
४. कायवाङ्मनःकर्मयोगः, तत्त्वार्थ०, ६.१; स आश्रवः, शुभः पुण्यस्य, अशुभः पापस्य, वही ६.२-४।
५. जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सब्बदब्बेसु।
णासवदि सुहं असुहं सम सुहदुक्खस्स भिक्खुस्स॥ (पञ्चास्तिकाय २.१४२)

सिद्धसेन ने स्वस्थता एवं निरुपद्रवता के उत्पादन के अर्थ में समाधि का प्रयोग किया है।

योग और समाधि को समान अर्थ में प्रयोग करने के उपरान्त तीर्थङ्करों और ऋषियों को योगी मानकर वन्दना की जाने लगी। समन्तभद्र (स्वयम्भूस्तोत्र, पृ०७३) पूज्यपाद (संस्कृत योगभक्ति ८ वाँ पद्य) आदि आचार्यों ने ऐसे ही योगियों को नमस्कार किया है। जिनसेन ने तीर्थङ्करों को योगी, महायोगी, योगीन्द्र आदि विशेषणों से अभिहित किया है (आदिपुराण २.६५)। हरिभद्र व हेमचन्द्र ने महावीर को योगिनाथ कहकर वन्दना की है।[1]

जैनयोग का रूप सिन्धु घाटी के उत्खनन में प्राप्त योगी की प्रतिकृति में देखा जा सकता है। पालि साहित्य जैन साधुओं की कठोर तपश्चर्या का वर्णन मिलता है। भगवान् बुद्ध ने उनके कर्मक्षीण करने के प्रकार का भी स्पष्ट समर्थन किया था। आजीवक और अन्य श्रमण सम्प्रदाय भी इस दुश्चर तप में किसी न किसी प्रकार संलग्न दिखाई देते हैं।

योग तीन प्रकार का है— ज्ञानयोग, इच्छायोग और क्रियायोग। योगविन्दु में इसकी अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिसंक्षय ये पाँच भेद किये गये हैं। योगदृष्टिसमुच्चय में मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये आठ दृष्टियाँ कही गयी हैं। योगविंशिका (विंशतिविंशिका) प्रकरण में स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन, निरालम्बन आदि योगों का वर्णन है। इन सभी में प्रकृष्ट कोटि के वृत्तिसंक्षय आदि योग महायोग कहे जाते हैं। इन सभी की मूल भावना है—चित्त-वृत्ति का निरोध। यह भावना वैदिक दर्शन के साथ ही जैनदर्शन और बौद्धदर्शन में समान रूप से अभिहित हुई है।

जैन और बौद्ध, दोनों साधनाओं का योग-समाधि अथवा चारित्र से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अब इनका संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन हम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र नामक तीन शीर्षकों के माध्यम से करेंगे, जो दोनों साधनाओं को स्वीकृत हैं।

१. सम्यग्दर्शन और योगसाधना

प्रारम्भ से ही जैन और बौद्ध साधना अनुभववादी रही हैं। प्रत्यात्मसंवेद्य बिना कोई भी सिद्धान्त मननीय नहीं। सम्यग्ज्ञान (प्रज्ञा)-पूर्वक तर्क की समुचित

१. जिनसहस्रनाम, आशाधर, ६.७२ की श्रुतसागरीय टीका।

प्रतिष्ठा वहाँ देखी जाती है। सर्वज्ञता की प्राप्ति उसका लक्ष्य है। सम्यग्चारित्र अथवा शील का पालन उस प्राप्ति का साधन है। सम्यग्दर्शन अथवा समाधि उसकी आधार-शिला है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र उसका बाधक है। उस बाधा को दूर करना साधना का परम लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की प्राप्ति आधारभूत मानी गई है।

सम्यग्दर्शन आत्मा की विशुद्ध अवस्था का प्रतीक है। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।[1] धर्म का मूल भी यही है। दया, विनय, सदाचार आदि गुणों की उत्पत्ति सम्यग्दर्शन पूर्वक होती है।[2] विशुद्ध श्रद्धा अथवा आत्मविश्वास भी इसे कहा जा सकता है। सम्यग्दर्शन नैसर्गिक और आधिगमिक होता है। नैसर्गिक का तात्पर्य है कर्मों की स्थिति विगलित हो जाना तथा परोपदेश के बिना ही तत्त्वरुचि जाग्रत होना। आधिगमिक सम्यग्दर्शन में श्रवण, मनन, अध्ययन अथवा परोपदेश से सत्य का साक्षात्कार होता है।

जैन साधना आत्मप्रधान है। आत्मसिद्धि उसकी मूल भावना है। मानवता का अधिकाधिक संरक्षण करना उसका परम पुनीत प्राथमिक धर्म है, कर्तव्य है। धर्म वह है, जो आत्मा को कर्म-मल से दूर कर दे।[3] ज्ञानार्णव में ऐसे धर्म को नमस्कार किया गया है, जो जगत् को पवित्र करे, संसार के प्राणियों का उद्धार करे, दयामूलक हो, और सुखप्रदायी हो।[4] वह धर्म दो प्रकार का है—संयम रूप और तप रूप। संयम से कर्मों का आश्रव-निरोध होता है और तप से सञ्चित कर्मों का विनाश होकर आत्मा की शुद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है।

संजमएण भन्ते, जीवे किं जणयइ ? संजमएण अणण्हयत्तं जणयइ। तवेणं भन्ते, जीवे किं जणयइ ? तवेणं जणयइ॥[5]

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि साधक आत्मा के विभिन्न स्वरूपों को पहचाने। जैन संस्कृति में आत्मा के तीन रूप हैं—बहिरात्मा, अन्त-

१. तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्, मोक्षशास्त्र, १.१।
२. नादंसणिस्स नाणं, नाणेन विना न हुंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो नत्थि अमोक्खस्स निब्बाणं॥— उत्तराध्ययन सूत्र, २८.३०।
३. एवं चयरित्तकरे चारित्तं होइ अहिये, उत्तरा, २८. ३३।
४. पवित्रोक्रियते येन येनेवोद्ध्रियते जगत्।
नमस्तस्मै दयार्द्रस्य धर्मकलाङ्घ्रिपाय वै॥ ज्ञानार्णव, १०. १।
५. उत्तराध्ययन, २९. २६–२७।

रात्मा और परमात्मा। प्रथम स्थिति में साधारणजन आत्मा और शरीर को एक द्रव्य मानकर परपदार्थों में मोहित बना रहता है। उसके संसरण का यही मूल कारण है।[1] द्वितीय स्थिति में यह मोहबुद्धि दूर हो जाती है।[2] इस अवस्था में साधक आत्मा के मूल स्वरूप को पहचानने लगता है और मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य भावनाओं को करते हुए शत्रु-मित्र में, मान-अपमान में, लाभ-अलाभ में, लोष्ठ-काञ्चन में समदृष्टिवान् हो जाता है। तदनन्दर वह निर्मल, केवल, शुद्ध, विविक्त, अक्षय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।[3]

पूर्ण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए उसके आठों अङ्गों का धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। ये आठ अङ्ग हैं—निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना। इनकी प्राप्ति में जो बाधक तत्त्व हैं, उनकी संख्या पच्चीस है—तीन मूढतायें—लोकमूढता, देवमूढता और पाखण्डि-मूढता; आठ मद—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और वपु; छः अना-यतन—कुदेव, कुमत, कुशास्त्र, कुतप, कुशास्त्रज्ञ और कुलिङ्ग का सेवन। इसके सेवन से भवचक्र में अभिवृद्धि होती है तथा मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र को बल मिलता है।

सम्यग्दर्शन के दो भेद हैं-सराग और वीतराग। जो सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन चार गुणों के साथ व्यक्त होता है, वह सराग सम्यक्त्व है और जो केवल आत्मा की निर्मल विशुद्धि को धारण करता है, वह वीतराग सम्यक्त्व है।[4] क्षणिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक ये तीन भेद भी सम्यग्दर्शन के हैं। दश भेद भी है—आज्ञा, मार्ग, उपदेश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ अवगाढ़ एवं परमावगाढ़। अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु ये पञ्चपरमेष्ठी माने गये हैं। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बिना परमेष्ठी पद अथवा तीर्थङ्करत्व की प्राप्ति नहीं होती। अजर, अमर, अक्षय, अव्याबाध, निर्भय तथा अनन्तज्ञान-सुख रूप निर्वाण की प्राप्ति का भी सम्यग्दर्शन ही कारण है।

बौद्धधर्म में सम्यग्दर्शन के ही समानान्तर में सम्मादिट्ठि को स्वीकार किया है। चतुरार्यसत्यों को समझना ही सम्मादिट्ठि है।[5] उसके बिना मुक्ति-प्राप्ति सम्भव नहीं। भगवान् बुद्ध ने कहा था, भिक्षुओं! जिस समय आर्यश्रावक दुराचरण को

---

१. ज्ञानार्णव, ३२. ६. समाधिशतक १५। २. तत्त्वार्थसूत्र, ७. ११;
३. समाधिशतक, ६। ४. यशस्तिलकचम्पू, अध्याय ६, पृ० ३२२।
५. सम्मादिट्ठिसुत्तन्त (मज्झिमनिकाय), १।१।९।

पहचान लेता है, दुराचरण के मूल कारण को जान लेता है, सदाचरण को पहचान लेता है, तब उसकी दृष्टि सम्यक् कहलाती है।[1] सांसारिक दुःखों की प्रकृति को जानते हुए सत्कायदृष्टि, आत्मवाद आदि सिद्धान्तों से विरक्त होना इसका फल है। इसीसे समभाव प्राप्त हो जाता है।

जैनधर्म आत्मवादी धर्म है, परन्तु बौद्धधर्म में आत्मा के अस्तित्व को सांवृतिकसत्य की दृष्टि से स्वीकार किया गया है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह चार्वाक के समान शुद्ध भौतिकवादी है। आत्मा को अस्वीकृति के पीछे बौद्धधर्म का उद्देश्य यह था कि व्यक्ति तत्सम्बन्धी विवादों में ही न उलझा रहे। परन्तु उत्तरकाल में बौद्धधर्म पूर्ण निरात्मवादी बन गया। आत्मा की अस्वीकृति से उपस्थित होनेवाले प्रश्नों का समाधान कर्म की स्वीकृति से किया गया। भगवान् बुद्ध ने कम्मदायाद होने का उपदेश दिया ही था। मिथ्यादर्शन, मिच्छादिट्ठि, अविद्या, राग, द्वेष, मोह, तृष्णा आदि शब्द ऐसे हैं, जिनपर दोनों धर्मों में प्रायः समान रूप से विचार किया गया है। सांसारिक दुःख रूपी जटा को विघटित करने के लिए बुद्ध ने शील, प्रज्ञा और समाधि का पालन करना आवश्यक बताया है।[2] विवेचन करते समय बुद्धघोष ने इस क्रम को बदलकर शील, समाधि और प्रज्ञा का क्रम कर दिया। यहाँ शील और समाधि जैनधर्म के सम्यग्चरित्र के समान है, प्रज्ञा सम्यग्ज्ञान का नामान्तरण है और अट्ठङ्गिकमग्ग का प्रथम भेद सम्मादिट्ठि सम्यग्दर्शन के समान है। काङ्क्षावितरणविशुद्धि के ज्ञान को सम्मादस्सन कहा भी है। इसी को यथाठितिञाण और यथाभूतञाण कहा है। यही सम्यग्दर्शन है। बौद्ध-साधना में सम्मादिट्ठि का विवेचन उतना सूक्ष्म और गहन नहीं, जितना जैन साधना में सम्यग्दर्शन का विवेचन उपलब्ध होता है।

२. सम्यग्ज्ञान और योगसाधना

साधक की दूसरी साधना है सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति। अनादि काल से यह जीव मोहनीय कर्म के उदय से संसार में संसरण कर रहा है और सम्यग्ज्ञान के बिना उसका तप निरर्थक-सा हो रहा है। परन्तु जिस प्रकार सुहागा और नमक के जल से संयुक्त होकर स्वर्ण विशुद्ध हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी निर्मल जल से यह

---

१. बुद्धवचन, पृ० २१।
२. सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो चित्तं पञ्ञञ्च भावयं।
आतापी निपको भिक्खु सो इमं विजटये जटं॥
विसुद्धिमग्ग० पृ० १, संयुत्तनिकाय, १।३।३

जीव भी शुद्ध हो जाता है।[1] जीव और अजीव के पार्थक्य को समझना ही सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञानी जीव राग, द्वेष, मोह आदि दोषों से रहित हो जाता है।[2] इस अवस्था में उसे त्रिकालवर्ती पदार्थ युगपत् प्रतिबिम्बित होने लगते हैं। यही युगपत् प्रतिबिम्बन योगिजनों का लोचन है।[3]

जैनधर्म में कर्म के क्षय-क्षयोपशमादि के निमित्त से ज्ञान के पाँच भेद बताए गये हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यायज्ञान और केवलज्ञान। प्रमाद को क्षीण करने वाले, क्लेशों को जीतने वाले, निष्परिग्रही एवं स्थिर चित्त वाले योगिगण ज्ञान की चरम साधना रूप केवलज्ञान की प्राप्ति के लिए तपश्चर्या करते हैं। अज्ञानपूर्वक तप संसार-बन्धन का ही कारण है।

बौद्धधर्म में इसी सम्यग्ज्ञान को प्रज्ञा कहा है। धर्म के स्वभाव का विशिष्ट ज्ञान प्रज्ञा है–धम्मसभावपटिवेधलक्खणा पञ्ञा। मोहान्धकार का नाश करना इसका कृत्य है।[4] यहाँ प्रज्ञावान् साधक की स्थिति को बड़े सुन्दर ढंग से समझाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार एक अबोध बालक कार्षापण को उपभोग-परिभोग का साधन न मानकर एक चित्र-विचित्र रूप मात्र मानता है। ग्रामीण व्यक्ति उक्त दोनों बातों को जानता है, पर यह नहीं जानता कि यह कार्षापण खोटा है अथवा चोखा है, परन्तु एक हेरञ्ञिक (सराफ) उन सभी प्रकारों को जानता है। रूप, रस, गन्ध, शब्द व स्पर्श से संयुक्त अथवा पृथक् रूप से कार्षापण के गुण-अवगुण को सही रूप में समझता है। प्रज्ञावान् भी ऐसा ही होता है। वह विशिष्ट रूप से विशिष्ट आकार को विविध प्रकार से जानता है।[5] प्रज्ञा का सञ्ञा और विञ्ञाण से अधिक वैशिष्ट्य है। जैनदर्शन की परिभाषा में इन तीन श्रेणियों को अज्ञान, ज्ञान और सज्ज्ञान अथवा विषयप्रतिभास, आत्मपरिणामी तथा तत्त्वसंवेदन कहा जा सकता है।[6]

प्रज्ञा के भेद विभिन्न आधारों पर किये गये हैं। धर्म के स्वभाव के प्रतिवेध स्वरूप से वह एक प्रकार की है, लौकिक और लोकोत्तर के भेद से, अथवा साश्रव-अनाश्रव, नाम-रूप की व्यवस्था से, सौमनस्य-उपेक्षायुक्त होने से एवं दर्शन-भावना की भूमि से दो प्रकार की है। चिन्ता, श्रुत, और भावना से तीन प्रकार की है। परित्त, महद्गत व अप्रमाण से तथा आय, अपाय, और उपायकौशल्य से भी तीन प्रकार की है। चार आर्यसत्यों के ज्ञान और चार प्रतिसम्भिदा के ज्ञानभेद से चार

१. जह कच्चणं विसुद्धं धम्मइयं खडियलवणलेवेण।
सह जीवो वि विसुद्धं णाणविसलिलेण विमलेण॥ षट्प्राभृत, ६,९

२. वही, २.३८। ३. ज्ञानार्णव, ७.२। ४. विसुद्धिमग्ग, १४, पृ० ३०५।
५. वही, पृ० ३०४। ६. द्वात्रिंशिका ६, श्लोक २-५।

प्रकार की है। स्कन्ध, आयतन, धातु, इन्द्रिय, सत्य, प्रतीत्यसमुत्पाद आदि प्रज्ञा की धर्मभूमि है। शीलविशुद्धि और चित्तविशुद्धि ये दो विशुद्धियाँ मूल हैं। दृष्टिविशुद्धि, कांक्षावितरणविशुद्धि, मार्गामार्गदर्शनविशुद्धि, प्रतिपदाज्ञानदर्शनविशुद्धि, और ज्ञान-दर्शनविशुद्धि ये पाँच विशुद्धियाँ शरीर हैं। इसलिये प्रज्ञावान् व्यक्ति के लिये उन भूमिभूत धर्मों में उद्ग्रहण (अभ्यास) करना चाहिये। यह अभ्यास परिपृच्छानुसार ज्ञानप्राप्तिपूर्वक दो मूल विशुद्धियों तथा शरीरभूत पञ्चविशुद्धियों पर आधारित भावना से है। इन भावनाओं से सन्मार्ग और असन्मार्ग का भेदज्ञान हो जाता है। साधक के लिए इसी भेदविज्ञान की आवश्यकता होती है।

भेदविज्ञान के बाद साधक को विपस्सनायुक्त उदयव्ययानुपश्यना, भङ्गानुपश्यना, भयतोपस्थान, आदीनवानुपश्यना, निर्वेदानुपश्यना, मुञ्चितुकम्यता, प्रतिसंख्यानुपश्यना और संस्कारोपेक्षा ये आठ ज्ञान होते हैं। साथ ही प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोमात्मक ज्ञान भी होता है, इसे प्रतिपदाज्ञानदर्शन विशुद्धि कहते हैं। पश्चात् यह विशुद्धि उसे स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् इन चार मार्गों की प्राप्ति की ओर अग्रसर करती है। इस बीच साधक चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक्प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पञ्चेन्द्रिय, पञ्चबल, सप्तबोध्यङ्ग और अष्टाङ्गिक मार्ग रूप सैंतीस बोधिपाक्षिकधर्मों की प्राप्ति करता है। तदनन्तर उसके संयोजन, क्लेश, मिथ्यात्व, लोकधर्म, मात्सर्य, विपर्यास, ग्रन्थ, अगति, आश्रव, नीवरण, परामर्श, उपादान, अनुशय, मल, अकुशलपथ आदि का प्रहाण होता है, जिससे उसे सर्वक्लेशों का विध्वंस करने एवं आर्यफल का अनुभव करने की क्षमता पैदा हो जाती है। अनित्य, दुःख और अनात्म का ज्ञान होने पर विपस्सना का प्रादुर्भाव होता है। यही विपस्सना प्रज्ञा का मार्ग है। इसी को लोकोत्तर समाधि कहते हैं।

दिव्यचक्षु, दिव्यश्रोत्र, चेतःपर्यायज्ञान, पूर्वानुस्मृतिज्ञान, च्युत्युत्पादज्ञान और आश्रवक्षयज्ञान इन छह ज्ञानों को बौद्धधर्म में षडभिज्ञा कहा है। चेतःपर्यायज्ञान जैनधर्म का मनःपर्यायज्ञान है, पूर्वानुस्मृति व च्युत्युत्पादज्ञान जैनधर्म का अवधिज्ञान है, एवं शेष ज्ञानों की तुलना केवलज्ञान से की जा सकती है। जैनधर्म की अपेक्षा बौद्धधर्म में प्रज्ञा का वर्णन अधिक सरल और आकर्षक लगता है।

३. सम्यग्चारित्र और योगसाधना

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधक योगी को सम्यग्चारित्र का परिपालन अपेक्षित है। सम्यग्चारित्र के बिना उसका दर्शन-ज्ञान निरर्थक है।[1] तीनों का समन्वयात्मक रूप ही मुक्ति का मार्ग है।[2] सम्यक्त्वरहित को ज्ञान नहीं

१. षट्प्राभृत, ६.५। २. तत्त्वार्थसूत्र, १.१।

होता और ज्ञान के बिना चारित्र के गुण नहीं आते। सम्यग्चारित्ररहित व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त नहीं होता और बिना मुक्त हुए निर्वाण प्राप्त नहीं होता।[1] समस्त पाप-क्रियाओं को छोड़कर, परपदार्थों में रागद्वेष को दूर कर, उदासीन और माध्यस्थ्य भाव की अङ्गीकृति सम्यग्चारित्र है।[2]

सम्यग्चारित्र दो प्रकार का है—एक सर्वदेशविरति अथवा महाव्रत, जिसे मुनि पालन करता है और दूसरा एकदेशविरति अथवा अणुव्रत, जिसे श्रावक ग्रहण करता है। मुनि और श्रावक के लिए बारह प्रकार के व्रत निर्दिष्ट हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत तथा सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभागव्रत। श्रावक इन बारह अणुव्रतों को पालता हुआ आध्यात्मिक उत्कर्ष करता जाता है और तदर्थ वह दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषध, सचित्तत्याग, रात्रिभोजनत्याग, ब्रह्मचर्य, आरम्भत्याग, परिग्रहत्याग, अनुमतित्याग एवं उद्दिष्टत्याग इन ग्यारह प्रतिज्ञाओं का क्रमशः यथाशक्ति पालन करता है। इन्हें प्रतिमा कहा गया है।

इसके बाद की अवस्था मुनिव्रत धारण करने की हैं। मुनि उक्त बारह महाव्रतों व ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण और उत्सर्ग इन पञ्चसमितियों का पालन, पञ्चेन्द्रियों पर विजय प्राप्ति, समता, चतुर्विंशति स्तवन, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन षडावश्यकों का पालन करता है। इनके अतिरिक्त केशलुञ्च, अस्नान, भूशयन, स्थितिभोजन, अदन्तधावन, और एक भक्त (दिन में एक बार भोजन करना) इन सात गुणों का भी अधिकारी होता है।

इस ढङ्ग से योगी साधक अपनी आत्मा का क्रमिक विकास करता है। जैनधर्म में इसे गुणस्थान कहा गया है। इसके चौदह भेद हैं[3]—मिथ्यादृष्टि, सासादन, सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, देशसंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरणसंयत, अनिवृत्तिकरणसंयत, सूक्ष्मसाम्पराय, उपशान्त मोह, क्षीण मोह, सयोग केवली और अयोग केवली। इन गुणस्थानों को पार करने पर योगी साधु मुक्त अथवा सिद्ध हो जाता है।

सिद्ध होने के लिए साधक को सप्ततत्त्वों का परिज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान-दर्शन रूप जीव अथवा आत्मा चेतन, सुख दुःख का कर्ता, भोक्ता, देहप्रमाण, अनादिनिधन व अमूर्त्त है। कर्मों के कारण से यह जीव संसरण करता है। संसरण के मुख्य कारण हैं—अष्टकर्म तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

१. उत्तराध्ययन, २८.३०। २. पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३०।
३. श्वेताम्बरपरम्परा में गुणस्थान के १४ भेद माने गये हैं।

इन कारणों का निरोध करने के लिए पूर्वकथित धर्मों के अतिरिक्त साधक मन, वचन और काय इन तीनों योगों का निग्रह करता है। उत्तमक्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य इन दस धर्मों का पालन करता है। क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नाग्न्य, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शयन, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन इन बाईस परीषहों को सह्य करता है, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन द्वादश अनुप्रेक्षाओं का चिन्तन करता है। सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार-विशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्र का पालन करता है। अवमोदर्य, उपवास, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, कायक्लेश व विविक्त शय्यासन इन छः तपों को तथा स्वाध्याय, प्रायश्चित, वैयावृत्य, व्युत्सर्ग, विनय और ध्यान इन छः प्रकार के अन्तः तपों को करता है। इनके करने से मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भावनाओं को भाते हुए साधक बहिरात्मा व अन्तरात्मा का ध्यान करते हुए परमात्मा बन जाता है। बौद्ध साधना में इस विकास को स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् पद प्राप्ति के रूप में दिखाया है।

परमपद की प्राप्ति के लिए जैन साधक समाधि का अवलम्बन लेता है। चित्त की एकाग्रता समाधि है।[1] सूत्रकृताङ्ग में समाधि के दश भेद कहे गये हैं, जो पञ्चव्रत और पञ्चसमिति से मिलते-जुलते हैं। इसी को योग कहा जा सकता है। योगविन्दु में योगफल की प्राप्ति के पाँच सोपान बतलाये गये हैं।

१. व्रतादि के माध्यम से कर्मों पर विजय पाना
२. भावना-प्राप्ति
३. ध्यान-प्राप्ति
४. समता-प्राप्ति, और
५. सर्वज्ञत्व की प्राप्ति

योग का मुख्य लक्ष्य सम्यग्दृष्टि को प्राप्त करना है। इस दृष्टि का विकास योगदृष्टिसमुच्चय में आठ तरह से दिया गया है—मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा,

१. सर्वार्थतैकाग्रतपोः समाधिस्तु क्षयोदयौ।
तुल्यावेकाग्रता शान्तोदितौ च प्रत्ययाविह॥
अभिधानराजेन्द्रकोष खण्ड ७. पृ० ४२०

कान्ता, प्रभा और परा। योगी को इस विकास तक पहुँचने के लिए तीन स्थितियों को पार करना पड़ता है—

१. इच्छायोग (प्रमाद के कारण योग में असावधान हो जाना)

२. शास्त्रयोग (शास्त्र का योग-प्राप्ति में अनुसरण करना),

३. सामर्थ्य योग (शास्त्रयोग की प्राप्ति के बाद आत्मा की विकसित शक्ति)

उक्त आठ दृष्टियों की तुलना यम, नियमादि से की जा सकती है। ये दृष्टियाँ क्रमशः खेद, उद्वेग, क्षेप, उत्थान, भ्रान्ति, अन्यमुद्, रुक् एवं असङ्ग से रहित हैं और अद्वेष, जिज्ञासा, सुश्रूषा, श्रवणबोध, मीमांसा, परिशुद्धि, प्रतिपत्ति व प्रकृति सहगत हैं। ऋद्धि-सिद्धि आदि की प्राप्ति योग व समाधि के माध्यम से ही होती है।

योगी साधक जैसे-जैसे विकास करता जाता है, वैसे-वैसे उसे अन्तः-बाह्य जीवन में विविध सिद्धियाँ स्वभावतः प्राप्त होती जाती हैं। जैन वाङ्मय में अणिमा, महिमादि सिद्धियों का उल्लेख है। आमोसहि आदि २८ लब्धियों का भी विस्तृत विवेचन मिलता है। आमोसहि, विप्पोसहि, खेलोसहि, जल्लमोसहि, सम्भिन्नसोय, उजुमह, सब्बोसहि, चारण, आसीविस, केवली, मणनाणिणों आदि लब्धियाँ प्रमुख हैं। बौद्ध परम्परा में लब्धियों के स्थान पर पडभिज्ञाओं का वर्णन मिलता है। वहाँ कुछ ऋद्धियों का भी वर्णन है—अधिष्ठान, विकुर्वण, मनोमय, ज्ञानविस्फार, समाधिविस्फार, आर्य-ऋद्धि, कर्मविपाकज, विद्यामय, सिद्धयर्थं। पटिसम्भिदामग्ग में भी इनका वर्णन आया है। छन्द, वीर्य, चित्त और मीमांसा ये ऋद्धि के चार पाद विशारदता की प्राप्ति की दिशा में योगी को आगे बढ़ाते हैं। आलस्य, औद्धत्य, राग, द्वेष, निश्रय, प्रतिबन्ध, कायराग, क्लेश आदि सोलह कारणों में चित्त प्रकम्पित हो जाता है, अतः ऐसे कारणों को दूर रखना चाहिए और उन पर विजय प्राप्त करना चाहिए।

त्रिपिटक, अट्ठकथाओं तथा विशुद्धिमग्ग आदि ग्रन्थों में विभिन्न ऋद्धियों का वर्णन किया गया है। एक से अनेक होना, प्रकट तथा अन्तर्धान होना, दीवाल, प्राकार, गृह, विहार, पर्वत आदि के पार जाना। पृथ्वी में गोता लगाना, जल पर चलना, आकाश से जाना, चन्द्र सूर्य का स्पर्श करना, ब्रह्मलोक गमन, दूरस्थ को समीपस्थ करना, बहुत को थोड़ा करना, थोड़े को बहुत करना आदि। इनमें कुछ विकुर्वण और कुछ मनोमय ऋद्धियाँ हैं।

बौद्ध साधना, जैन साधना के काफी निकट है। उसमें शील, समाधि और प्रज्ञा का विवेचन है, जिसमें शील और समाधि का अन्तर्भाव सम्यग्चारित्र में किया

जा सकता है। प्राणातिपातादि से विरक्त रहने वाली मानसिक अवस्था को शील कहते हैं। पाणातिपातादीहि वा विरमन्तस्य वत्तपटिपत्ति वा पूरेन्तस्य चेतनादयो धम्मा।[1] यह शील मुख्यतः चार प्रकार का है—प्रतिमोक्षसंवरशील (आचरण और गोचरण में पवित्रता) इन्द्रियसंवरशील (इन्द्रियसंयमी होना) आजीवपरिशुद्धिशील (सङ्घादिशेष पाचित्तिय आदि दोषों से दूर रहना) और प्रत्ययसन्निश्रितशील (चीवर आदि प्रत्ययों का प्रज्ञा पूर्वक उपयोग करना) इसी प्रकार चार प्रकार की शुद्धियाँ भी बताई गई हैं—देशनाशुद्धि, संवरशुद्धि, पर्येष्टिशुद्धि और प्रत्यवेक्षणशुद्धि। जैन धर्म में कथित बारह व्रतों के भीतर ये शुद्धियाँ और शील समाहित हो जाते हैं।

साधना में और अधिक दृढ़ता लाने के लिए भगवान् बुद्ध ने तेरह प्रकार के नियम और बनाये हैं जिन्हें धुताङ्ग कहा गया है। इससे राग और मोह सम्पूर्णतः धुल जाता है - पांशुकूलिक, त्रैचीवरिक (तीन चीवर स्वीकार करना), पिण्डिपातिक (उद्दिष्ट, निमन्त्रित आदि भोजन ग्रहण न करना), सापदानचारिक (ईर्या समिति पूर्वक चलना) एकासनिक (एक आसन पर बैठकर एक बार भोजन करे) पात्रपिण्डिक (भोजन के लिए एक ही पात्र ग्रहण करना) खलुपच्छाभत्तिकाङ्ग (अतिरिक्त भोजन नहीं करना) अरण्याङ्ग (जङ्गल में वास करना) वृक्षमूलकाङ्ग (वृक्ष के नीचे रहना) अभ्यवकाशिकाङ्ग (उन्मुक्त आकाश में रहना) श्मशानिकाङ्ग (श्मशान में रहना) यथासंस्थरिकाङ्ग (तृण शय्या को स्वीकार करना) और नैषद्याङ्ग (चङ्क्रमण करना) इन धुताङ्गों में समिति, संयम, भूशयन, एक भक्त आदि जैन मुनि चर्या दिखाई देती है।

इसके बाद बौद्ध भिक्षु समाधि पालन करने की दिशा में आगे बढ़ता है। कुशलचित्त की एकाग्रता को समाधि कहा है—कुशलचित्तैकाग्रता समाधिः। जैनधर्म में भी समाधि का यहीं लक्षण है—समाधानं समाधिः। अथवा सर्वार्थतैकाग्रता समाधिः। बौद्ध साधना में समाधि के लिए चेतोसमाधि, चेतोविमुत्ति, चेतोसमथ, चित्तभावना, चित्त-विसुद्धि, अधिचित्त, विपस्सना, ज्ञान भावना ओर योग, कम्मट्ठाण, पधान, आरम्मण और निमित्त जैसे शब्दों का भी प्रयोग साधारणतः समान अर्थ में हुआ है।

शील और पारिशुद्धि से समन्वित होकर भिक्षु दस विघ्नों (परिबोधों) को दूर करता है—आवास, कुल, लाभ, गण, कर्म, मार्ग, प्रीति, रोग, ग्रन्थ और ऋद्धि।

---

१. विसुद्धिमग्ग पृ० ४।

तदनन्तर कर्मस्थान देने वाले कल्याण मित्र के समीप जाकर वह अपनी चर्या के अनुकूल चालीस कर्मस्थानों में किसी एक कर्मस्थान को ग्रहण कर समाधि भावना के अयोग्य विहार को त्यागकर योग्य विहार में विहार करते हुए भावना करता है। चालीस कर्मस्थान ये हैं - दसकसिण, दस अशुभ, दस अनुस्मृतियाँ (बुद्ध, धर्म, सङ्घ, शील, त्याग, देवता, मरण, काय, आनापान व उपशम) चार ब्रह्मविहार (मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा) चार आरूप्य, एक संज्ञा और एक व्यवस्थान। इसमें दस अनुस्मृतियों को तुलना—द्वादशानुप्रेक्षा से और चार ब्रह्म-विहारों की तुलना चार भावनाओं से की जा सकती है।

कसिण का अर्थ कृत्स्न अर्थात् समस्त। यह शब्द विशेषण और संज्ञा दोनों रूपों से उपयुक्त है। मण्डल, निमित्त और ध्यान के अर्थों में भी इसका प्रयोग हुआ है। कसिण के सन्दर्भ में भिक्षु अपने ध्यान के लिए निम्नलिखित विहारों का उपयोग नहीं करते—महाविहार, नवविहार, जीर्ण विहार, फल विहार, प्याऊयुक्त विहार, शाकपण्य विहार, पुष्पयुक्त विहार, मार्गनिश्रित विहार, पूजनीय स्थान, नगराश्रित विहार, दारुसन्निश्रित विहार, क्षेत्रयुक्त विहार, अयोग्य व्यक्तियों से युक्त विहार, बन्दरगाह के समीपस्थ विहार, निर्जन प्रदेशस्थ विहार, प्रत्यन्तनिश्रित, प्रतिकूल और कल्याणमित्रों का अलाभ वाला विहार।

जैन भिक्षु को भी ऐसी वसति त्याज्य बतायी है, जहाँ गन्धर्वों का वास हो, गजशाला, अश्वशाला अथवा कुम्भारगृह हो, अग्निवादित्र कर्म करने वाले हों, राजमार्ग, पुष्पवाड़ी आदि हों। शुभ-ध्यान के लिए बाधक स्थानों को यहाँ परिवर्जनीय माना है।

गन्धव्वणट्टजट्टा सच्चक्कजंतग्गिकम्मपुरुसे य।
णत्तियरजयापाडहि, य डोंबणडरायमग्गो य॥
चारण कोट्टयकल्लालकरकच्चे पुप्फोदयसमीवे य।
एवंविधवसधीए, होज्ज समाधिस्साघादो॥[1]

योग्य विहार में पहुँच कर कल्याणमित्र अथवा आचार्य के पास पहुँचता है। उनके अनुशासन में रहकर वह अलोभ, अद्वेष, अमोह, नैष्क्रम्य, प्रविवेक और निःसरण इन छः अध्याशयों से बोधि का परिपाक करता है। आचार्य यथावसर भिक्षु की चर्या की परीक्षा करता है। चर्या संक्षेपतः छः हैं—रागचर्या, द्वेषचर्या, मोह-

१. भगवती आराधना, ६३६-६३७।

चर्या, श्रद्धाचर्या, बुद्धिचर्या और विवेकचर्या। पात्रता सिद्ध होने पर उपचार और अर्पणा समाधि के माध्यम से वह चित्त की एकाग्रता प्राप्त कर ध्यान करता है। तदर्थ आवास, गोचर, वार्त्तालाप, व्यक्ति, भोजन, ऋतु और ईर्यापथ इन सात विपरीत बातों का त्याग करता है।[1] स्मृति (सतत जागरूकता) धर्म-विजय (सत्य जिज्ञासा), वीर्य (धर्माभ्यास में उत्साह), प्रीति (एकाग्रताजनित चित्त का आह्लाद), प्रश्रब्धि (चित्त की परम शान्ति), समाधि (अकम्प्य एकाग्रता) और उपेक्षा (चित्त के सुख-दुःख का अभाव) इन सम्बोध्यङ्गों का पालन करता है। साथ ही वितर्क, विचार, प्रीति और सुख इन चार ध्यानों को प्राप्त करता है। ये चारों ध्यान जैनधर्म के धर्मध्यान और शुक्लध्यान के विस्तृत रूप हैं।

ध्यान के सन्दर्भ में बौद्ध भिक्षु छः अनुस्मृतिपूर्वक केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा, वृक्क, हृदय, यकृत, क्लोम, प्लीहा, मल, मूत्र, पित्त, कफ, पीब, स्वेद, मेद, थूँक, लसिका आदि गुण वाले काय की अनित्यता पर विचार करता है। यह जैनधर्म के द्वादशानुप्रेक्षा का एक रूप है। तदनन्तर भिक्षु आचार्य के पास जाकर उग्गहपरिपुच्छा, उपट्ठान, अप्पणा और लक्खण इन पाँच सन्धियों द्वारा कर्मस्थानों को सीखता है। तत्त्वार्थसूत्र में वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश ये स्वाध्याय के ५ भेद बताये गये हैं, जिनका पालन जैन भिक्षु को करना पड़ता है।[2] चार ब्रह्मविहार जैनधर्म की व्रतधारी सम्यग्दृष्टि की चार भावनाएँ हैं।[3]

आनापान स्मृति आदि पूर्वक बौद्ध साधक योग साधना करता है और फलस्वरूप विविध लौकिक अभिज्ञाओं एवं ऋद्धिओं को प्राप्त करता है। पश्चात् वह आध्यात्मिक और बाह्य रूप का चिन्तन करता हुआ शमथ भावना के बाद विपस्सना की वृद्धि करता है। उसके बिना अर्हत् पद की प्राप्ति नहीं होती। विपस्सना को लोकोत्तर समाधि भी कहा है। पूर्वकथित शील, चित्तादि सप्त विशुद्धियों द्वारा इसकी प्राप्ति होती है। निर्वाण प्राप्ति का थेरवाद बौद्धधर्म के अनुसार यही मार्ग है।

महायान में बुद्धत्व की प्राप्ति ही चरम उद्देश्य माना गया है। इसकी प्राप्ति के लिए साधक प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इस पारमिता तक पहुँचने

१. आवासो गोचरो भस्सं पुग्गलो भोजनं उतु।
इरियापथो 'ति सत्तेते असप्पाये विवज्जये॥ विसुद्धिमग्ग, परिच्छेद ४।
२. वाचनापृच्छानुत्प्रेक्षाऽऽम्नायधर्मोपदेशाः। तत्त्वार्थसूत्र ९.२५
३. मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थ्यानि च सत्त्वगुणाधिकक्लिश्यमानविनयेषु। वही ७-११।

के लिए उसे असङ्ग के अनुसार दस भूमियों को पार करना पड़ता है—प्रमुदिता, विमला, प्रभाकरी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरङ्गमा, अचला, साधुमती और धर्ममेघा।[1]

उत्तरकालीन बौद्धसाधना तान्त्रिकसाधना के रूप में विकसित हुई। आटानाटीय सुत्त (दीघनिकाय) इसका आधार माना गया है। तन्त्रपिटक में विविध अलौकिक बातों के साथ एकाभिप्राय से मैथुन-सेवन को भी धर्म स्वीकार किया गया।[2] महायान के इसी विकसित स्वरूप को मन्त्रयान कहा गया है। मन्त्रयान से वज्रयान, सहजयान, कालचक्रयान के रूप में बौद्ध साधना-धारा प्रवर्तित होती रही। इन सभी शाखाओं में मन्त्रमार्ग का ही प्राधान्य रहा। इसे तान्त्रिक धारा भी कहा जाता है। इसका मूल लक्ष्य विमोक्ष प्राप्त करना है। इससे आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द तथा सहजानन्द अवस्था का भान होता है। सम्पूर्ण बौद्ध तान्त्रिक साधना का विकास यहीं से प्रारम्भ होता है।

इस प्रकार जैन साधना और बौद्ध साधना के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र को लगभग समान महत्त्व प्रदान करती हैं।[3] समाधि, विनय, तप आदि के प्रकार भी उनमें कुछ मिलते-जुलते हैं। बौद्ध साधना चूँकि जैन साधना से उत्तरकालीन है और बुद्ध ने चूँकि जैन साधना का कुछ समय तक अनुगमन किया है, इसलिए यह स्वाभाविक है कि बौद्ध साधना जैन साधना से विशेष प्रभावित रहे एवं अपेक्षाकृत व्यवस्थित प्रतीत हो। आवश्यक यह है कि योग साधना के हर पहलू का अध्ययन तुलनात्मक दृष्टि से किया जाना चाहिए। इस लघुकाय निबन्ध में यह सम्भव नहीं था, इसीलिए दोनों साधनाओं का मात्र दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया गया है।

● ● ●

---

१. महायानसूत्रालङ्कार, ३४; कथावत्थु २३–१।

२. कथावत्थु २३–१।

३. णाणम्मि दंसणम्मि य तवेण चरियेण सम्मसहिएण।
चउण्हं पि समाजोगे सिद्धा जीवा ण संदेहो॥ षट्प्राभृत, १.३२।

कमलकुलिश योग तथा सुरतशब्द योग

डा० राममूर्ति त्रिपाठी

आध्यात्मिक साधनाओं को बौद्धिक स्तर पर कुछ दूर तक ही कहा जा सकता है, उसका धाराभेद से व्यावृत्तरूप अपनी समग्र प्रामाणिकता में सम्बद्ध धारा का पारङ्गत मर्मी ही स्पष्ट कर सकता है। कारण, एक तो साधनाओं की कोई सीमा नहीं है, दूसरे भावनामय होने के कारण वैयक्तिक और रहस्यमय भी है। प्रस्तुत सन्दर्भ में तान्त्रिक बौद्धों के 'कमलकुलिश योग' तथा सन्तों के 'सुरतशब्द योग' की तुलनात्मक विवेचना प्रतिज्ञात है। सबसे पहली बात दोनों साधना-धाराओं के विषय में यही ध्यान देने की है कि जैसे कमल एवं कुलिश के योग में अपेक्षित पद्धतियाँ अनेक हैं, उसी प्रकार वाग्योग के अनेक प्रकारों में उल्लेख्य सुरतशब्द योग भी भिन्न-भिन्न सरणियों से सम्पाद्य है। दूसरे, दोनों ही साधनाएँ तान्त्रिक अथवा आगमसम्मत हैं।

दोनों ही साधनाओं का साध्य सहज है और वह अपनी मूल प्रकृति में द्वयात्मक अद्वय है। पहले का सहज यदि प्रज्ञा और उपाय अथवा कमल और कुलिश का समरसरूप है तो दूसरे का सहज, मालिक और मौज अथवा सुरति और शब्द का। पहले के लिये जो **'शून्यताकरुणाभिन्नं बोधिचित्तं तदुच्यते'** की घोषणा करता है—विशेष उद्धरण देने की आवश्यकता नहीं है, उनकी धारणा स्पष्ट है। दूसरे की धारणा का स्पष्टीकरण राधास्वामी मत में प्रचलित निम्नलिखित दोहे से स्पष्ट हो जाता है—

कबीर धारा अगम की सद्गुरु दई लखाय।
उलट तमहिं सुमिरन करो स्वामी सङ्ग लखाय॥

मालिक की मौज ही अधोमुखी होकर विश्वात्मक प्रसार पा चुकी है, यदि इसे उलट दिया जाय तो वह मौज की धारा राधा बन जायगी और स्वामी से एकरस हो जायगी।

उक्त दोनों धाराओं में प्रचलित साधनापरक संज्ञाओं के भी तुलनात्मक स्वरूप के पर्यालोचन से इसी तथ्य की सिद्धि होती है। तान्त्रिक बौद्ध साधना के

लिये कमलकुलिश योग तथा सन्तों की साधना के लिये सुरतशब्द योग जैसी संज्ञाएँ प्रचलित हैं। कमल और कुलिश क्रमशः मूल तत्त्व के ही दो पक्षों स्त्रीत्व एवं पुंस्त्व का बोध कराते हैं। धामपाद ने कहा है—कमल कुलिश माँझे भइ मिअली। मध्य-मार्ग के विकास से पूर्व दोनों विरुद्ध दिशाओं में प्रवाहित हैं, पर मध्यविकास होने पर अवधूती में उनका समरस एवं एकोन्मुख प्रवाह हो जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त दोहे में भी मालिक की मौज या धारा को उलट कर स्वामी से एकरस होने की बात कही गई है। प्राणसंगली के भूमिका लेखक श्री सन्त सम्पूर्णसिंह ने भी कहा है—विदित रहे कि ''सबकी क्रिया की आनुभाविक प्रकाशक निजरूपिणी शक्ति, जो हमारे भीतर है, उसे सुरति कहा जाता है। इसी सुरतिरूपिणी शक्ति का शब्द से योग कराया जाता है। सारवचन व वार्तिक भाग दो में कहा गया है—सब पसारा शब्द का है और सुरत शब्द का अंश है। उन लोगों की धारणा है 'हकीकत में शब्द सारे हैं पर जब से सुरत पिण्डों में उतरी है तब से बाहर मुख हो गई है', वैदिक धर्मा-नुयायी भी इस तथ्य से सहमत हैं—**'वागेव विश्वभुवनानि प्रज्ञे'**। स्वामी श्री प्रत्य-गात्मानन्द ने द्रष्टव्यमात्र को शक्तिव्यूह कहा है—यह शक्तिव्यूह जिस स्पन्दनशीलता से संवलित रहता है, वह यदि किसी भी निरतिशय श्रवणसामर्थ्य द्वारा शब्दरूप में गृहीत हो, तब वही शब्द उस द्रव्य का स्वाभाविक नाम अथवा बीजमन्त्र है। इस बीजमन्त्र में अपने द्रव्य अथवा अर्थ को गढ़ लेने की क्षमता होती है। इसीलिये द्रव्यमात्र के मूलरूप शक्ति को ध्वन्यात्मक कहा गया है। सन्तों ने बहुत ही सीधे सादे ढंग से कह दिया है—

> **"शब्द सुरति अरु निरति मिलि कहिबे को है तीन।**
> **निरति उलटि सुरतहिं मिलै सुरति शब्द लवलीन॥"**

इन सबसे इतना तो स्पष्ट ही है कि सुरति एवं शब्द अन्ततः एक ही है।

पाँचवीं समानता यह भी है कि जिस मानस ऐकाग्र्य अथवा चित्त-स्थैर्य के बिना कोई अध्यात्मसाधना हो नहीं सकती, उसके लिये दोनों ही विराग नहीं, राग, कृच्छ्र नहीं सहज मार्ग अपनाने की बात करते हैं। यदि कमलकुलिश योगी तान्त्रिक बौद्ध **'रागेण बद्धचते लोको रागेणैव विमुच्यते'** कहता है, तो सुरत शब्द योगी सन्तजन—

> **"काम मिलावै राम को जो कोइ जानै भेव।"**

की घोषणा करता है। अभिप्राय यह है कि दोनों ही रागमार्गी अथवा सहजमार्गी हैं।

तुलना में समानता के साथ असमानता की बात भी उठ सकती हैं, अतः दोनों साधनाओं में से जहाँ तक कमलकुलिश योग की बात है, वह विन्दु साधना को महत्त्व देती है। वास्तव में बद्ध जीवात्माओं के मन, प्राण एवं शुक्र तीनों ही चञ्चल होते हैं और तीनों इस प्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं कि इनमें से किसी एक के स्थिर होने से शेष दो लगभग निष्प्रयास ही स्थिर हो जाते हैं। मन को स्थिर करने में श्वास अपने आप रुक जाती है। प्राण को मन का पलना तक इसी आशय से कहा गया है। साधकगण इन्हीं तीनों में से किसी एक पर बल देते हैं और उसी की प्रधानतया साधना करते हैं। तान्त्रिक बौद्ध मानते हैं कि चित्त ही एक तत्त्व है—जो शून्यता स्वभाव है। वही संवृत दशा में शुक्र है और पारमार्थिक दशा में बोधिचित्त। चित्त या संवृतचित्त को ही बोधिचित्त के रूप में परिणत करना, महाराग, महासुख, निवारणप्रकाश, अनुत्तरबोधि या बुद्धत्व की उपलब्धि है। बोधिचित्त ही निम्नगामी होकर अन्नमय देह में शुक्र बन गया है। और यही जब और अधःस्खलित होता है तब भौतिक देह की सृष्टि होती है। साधक इसी शुक्र का ऊर्ध्वंगामी सञ्चार करता है। अधोगामी रूप मे यह चञ्चल तथा संवृत रहता है। और ऊर्ध्वंगामी होकर स्थिर तथा विवृत्त। पहले प्रज्ञा तथा उपाय के योग से विन्दु का उद्भव होता है, यही बिन्दुक्षोभ है, जो बोधिचित्त का उद्भव है। इसे ही कुण्डलिनी का जागरण कहा जाता है। उद्बुद्ध विन्दु कहीं वज्रमणि में स्खलित न हो जाय, फलतः उसे निर्माणचक्र में धारण करना पड़ता है। पर यह निरोध कृत्रिम निरोध है। इस चक्र में स्थित शुक्र क्षिति, जल, पावक, समीर एवं गगन पञ्च भूतात्मक होता है। ऊर्ध्वंसञ्चार के क्रम में उत्तरोत्तर क्षिति का जल में, जल का अग्नि में, अग्नि का वायु में और अन्ततः वायु का गगन में विलय हो जाता है। फलतः गगनोपम विन्दु स्थिर हो जाता है। उष्णीष चक्र में इसका स्थिर होना ही महासुख दशा की उपलब्धि है।

इस रहस्यमय साधना के आरम्भ करने के लिये साधक उपयुक्त गुरु एवं प्रज्ञा की तलाश में रहता है। गुरु का महत्त्व दोनों ही धाराओं में परमात्मा से भी अधिक माना गया है, पर प्रज्ञा या नारी की अपेक्षा, इस धारा की अपनी विशेषता है। बिना दीक्षा के सत्यज्ञान का उदय नहीं होता और बिना अभिषेक के उस ज्ञान का सञ्चार नहीं होता। यह अभिषेक पारमार्थिक और संवृत्त दो रूप का होता है। संवृत भी दो प्रकार का है—पूर्व एवं उत्तर। पारमार्थिक अभिषेक ही अनुत्तर अभिषेक कहा गया है। कलश, प्रज्ञा एवं अनुत्तर सेक का प्रयोग विन्दु के आरोह एवं अवरोह पूर्वक समाप्य आवर्तन में होता है। कुण्डलिनी का भी आरोहावरोहपूर्वक

आवर्तन होता है। जैसे ब्राह्मणतन्त्रों में जड-त्याग पूर्वक चिदुपलब्धि या आरोह के बाद पुनः अवरोहण में त्यक्त का चिन्मयीकरण होता है, फलतः यात्रा पूरी होती है—ठीक यही स्थिति यहाँ भी है।

उपाय का अत्यधिक विस्तार गुह्यसमाजतन्त्र में उपलब्ध होता है। उपाय है—सेवा, उपसाधन, साधन एवं महासाधन। सेवा भी दो प्रकार की है—सामान्य और उत्तम। उत्तम सेवा में ही षडङ्ग का स्थान है, जिसका प्रयोग बिन्दु के ऊर्ध्व-सञ्चार में विशेष रूप से होता है।

अभिषेक के अनन्तर साधक गुरु के निर्देशन में मण्डल के भीतर प्रज्ञा के साथ प्रवेश करता है और योग का रहस्यात्मक अंश आरम्भ हो जाता है। आसन, बन्ध तथा मुद्रा आदि के द्वारा गुह्याङ्गों के बीच की नसें और नाड़ियाँ अपेक्षित सङ्कोच और प्रसार प्राप्त करती हैं, ताकि उनके द्वारा बिन्दु का ऊर्ध्वसञ्चार किया जा सके। षडङ्ग योग में सर्वाधिक महत्त्व प्राणायाम का इसीलिए स्पष्ट है कि उसी के द्वारा प्राण एवं अपान की विरोधी धाराओं को एकोन्मुख कर मध्यमार्ग में सञ्चरित किया जाता है और इसी के द्वारा गुरुनिर्दिष्ट क्रम से बिन्दु ऊपर की ओर सञ्चारित होता है। उत्तर सेक तथा अनुत्तर सेक से उसे जब नीचे उतारा जाता है तब उसमें इतनी स्थिरता आ जाती है कि निर्माणचक्र से उतर कर भी वज्रमणि में स्खलित नहीं होता। इस विन्दु से जिस दिव्य देह की उपलब्धि होती है, उसी से सहजानन्द धारण किया जाता है।

षडङ्ग के अन्तर्गत अन्य अङ्गों के अतिरिक्त चार चक्र, चार मुद्रा, चार क्षण, चार आनन्द एवं चार कार्य की भी विशिष्ट चर्चा इस सन्दर्भ में विचारणीय है।

सुरतशब्द योग का वैशिष्ट्य यह है कि यह मार्ग उक्त मार्ग की अपेक्षा सरल है, यद्यपि उक्त मार्ग भी हीनयान, महायान एवं वज्रयान को अपेक्षा सरल है। यहाँ प्रज्ञा (नारी) की आवश्यकता नहीं है। तान्त्रिक बौद्ध साधना का आरम्भ नाभिचक्र से करते हैं, सन्तों ने सहस्रदल कमल या त्रिकुटी से किया है। इन लोगों की यह धारणा है कि सबसे ऊँचा स्थान अनामी अथवा अकह है। इसी स्थान से मालिक की मौज उठी और शब्दरूप होकर नीचे उतरी। वहीं से चलकर सुरत भी भिन्न-भिन्न स्थानों से होती हुई ब्रह्माण्ड में फैली और पिण्ड में उतरी। अनामी-सत्तलोक सुन्न-त्रिकुटी-सहसदल-कमल। सत्तलोक से दो स्थान छोड़कर सुन्न या दसमद्वार है। इस प्रकार सत्तलोक से सहस्रदल कमल तक पाँच प्रकार के शब्द हैं। पाँचवाँ शब्द सत्तलोक में है और उससे परे जो शब्द की धारा है, वह अनिर्वाच्य है। इन्हीं शब्दों की धुन पकड़कर सुरत या रूह ऊपर चढ़ती है।

सत्तलोक से सहस्रदल कमल तक छह स्थान आसमानी हैं और उन्हीं की प्रतिच्छाया के रूप में पिण्ड के अन्तर्गत भी छह स्थान हैं, उन्हीं को चक्र कहा जाता है। पहला चक्र दोनों आँखों के पीछे है और यही सुरत अर्थात् रूह का वास माना जाता है। सुरत शब्द योग में इसीलिये इसी स्थान से साधना का आरम्भ होता है। माना गया है कि मानव मात्र के दोनों नेत्रों में आठ अवयव हैं—प्रत्येक में चार-चार अंश हैं—उज्ज्वल तारिका, काली पुतली, छोटी पुतली तथा उसके भीतर स्थिर सुई के छेद के समान चमकीला सूक्ष्म विन्दु। इसी को अग्रदृष्टि या अग्रनख कहा जाता है। सुरत इसी रूप में परिणत होकर अष्टदल कमल का भेदन करती हुई लक्ष्य की ओर बढ़ती है। सुरति जितनी ही अग्रनख के भीतर की ओर अग्रसर होती है, मन उतना ही स्थिर होता है। सुरति अपनी मात्रा में वङ्कनाल से होती हुई धुँधले मण्डल को पार करती है और फिर महाशून्य के छोर पर स्थित भ्रमरगुहा, जो सत्यराज का प्रवेश द्वार है, में प्रवेश करती है। योगीगण यहाँ से विशुद्ध शब्द सुन पाते हैं। इस मार्ग को विहङ्गम मार्ग कहा जाता है—फलतः इसकी तुलना में उसे पिपीलिका मार्ग कहा जा सकता है।

इस प्रकार कमलकुलिश योग तथा सुरत शब्दयोग की असाधारण विशेषताओं के साथ सामान्य विशेषताओं का यथासम्भव उल्लेख किया गया।

• • •

निरोधसमापत्ति

डॉ० महेश तिवारी

बौद्ध साधना तीन पादों से उपेत है। वे तीन पाद हैं – शील, समाधि तथा प्रज्ञा। शील के द्वारा कायिक तथा वाचसिक अध्याचारों का निषेधन[1], समाधि द्वारा चित्तचाञ्चल्यराहित्योपलब्धिकरण,[2] तथा प्रज्ञा द्वारा धर्मस्वभावप्रतिवेधन एवं निर्वाण का साक्षात्करण इष्ट है।[3] इस क्रम से आनुपूर्विक आध्यात्मिक विकासोन्मुखता द्वारा यह साधना चरम लक्ष्य के अधिगम पर प्रकाश डालती है।

इस साधना में निरोधसमापत्ति एक यौगिक अवस्था है। यह न तो शील के अन्तर्गत है, न समाधि के, न प्रज्ञाभावना के; वरन् प्रज्ञाभावना से उपलब्धसमर्थता से प्राप्य एक प्रकार की लोकोत्तर समाधि है। इस दृष्टि से ही इसे शमथ एवं विपश्यना के युगनद्ध साहाय्य से जनित अवस्था भी कहा जाता है।[4] यह सत्य है कि लोकोत्तर भूमि में योगावचर द्वारा रूप ध्यान तथा अरूप ध्यान का अभ्यास भी किया जाता है, तथा उस कारण वे लोकोत्तर ध्यान कहे जाते हैं, तथापि यह अवस्था उनसे भिन्न है। इसकी भिन्नता दो रूपों में देखी जा सकती है। प्रथम यह कि यह चित्त की सूक्ष्मता-प्रसङ्ग में रूप तथा अरूप ध्यानों से ऊपर की अवस्था है[5], तथा द्वितीय यह कि इसका अभ्यास कुछ विशिष्ट योगावचरों द्वारा ही सुलभ है।[6]

---

१. दुस्सील्यविद्धंसनता, अनवज्जगुणो तथा।
किच्चसम्पत्ति-अत्थेन, रसो नाम पवुच्चति ॥ वि० म० ५.

२. विक्खेपविद्धंसनरसो। वि० म० ५७।

३. धम्मसभावपटिवेधलक्खणा पञ्ञा। वि० म० ३०५।

४. यो पन उभयवसेनेव उस्सक्कित्वा पुब्बकिच्चं कत्वा नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं निरोधेति, सो तं समापज्जति। वि० म० ५०१.
सञ्ञावेदयितनिरोधसमापत्तिया द्वे धम्मा बहूपकारा समथो च विपस्सना चा ति। सं० नि० ३, १६१-६३।

५. सब्बसो नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं समतिक्कम्म सञ्ञावेदयितनिरोधं उपसम्पज्ज विहरति। म० नि० २.२३६.

६. अट्ठसमापत्तिलाभिनो पन अनागामिनो खीणासवा च समापज्जन्ति। सब्बे पि पुथुज्जना, सोतापन्ना सकदागामिनो, सुक्खविपस्सका च अनागामि-अरहन्तो न समापज्जन्ति। वि० म० ४९९.

निरोधसमापत्ति का अर्थ पूर्ण निरोध की प्राप्ति है। निरोध का अभिप्राय यहाँ प्रवृत्तियों के निरोध से है। प्रवृत्तियाँ कायिक, वाचसिक तथा मानसिक त्रिविध होती हैं। इन्हें कायसंस्कार, वचीसंस्कार तथा चित्तसंस्कार कहा जाता है। इनमें आश्वास-प्रश्वास को काय-संस्कार, वितर्क-विचार को वची-संस्कार तथा संज्ञा, वेदना एवं अन्यान्य चित्तसम्प्रयुक्त धर्मों को चित्त-संस्कार जैसी अभिहिति देखी जाती है।[1] इन्हीं त्रिविध संस्कारों के पूर्णतः निरुद्ध हो जाने से जिस दशा की प्राप्ति होती है, वह निरोधसमापत्ति है। संज्ञावेदयितनिरोध भी इसी का नाम है।

निरोधसमापत्ति का अभ्यास सबके लिए सुलभ नहीं है। इसके लिए केवल अनागामी तथा अर्हन्त ही अधिकारी कहे गये हैं। उनमें भी भगवान बुद्ध के उपदेशों के श्रवणमात्र से अथवा ऐसे अन्य कारणों से अनागामिभाव या अर्हद्भाव को प्राप्त पुरुष भी इसका अभ्यास नहीं कर सकते हैं, वरन् अट्ठसमापत्ति के नाम से आख्यात चार रूप ध्यान तथा चार अरूप ध्यानों के लाभी तथा कामलोक एवं रूपलोक में स्थित अनागामी तथा अर्हत् ही इसके वास्तविक अधिकारी हैं।[2]

निरोधसमापत्ति के अभ्यास का एक नियम है। अभ्यास का अभीप्सु पहले अपने को मानसिक स्तर पर प्रबुद्ध करता है।[3] वह भोजनोपरान्त हस्तपादादि का प्रक्षालन कर अरण्य, गिरिकन्दरा या अन्य एकान्त स्थान में सुप्रज्ञप्त आसन पर ऋजुभूत काय से स्मृतिमान् हो आसीन होता है। इस प्रकार आसीन हो प्रथम रूप ध्यान का अभ्यास कर उससे उठ समस्त संस्कृत धर्मों के अनित्य, अनात्म तथा दुःखपूर्ण स्वरूप पर विचार करता है। इसके अनन्तर रूप ध्यान की अन्य अवस्थाओं का अभ्यास करते हुए अरूप ध्यान में जा आकिञ्चन्यायतन तक पहुँचता है। इस अवस्था की प्राप्ति के साथ वह कुछ क्षणों के लिए विराम लेता है। विराम के ये क्षण निरोधसमापत्ति के पूर्व सम्पाद्य पूर्वकृत्यों के लिए होता है।

पूर्वकृत्य में तीन अधिष्ठान तथा एक अवलोकन चार बातें होती हैं। प्रथम अधिष्ठान 'नानाबद्ध-अविकोपन' विषयक है। वह ऐसा अधिष्ठान करता है कि निरोध

---

१. तयो संखारा—कायसंखारो, वचीसंखारो, चित्तसंखारो ति। अस्सासपस्सासा कायसंखारो, वितक्कविचारा वचीसंखारो, सञ्ञा च वेदना च चित्तसंखारो। ठपेत्वा वितक्कविचारे सब्बे पि चित्तसम्पयुत्तका धम्मा चित्तसंखारो। यमक २.३.

२. वि० म० ४९९।

३. म० नि० १.३७२ सञ्ञावेदयितनिरोधं समापज्जन्तस्स भिक्खुनो एवं होति—'अहं सञ्ञा-वेदयितनिरोधं समापज्जिस्सं ति वा···, अहं सञ्ञावेदयितनिरोधं समापज्जामि वा···।

में प्रविष्ट अवधि में उसके काय, पात्र, चीवर, शयनासन आदि को अग्निदाह, उदक-प्रकोप, वायुसंक्षोभ या अन्य कारणों से कोई क्षति नहीं हो। द्वितीय अधिष्ठान 'संघपटिमानन' विषयक है। वह ऐसा अधिष्ठान करता है कि निरोध की अवधि में संघकार्य के लिए उसकी आवश्यकता होने पर वह किसी द्वारा बिना सूचना पाए ही उठ जाए। तृतीय अधिष्ठान "सत्थुप्पक्कोसन" विषयक है। उसका ऐसा अधिष्ठान होता है कि निरोध की अवधि में शास्ता द्वारा किसी देशना के प्रसङ्ग में उसकी आवश्यकता होने पर वह बिना बुलाये ही उठ जाय। अवलोकन का सम्बन्ध आयु-परिच्छेद से है। वह इस प्रकार अवलोकन करता है कि निरोध की अवधि तक उसकी आयु है अथवा नहीं। आयु अवशेष नहीं रहने पर वह मृत्यु को टाल नहीं सकता है तथा निरोध की अवस्था में मरण की सम्भावना भी इष्ट नहीं है। फलतः इन दो बातों के प्रकाश में वह आयु-परिच्छेद का अवलोकन करता है।[1]

इस प्रकार तीन अधिष्ठान तथा एक अवलोकन के उपरान्त व चतुर्थ अरूप ध्यान 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन' का अभ्यास करता है। यह चतुर्थ ध्यानिक चित्त केवल एक या दो बार प्रवृत्त होता है। इसके अनन्तर चित्त-चैतसिकों की प्रवृत्ति पूर्णतः निरुद्ध हो जाती है। इसमें भी पहले वचीसंस्कार, पुनः कायसंस्कार तथा अन्त में चित्तसंस्कार निरुद्ध होता है।[2] इन त्रिविध संस्कारों के निरोध से शरीर एवं मन की समस्त वृत्तियाँ पूर्णतः निरुद्ध हो जाती हैं। यह अवस्था इसी रूप में सात दिनों तक बनी रहती है। वह सचेतन पुरुष अचित्तक हो जडवत् दृष्टिगोचर होता है। निरोध की ऐसी दशा की सम्प्राप्ति ही निरोधसमापत्ति है।

निरोधसमापत्ति का अभ्यास सांवृतिक एवं पारमार्थिक दोनों दृष्टियों से अपूर्व फलदायक कहा गया है। इसके सांवृतिक पक्ष के सन्दर्भ में कहा जाता है कि निरोध की अवधि में उस पुरुष के काय तथा उससे सम्बद्ध उपकरणों को अग्निदाह, उदक-प्रकोप, वायुसंक्षोभ, शस्त्रप्रहार आदि से किसी प्रकार क्षति नहीं हो सकती है। पिटक तथा पिटकेतर ग्रन्थों में ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख है, जिनमें निरोध-आपन्न भिक्षु को जला दिये जाने पर भी निरोध से उठने पर पूर्व रूप में बने रहने की चर्चा है।[3]

१. वि० म० ५०१–५०२।
२. सञ्ञावेदयितनिरोधं समापज्जन्तस्स पठमं निरुज्झति वचीसंखारं, ततो कायसंखारं, ततो चित्तसंखारं। म० नि० १–३७२।
३. म० नि० १.४०७–८।
वि० म० ५०१–२।

'निरोधसमापत्ति' से उत्थान का भी एक नियम है। अधिष्ठित अवधि की परिसमाप्ति पर क्रमशः चित्तसंस्कार, कायसंस्कार तथा वचीसंस्कार जाग उठते हैं। फलस्वरूप वह पुरुष भी प्रबुद्ध हो जाता है। जागरण के क्षण उसे जिस चित्त की उपलब्धि होती है, वह अनागामी फल या अर्हत् फल चित्त होता है। अनागामी के निरोधापन्न होने पर उत्थान के समय अनागामी फल चित्त की प्राप्ति होती है तथा निरोधापन्न अर्हत् को अर्हत् फल चित्त प्राप्त होता है।[1] इससे प्रकट होता है कि अनागामी तथा अर्हत् मार्गचित्त से निरोध में प्रवेश करते हैं तथा फल चित्त की उपलब्धि से उनका उत्थान होता है। यहाँ दर्शनीय तथ्य यह है कि एक क्षण में सहस्रों वार प्रवृत्त होनेवाला चित्त सात दिनों तक नितान्त निरुद्ध रहता है। इस दृष्टि से निरोध एवं उत्थान के क्षण के चित्तों का सम्बन्ध समनन्तर तथा अनन्तर प्रत्ययों से दर्शाया गया है।[2]

तब निरोध से उत्थानप्राप्त इस चित्त की दशा कैसी हो सकती है? यह चित्त अत्यन्त परिशुद्ध, विगत-उपक्लेश, अनङ्गण, मृदुभूत, कर्मण्य एवं स्थित हो जाता है। यह स्वभावतः निर्वाणोन्मुख हो उठता है। निर्वाण इसका आलम्बन हो जाता है। इसलिए इस चित्त को निर्वाणनिम्न, निर्वाणप्रवण तथा निर्वाण-प्राग्भार कहा गया है।[3]

यहाँ निरोधसमापत्ति के पूर्व, मध्य एवं अपर दशाओं का संक्षिप्त रूप देखा गया। अब उसकी निरोधापन्न दशा को लक्ष्य कर यह प्रश्न होता है कि इसका अनुभव की पृष्ठभूमि में परिदीपन कैसे किया जा सकता है? क्या यह गम्भीर निद्रा है? क्या यह ध्यान है? क्या इसे मृत्यु कहा जा सकता है? नहीं। यह निद्रा नहीं है, कारण निद्रा इन्द्रियों के शैथिल्यवशात् प्राप्त होती है। वहाँ स्वतः प्रवेश का प्रश्न नहीं। साथ ही निद्रा की अवस्था में चित्त तथा चैतसिक मिद्ध से उपहत होने के कारण प्रवृत्तिरहित होते हैं। पर निरोध की अवस्था में स्वयं प्रवेश होता है, चित्त क्लेशों से मुक्त रहता है तथा इसकी अप्रवृत्ति अनवरत साधनावश होती है।

१. अनागामिस्स अनागामिफलुप्पत्तिया, अरहतो अरहत्तफलुप्पत्तिया ति एतं द्वेधा बुट्ठानं होति। वि० म० ५०३।
२. निरोधा बुट्ठहन्तस्स नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं कुसलं फलसमापत्तिया अनन्तरपच्चयेन पच्चयो। निरोधा बुट्ठहन्तस्स नेवसञ्ञानासञ्ञायतनं किरियं फलसमापत्तिया अनन्तर-पच्चयेन पच्चयो। पट्ठान० १.१२९।
३. सञ्ञावेदयितनिरोधसमापत्तिया बुट्ठितस्स मिक्खुनो विवेकनिन्नं चित्तं होति, विवेकपोणं, विवेकपब्भारं ति, म० नि० १.३७३।

इसे रूप या अरूप ध्यान भी नहीं कहा जा सकता है, कारण उन दोनों अवस्थाओं में रूपवान् तथा रूपविरहित आलम्बनों पर चित्त की एकाग्रता देखी जाती है। एकाग्रता के प्राप्तिप्रसङ्ग में चित्त-चैतसिकों में यत्न की अनुभूति होती है। पर 'निरोधसमापत्ति' की अवस्था में कोई आलम्बन नहीं रहता है तथा चित्त-चैतसिकों की एकान्ततः अप्रवृत्ति देखी जाती है।[1]

यह मरण भी नहीं है। कारण मृत्युसम्प्राप्ति से कायसंस्कार, वचीसंस्कार तथा चित्तसंस्कार निरुद्ध हो जाते हैं, आयु अर्थात् जीवितेन्द्रिय क्षीण हो जाती है, ऊष्मा समाप्त हो जाती है तथा इन्द्रियाँ विपरिभिन्न हो जाती हैं। पर निरोधसमापन्न पुरुष के पक्ष में कहा जाता है कि उसके काय, वची तथा चित्त संस्कार निरुद्ध या शान्त हो जाते हैं, आयु अर्थात् जीवितेन्द्रिय अपरिक्षीण रहती है, इन्द्रियाँ विप्रसन्न रहती हैं। इस प्रकार इन दो दशाओं में पार्थक्य दर्शाया जा सकता है।[2]

तब यह दशा क्या हो सकती है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि यह चित्त-चैतसिकों के सर्वांशतः प्रवृत्तिनिरोधपुरस्सर एक यौगिक अवस्था है, जो निरोधसम्पृक्त तथा निरोधपरायण है।

अब निरोधसमापत्ति की दशा में प्राप्त चित्त के स्वरूप को लक्ष्य कर एक प्रश्न हो सकता है। चित्त की इस दशा को भाव कहा जाय अथवा अभाव। इस प्रश्न की पष्ठभूमि में चित्त की परिभाषा उद्वेलक है। कहा जाता है कि "आलम्बनं **चिन्तेती ति चित्तं**" अर्थात् चित्त वह है, जो आलम्बन का चिन्तन करता है। इस परिभाषा से चिन्तनधर्मसम्प्रयोगभावापन्नता में ही चित्त की स्थिति सिद्ध कही जा सकती है, उष्णत्व-आपन्नता में अग्नि के सदृश। जिस प्रकार दाहकत्व से रहित अग्नि असिद्ध सी है, उसी प्रकार चिन्तनत्व के राहित्य में चित्त। यदि वास्तविकता यह है तो निरोध से उत्थान होने पर पुनः चित की प्रवृत्ति कैसे देखी जा सकती है। यस्मात् प्रवृत्ति अनुभवसिद्ध एवं शास्त्र समर्थित है, इसलिए यहाँ अभाव से भाव की उत्पत्ति का प्रसङ्ग आ जाता है, जो बौद्ध मान्यता के विरुद्ध है।

तब वस्तुस्थिति क्या है? चित्त का अभाव नहीं होता है। वरन् उसके दो रूप कहे जा सकते हैं—अनभिव्यक्त रूप तथा अभिव्यक्ति रूप। जिस प्रकार मृदुल एवं शीतल किशलयों से युक्त तरुशाखा में उष्णत्वराहित्य दशा में अनभिव्यक्त अग्नि तथा अन्य शाखाओं के संघर्षण से निष्पन्न व्यक्त अग्नि की स्थिति सिद्ध है, उसी

१. भिक्खु न किञ्चि मञ्ञति, न कुहिञ्चि मञ्ञति, न केन चि मञ्ञती ति। म० नि० ३.१०८। २. सं० नि० ३.२६१-६३।

प्रकार प्रवृत्तिराहित्यदशा में अनभिव्यक्त चित्त तथा आलम्बनसंयोग में अभिव्यक्त चित्त की विद्यमानता कही जा सकती है। इसलिए—"**आलम्बनं चिन्तेती ति चित्तं**" जो परिभाषा है, उसकी परिधि अभिव्यक्त चित्त की है। इसके प्रकाश में अनभिव्यक्त चित्त को अभाव रूप नहीं कहा जा सकता है। यह अनभिव्यक्त चित्त पूर्णतः समाहित चित्त है।

तब योगावचर निरोधसमापत्ति की इस दशा में प्रविष्ट क्यों होता है? इसका उत्तर यह हो सकता है कि आत्मप्रतिलाभपूर्वक अचित्तक एवं आस्रवमुक्त होकर निरोध से आख्यात निर्वाण में उपलभ्य प्रणीत सुख का अनुभवन करने के उद्देश्य से।[1] ऐसा क्यों? स्थविरवादी बौद्ध परम्परा के अनुसार जिस विमुक्ति की स्थापना है, वह विशुद्ध मनोवैज्ञानिक है। यदि बौद्ध परम्परा एक ऋजुरेखा है तो उसके एक बिन्दु पर परम चाञ्चल्य-आपन्न कामावचर चित्त है[2], तथा अपर बिन्दु पर समस्त प्रवृत्तियों से विप्रयुक्त स्वयं में समाहित लोकोत्तर चित्त है। इस कामावचर चित्त की लोकोत्तर चित्त में आनुपूर्विक परिणति ही बौद्ध साधना का लक्ष्य है। यह दशा आनुपूर्विक निरोध की है। कारण कामावचर चित्त अत्यन्त चञ्चल है। वह अधिक से अधिक जवन क्षण में सात चित्त क्षणों तक किसी विषय पर स्थित हो सकता है। ऐसे चित्त से केवल पञ्च कामगुणिक सुख का ही उपभोग हो सकता है, जो कामसुख या हेयसुख कहलाता है। पुनः जब संयम द्वारा यह चित्त अन्य विषयों से निवारित हो केवल रूपालम्बनों पर समाहित होता है, तो यह रूपावचरचित्त कहलाता है। यह अपेक्षाकृत चित्तप्रवृत्तियों के निरोध की दशा है। फलतः इससे प्राप्त सुख कामसुख से भी प्रणीत कहा गया है। पुनः अरूपावचर चित्त में चित-प्रवृत्ति को रूप से भी निरुद्ध हो केवल अरूपालम्बन तक सीमित देखा जाता है। यह निरोध की अपेक्षाकृत अभिवर्द्धित दशा है। तज्जन्य सुख भी पूर्वकथित सुख से प्रणीत है। पर जो इससे भी प्रणीत सुख है, वह निरोधसमापत्तिजन्य एकान्ततः

१. दिट्ठेव धम्मे अचित्तका हुत्वा निरोधं निब्बानं पत्वा सुखं विहरिस्सामा ति समापज्जन्ति। वि० ५०१.

चित्तचेतसिकानं अप्पवत्तिसंखातस्स निरोधस्स समापत्ति निरोधसमापत्ति। दिट्ठेव धम्मे चित्तनिरोधं पत्वा विहरणं। विभा० २६१.

सञ्ञावेदयितनिरोधं उपसम्पज्ज विहरति। पञ्ञाय चस्स दिस्वा आसवा परिक्खीणा होन्ति। म० नि० १.२०८.

२. नाहं, भिक्खवे अञ्ञं एकधम्मं पि समनुपस्सामि यं एवं लहुपरिवत्तं यदिदं चित्तं। अं० नि० १.१०.

निरोध से उपलभ्य सुख। इसे ही लक्ष्य कर भगवान् ने परिपृच्छात्मक ढंग से कहा है—"कतमं, चानन्द, एतम्हा सुखम्हा अञ्ञं सुखं अभिकन्ततरं पणीततरं च"? अर्थात् हे आनन्द, इस सुख से प्रणीततर वह कौन सुख है? उत्तर है—"इधानन्द, भिक्खु सब्बसो नेवसञ्ञानासञ्ञायनं समतिकम्म सञ्ञावेदयितनिरोधं उपसम्पज्ज विहरति। इदं खो आनन्द, एतम्हा सुखा अञ्ञं सुखं अभिकन्ततरं पणीततरं च"। अर्थात् हे आनन्द, भिक्षु सभी प्रकार से नैवसंज्ञानासंज्ञा का समतिक्रमण कर संज्ञा-वेदयितनिरोध को प्राप्त कर विहार करता है। यह सुख उस पूर्वसुख से अभिकन्त एवं प्रणीत है।[1]

तब यह कैसे समझा जाए कि योगावचर निर्वाण-सुख के आस्वादन के लिए ही निरोधसमापत्ति का अभ्यास करता है? इसका उत्तर यह है कि स्थविरवादी बौद्ध परम्परा में जो निर्वाण की स्थापना है, वह पूर्णतः निरोधात्मक है। कहा जाता है—

"अभेदिकायो निरोधिसञ्ञा,
वेदना ति पि दहंसु सब्बा।
वुपसमिंसु संखारा,
विञ्ञाणं अत्थमागमा ति॥"[2]

अर्थात् अनुपधिशेष निर्वाण वह है, जहाँ रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान नामक पञ्चस्कन्धों का निरोध हो जाता है। पञ्चस्कन्धात्मक पुरुष के सर्वांशतः निरुद्ध होने से अनुपधिशेष निर्वाण की प्राप्ति होती है। अब देखा जा सकता है कि निरोधसमापत्ति तथा अनुपधिशेष निर्वाण दोनों निरोध की अवस्थाएँ हैं। अन्तर इतना ही है कि निरोधसमापत्ति में पञ्चस्कन्धों की प्रवृत्ति का निरोध हो जाता है तथा अनुपधिशेष निर्वाण में उन पञ्चस्कन्धों का ही निरोध हो जाता है। इसलिए इस अनुपधिशेष निर्वाण में किस प्रकार के सुख की अनुभूति होती है, इसके आकलनार्थं योगावचर निरोधसमापत्ति का अभ्यास करता है। इसका सत्यापन भगवान् बुद्ध की भी चर्या से देखा जा सकता है। वे महापरिनिर्वाण में प्रविष्ट होने के पूर्व क्रमशः रूप, अरूप ध्यानों की भावना करते हुए निरोधसमापत्ति में प्रविष्ट हुए।[3] इससे यह फलित होता है कि यह निर्वाण का पूर्वास्वाद रूप है।

• • •

१. म० नि० २.७५–७६। २. उदान, पृ० १७६।
३. नेवसञ्ञानासञ्ञायतनसमापत्तिया वुट्ठहित्वा सञ्ञावेदयितनिरोधं समापज्जि। दी० नि० २.११९।

बौद्धयोग एवं औपनिषदिक अस्पर्शयोग

भिक्षु सेम्पा दोर्जे

भारतीय आध्यात्मिक विचारधारा में योग-साधना का स्थान बहुत ऊँचा है। योग मनुष्य जीवन के सर्वोपरि लक्ष्य का साधन है। भारतीय आध्यात्मिक शास्त्रों में यह बात मूलरूप से सर्वत्र विद्यमान है कि दुःख एवं जीवनमरण की समस्या एक मूलभूत जटिल समस्या है। यही कारण है कि हमारी संस्कृति में जीवनमुक्ति को सर्वोपरि ध्येय माना गया है और शास्त्रों में जीवनमुक्ति के उपाय को सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया गया है। यह बात न केवल हमारे शास्त्रों तक ही सीमित है, अपितु हमारी संस्कृति के रोम-रोम में परिलक्षित होती है।

सामान्यतया साधना के दो पहलू होते हैं—कर्मकाण्ड और ध्यानभावना। कर्मकाण्ड की चर्चा यहाँ करनी नहीं है। ध्यान भावना दो प्रकार की होती है। लौकिक समृद्धि के लिए की जाने वाली साधना साधारणतः निम्न कोटि की है, परलोक या जीवन्मुक्ति के लिए की जाने वाली साधना सर्वोत्तम मानी जाती है। परलोकादि के सिद्धान्त कहाँ तक सही हैं, कहना कठिन है। इस सिद्धान्त के अधिकांश मूलाधार आज विचारणीय विषय बन गये हैं। भौतिक तथ्य की कसौटी इसके समाधान के लिये पर्याप्त नहीं है। फिर भी सम्प्रति जन्मान्तर के सिद्धान्त को मानकर साधना के बारे में दो शब्द विचारार्थ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय साधनाक्रम में दो प्रणालियों की परम्पराएँ दृष्टिगत होती हैं। वैदिक एवं अवैदिक। दीर्घकाल से ही ये दोनों परम्पराएँ एक दूसरे को प्रभावित करती आई हैं। इनमें से कौन प्राचीन है, कहना कठिन है। परन्तु उपनिषद् युग में दीर्घ-कालीन संघर्ष के बाद दोनों का समन्वय परिलक्षित होता है। फलतः दोनों धाराओं में ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड दोनों उत्तरोत्तर क्रमशः विकसित होते रहे। ईसापूर्व छठीं शताब्दी की धार्मिक महाक्रान्ति के उपरान्त दोनों परम्पराओं के दार्शनिक सिद्धान्त सुव्यवस्थित हो गये। अवैदिक परम्परा में महावीर और गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। प्राचीन परम्पराओं का भेद साधना-प्रणाली के आधार पर न होकर दार्शनिक तत्त्व के आधार पर हो गया। जिसकी धार्मिक प्रक्रियाएँ वस्तु की क्षणिकता एवं पारमार्थिक शून्यता पर आधृत हैं, उसे बौद्ध, नास्तिक, क्षणिकवादी कहा गया

है। जिनकी धार्मिक प्रक्रियाएँ वस्तु की सत्ता तथा पारमार्थिक नित्यता या कूटस्थता पर आधृत है, उन्हें आस्तिक, वैदिक और शाश्वतवादी कहा गया है। परिणामस्वरूप दोनों के दार्शनिक मतभेद अत्यन्त तीव्र हो गये। फिर भी दोनों की साधना में होने वाली समानताएँ मिट नहीं सकीं। फलतः आज भी इनकी साधना-विधियों में कई समानताएँ परिलक्षित होती हैं। यदि हम बौद्धों की योगविधियों और औपनिषदिक साधना-परम्पराओं के मूल स्रोतों एवं उत्तरोत्तर विकास क्रम की ओर दृष्टिपात करें तो प्रतीत होता है कि दोनों की साधना-विधियों में बहुत भिन्नता नहीं है। यद्यपि बौद्धों की साधना-विधि या क्रम तथा औपनिषदिक साधना-प्रणाली में परम्परागत भेद अवश्य है, परतु सामान्य उद्देश्य की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक भेद दृष्टिगत नहीं होता है। इन परम्पराओं की साधनाओं का भेद मूल-दृष्टि पर आधृत है और समानताएँ ऐतिहासिक एवं विधि-विधानों पर आधृत हैं। इसमें गौडपादीय माण्डूक्योपनिषद्-कारिका महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इसके साथ महायान साधनाओं की तुलना करने से कई बातों पर प्रकाश पड़ता है।

यह तो सर्वविदित है कि बौद्ध प्रस्थान एक साधना प्रधान प्रस्थान है। इस परम्परा का प्रत्येक पहलू, जैसे न्याय, दर्शन, तन्त्र, मन्त्र और यहाँ तक कि आचार संहिताओं के साथ भी किसी न किसी रूप में विशेष योगसाधना की प्रक्रिया या उसका सिद्धान्त जुटा हुआ है। वास्तव में बौद्धों की पूरी धार्मिक प्रक्रिया ही एक प्रकार से साधना की विशेष व्यवस्था ही है। भगवान् बुद्ध ने जितनी देशनाएँ दी हैं, वे किसी लौकिक पदार्थ की व्याख्या के लिये नहीं, अपितु मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करने के लिये दी हैं। बाद में उनके अनुयायियों ने उनके उपदेशों का उपबृंहण इसी सिद्धान्त के आधार पर किया है। इस प्रकार स्वपरहिताय जीवनमुक्ति ही प्राचीन साधना का मूल आधार रहा है।

प्रारम्भिक मूलभूत साधना-विधियों में सैद्धान्तिक मतभेद नहीं थे। सामान्यतया कालान्तर में बौद्ध साधना-परम्परा का प्रवाह दो दिशाओं में चला। एक का लक्ष्य था अर्हत्त्व की प्राप्ति और दूसरे का लक्ष्य बुद्धत्व। अर्हत्व की साधना चतुरार्यसत्य के आधार पर आर्य-अष्टाङ्ग मार्ग के माध्यम से होती है। बुद्धत्व की साधना दशभूमियों के क्रम से पारमिताओं के आधार पर होती है। इस प्रकार इसका साधक महायानी कहा जाता है। महायान साधना में मुख्यतया दो ही परम्परा होती हैं— पारमितायान और तन्त्रयान। तन्त्रयान साधना की चर्चा यहाँ अपेक्षित नहीं है। पारमितासम्बन्धी साधना की दो अवस्थाएँ होती हैं, व्यावहारिक एवं समाहित। इनमें से प्रथम चार पारमिताओं का अनुष्ठान मुख्यतः योगी की व्यावहारिक क्रियाओं

के साथ होता है और ध्यान पारमिता से लेकर ज्ञान पारमितापर्यन्त शेष छह पारमिताओं का अनुष्ठान योगी का समाधि की अवस्थाओं में होता है। इस प्रकार एक गोत्रभू बोधिसत्त्व साधक अनुपूर्वक्रम से अपने लक्ष्य बुद्धत्व का अधिगम करता है। यही क्रम ध्यान भूमियों पर आधृत श्रावक आदि के बारे में भी जाना जा सकता है। अनिश्चित गोत्रीय साधकों की साधना गति या मार्ग अनुक्रम एवं व्यतिक्रम दोनों तरह से होते हैं। इन साधनाओं के मुख्यरूप से तीन अङ्ग या पहलू होते हैं—साधनावस्तु, मार्ग या प्रतिपद् और फल। इस पर क्रमशः आगे विचार करने जा रहे हैं—

(क) साधना वस्तु से अभिप्राय सत्यद्वय से है, अर्थात् संवृतिसत्य और परमार्थसत्य। बौद्धेतर मतों के अनुसार इसे प्रकृति-पुरुष या ब्रह्म और माया कहते हैं। अथवा आत्मतत्त्व और माया कहते हैं। अविद्या सभी लोगों के मत में प्रहातव्य है। बौद्ध लोग इसका प्रहाण शून्यताज्ञान या नैरात्म्यज्ञान के द्वारा मानते हैं, जब कि वेदान्तादि इसका प्रहाण आत्मचिन्तन या निदिध्यासन आदि से मानते हैं। "अद्वैत तत्त्व" दोनों मतावलम्बियों में मान्य है। परन्तु एक उसे आत्मतत्त्व, नित्य, कूटस्थ, चैतन्य स्वरूप मानते हैं और दूसरा उसे शून्य, निःस्वभाव, एवं परमार्थसत्य स्वरूप मानते हैं। इसी बात को आचार्य गौडपाद बड़े सुन्दर ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(माण्डूक्यकारिका २ : ३२)

इस कारिका से लगता है कि यहाँ पर नागार्जुन और गौडपाद का एक स्वर हो गया है। भाष्यकार ने **"द्वैतस्यासत्त्वात्"** कहकर द्वैत की असत्ता को लेकर विज्ञानवादी पक्ष में इसकी व्याख्या की है। यहाँ पर भाष्यकार भी वसुबन्धु से घुलमिल गये। वसुबन्धु कहते हैं कि—**"प्रथमो लक्षणेनैव निःस्वभावः"** इत्यादि। यहाँ पर "लक्षण" से तात्पर्य "द्वैत के निमित्त" से है। अन्यत्र आचार्य गौडपाद अपने विज्ञानवाद की स्थापना करते हुए परमार्थ का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम्॥

(माण्डूक्यकारिका ४ : ४५)

इसी बात को आचार्य वसुबन्धु इस प्रकार कहते हैं :—

यदात्वालम्बनं ज्ञानं नैवोपलभते तदा।
स्थितं विज्ञानमात्रत्वे ग्राह्याभावे तदग्रहात्॥ (त्रिंशिकाविज्ञप्ति० २७)

इसी अवस्था को सब लोग शान्त एवं निष्प्रपञ्च स्थिति कहते हैं। जिस समय "मन" सभी वृत्तियों से विरहित हो जाता है और सभी प्रकार के आलम्बनों का क्षय हो जाता है, उस समय वह परम शान्ति को प्राप्त हो जाता है। जैसे कारिका में कहा गया है :—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ (माण्डूक्य० ३ : ४६)

इसी को आचार्य शान्तिदेव इस प्रकार कहते हैं :—

यदा न भावो नाभावो मतेः सन्तिष्ठते पुरः।
तदान्यगत्यभावेन निरालम्बा प्रशाम्यति ॥ (बोधिचर्यावतार ३५)

उपर्युक्त उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी लोग सन्मार्ग के आलम्बन के रूप में एक परमार्थ "तत्त्व" का निर्धारण करते हैं, इसमें कोई मतभेद नहीं है। परन्तु परमार्थ के स्वरूप के सम्बन्ध में बौद्ध और बौद्धेतरों में अत्यन्त भेद है, जिसके आधार पर उन दोनों को सारी स्थिति भिन्न हो जाती है।

(ख) मार्ग या प्रतिपद् के बारे में बौद्ध लोग दस भूमियाँ, पाँच प्रकार के मार्ग, नौ प्रकार की समापत्तियाँ आदि की व्यवस्था करते हैं। इसी प्रकार औपनिषदिक परम्परा वाले भी सुषुप्ति अवस्था से लेकर मन या चित्त के अनेक स्तरों की व्याख्या करते हैं। अन्तिम समाधि निर्विकल्पसमाधि है, जिसमें ब्रह्म का साक्षात्कार होता है। इस समाधि के स्वरूप का वर्णन करते हुए श्रीमद्विद्यारण्य मुनि लिखते हैं कि :—

यथा दीपो निवातस्थ इत्यादिभिरनेकधा।
भगवानिममेवार्थमर्जुनाय न्यरूपयत् ॥ (पञ्चदशी १ : ५८)

अर्थात् निर्विकल्पसमाधि की अवस्था में चित्त की स्थिति वैसी ही होती है, जैसी वातरहित दीपक की स्थिति होती है। इस प्रकार की समाधि का वर्णन बौद्ध "प्रतिपद्-संहिता" में भी उपलब्ध है। परन्तु बौद्ध मार्गसंहिता में यह समाधि वही समाधि है, जो नौ प्रकार की चित्त अवस्थाओं के अन्तर्गत आने वाली समाधि है। यह समाधि निर्विकल्प एवं अनाभोगिक रूप से समापन्न होती है। इसका उल्लेख करते हुए आचार्य मैत्रेयनाथ ने लिखा है : —

"ततश्च साभिसंस्कारां चित्ते स्वरसवाहिताम्।
लभेतानभिसंस्कारात् तदभ्यासात् पुनर्यतिः ॥ इति।
(महा० सूत्रा० १४ : १४)

यद्यपि औपनिषदिक मार्ग-व्यवस्था में ज्ञानमार्ग का उल्लेख स्पष्टतः मिलता है, किन्तु सम्भारमार्ग की चर्चा सम्भवतः नहीं है। अतः फल के सम्बन्ध में भी कोई रूपी काय की चर्चा नहीं है और मुक्ति के बाद चित्त सर्वथा के लिये शान्त हो जाता है। किन्तु बौद्धों के साधनाक्रम में दोनों मार्गों का स्पष्टतया उल्लेख है। इसके प्रसङ्ग में पारमिताओं की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। उनमें से प्रज्ञापारमिता के अतिरिक्त अन्य सब पारमिताएँ सम्भारमार्ग हैं। फल की अवस्था में दोनों प्रकार के कायों (रूपी काय और धर्मकाय) की कल्पना सर्वविदित है।

(ग) "फल" के विषय में बौद्ध लोग जिस प्रकार की कल्पना करते हैं, वैसा अन्यत्र नहीं मिलता। बौद्धों के मत के अनुसार प्रत्येक जीव को "बुद्धत्व" पद प्राप्त हो सकता है। सभी बुद्धों की स्थिति वैसी ही होगी, जैसी गौतम बुद्ध की है। बुद्धत्व प्राप्ति के बाद सत्त्वार्थ के लिये किये जाने वाले सभी प्रकार के कार्य अनाभोगिक रूप से प्रचलित होते हैं, जैसे आचार्य मैत्रेयनाथ कहते हैं :—

असंस्कृतमनाभोगमपरप्रत्ययोदितम्।
बुद्धत्वं ज्ञानकारुण्यशक्त्युपेतं द्वयार्थवत् ॥ (उ० त० (५))

इन गुणों से युक्त होने से बुद्ध के निर्वाण को अप्रतिष्ठित निर्वाण कहते हैं। यह एक विशेष प्रकार का निर्वाण है। साधारणतया सभी प्रकार के दुःखों के अनागमन को ही फलावस्था या निर्वाण कहते हैं। जैसे--पालि-अभिधर्म में कहा गया है--

"वानसंखाताय तण्हाय निक्खन्तत्ता निब्बानं ति पवुच्चति"

अर्थात् "वान" नामक तृष्णा से निर्गत होने के कारण निर्वाण कहा जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य गौडपाद परमफल या लक्ष्य का निर्देश करते हुए कहते हैं—

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजातिसमतां गतम् ॥ (माण्डूक्य० ३ : ३८)

अर्थात् जिस अवस्था में किसी प्रकार का चिन्तन नहीं है और किसी तरह का ग्रहण और त्याग भी नहीं है, उस अवस्था में आत्मनिष्ठ ज्ञान जन्मरहित और समता को प्राप्त हुआ रहता है। इस प्रकार की स्थिति को अस्पर्शयोग कहा गया है। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त दुर्लभ एवं गम्भीर होता है। जिससे योगी इसमें भय देखने लगता है। जैसे कहा गया है :—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ इति। (माण्डूक्य० ३ : ३९)

इसकी व्याख्या करते हुए भाष्यकार कहते हैं कि—**"अस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु ।"** यद्यपि इस सन्दर्भ में उपनिषदों में यदा कदा उल्लेख मिलता है। कठोपनिषद् में इसे "परमगति" कहा गया है—

"यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥ (कठ० २।६।१०)

भाष्यकार ने लिखा है कि **"न विचेष्टते न व्याप्रियते, तामाहुः परमां गतिम्"** इसी बात का उल्लेख ब्रह्मविन्दूपनिषद् में भी मिलता है। योगसूत्र में इसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है, यथा—**"न तत्र किञ्चित् सम्प्रज्ञायते इत्यसम्प्रज्ञातः ।"** इनके अतिरिक्त उपनिषदों में इस योग का उल्लेख केवल प्रकारान्तर से ही मिलता है। इतना ही नहीं, अस्पर्शयोग शब्द का प्रयोग सम्भवतः उपनिषदों में कहीं नहीं मिलता। इसकी परिभाषा एवं व्याख्या उपनिषद् वाङ्मय में नहीं के बराबर है। इसके विपरीत बौद्धवाङ्मय में इसकी व्याख्या एवं विवेचन सविस्तर उपलब्ध है। स्वयं आचार्य ने प्रकरणान्तर में कहा है :—

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥
अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥ इति ॥
(माण्डूक्य० ४ : १-२)

इन कारिकाओं को देखने से लगता है कि आचार्य ने यहाँ पर बुद्ध की अस्पर्शयोग के उपदेशक के रूप में वन्दना की है। यद्यपि भाष्यकार ने इन कारिकाओं की व्याख्या नारायण की वन्दना आदि के पक्ष में की है। परन्तु यह कारिका कुछ थोड़े शब्दान्तरों के साथ बौद्ध ग्रन्थों में बहुधा मिलती है। **"द्विपदां वरम्"** शब्द का प्रयोग नारायण के लिये उपयुक्त नहीं है, अपितु यह शत-प्रतिशत बुद्ध के लिये ही उपयुक्त प्रतीत होता है। क्योंकि यहाँ पर द्विपद शब्द मनुष्य का वाचक है और नारायण मनुष्य-श्रेष्ठ नहीं है। ऋग्वेद काल से ही इस शब्द का प्रयोग मनुष्य के लिये होता है—

"शन्नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ।" (१०।१९५-१)

महाभारत के वनपर्व में कहा गया है—

"नैषधो द्विपदां वर" इति ।

पालि-त्रिपिटक में भी कहा गया है—**"नरो द्विपदुत्तमो पुरिसुत्तमो"** इति। इस प्रकार **द्विपदां वरम्"** शब्द का प्रयोग बौद्ध वाङ्मय में सर्वथा बुद्ध के लिये होता

है। इसके अतिरिक्त इस कारिका के अन्य विशेषण भी सौगत शास्त्रों में सर्वत्र चर्चित हैं। जैसे लङ्कावतारसूत्र में—

"अनिरुद्धा अनुत्पन्ना प्रकृत्या गगनोपमा इति" (लङ्कावतार १० : १७२)

इसी प्रकार आचार्य अनङ्गवज्र कहते हैं—

निरालम्बपदे प्रज्ञा निरालम्बा महाकृपा ।
एकीभूता धिया सार्धं गगने गगनं यथा ॥
(अद्वयवजसंग्रहे)

अस्पर्शयोग का विवेचन अन्यत्र नहीं मिलता और बौद्ध शास्त्रों में इसका विशद वर्णन मिलना इस बात को सिद्ध करता है कि इस योग के उपदेशक बुद्ध ही हैं। अस्पर्शयोग बौद्धों के प्रसिद्ध अनुपूर्व विहार ध्यानों में अन्तिम (नवम) ध्यान है। इसकी देशना बुद्ध ने की। जैसे अङ्गुत्तरनिकाय में कहा गया है—

नविमे भिक्खवे, अनुपुब्बविहारा । "नविमे भिक्खवे, अनुपब्बविहारसमापत्तियो देसिस्सामि" इत्यादि। ऊपर सूत्रों में निर्दिष्ट नौ अनुपूर्व ध्यान इस प्रकार हैं—चार रूपी ध्यान, यथा प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान। तथा चार अरूपी ध्यान—जैसे आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन और नैव-संज्ञानासंज्ञायतन। नवम संज्ञावेदितनिरोधसमापत्ति है। इस 'संज्ञावेदितनिरोध' नामक ध्यान में न केवल संज्ञा, वेदना का ही अभाव है, अपितु स्पर्श से लेकर सभी चैतसिकों का निरोध होता है। इसमें सभी प्रकार की वृत्तियों का निरोध या अवसान हो जाता है। यह परमानन्दस्वरूप एवं शान्त विहार है। यह अस्पर्शविहार है, अर्थात् यह स्थूल सुखवेदनादि से रहित है। यह भवाग्रज शुभ है। आर्यों के प्रयोग द्वारा प्राप्य है। जैसे आचार्य वसुबन्धु कहते हैं—

"निरोधाख्या तथैवेयं विहारार्थं भवाग्रजा ।
शुभा द्विवेद्याऽनियता चार्यस्याप्या प्रयोगतः ॥ (अभिधर्मकोश, २ : ४३)

इस योग को अस्पर्श इसलिये कहते हैं, क्योंकि इसमें निरोध्य चैतसिक धर्मों में सर्वप्रथम 'स्पर्श' है। इसके निरोध से सभी चैतसिक स्वतः निरुद्ध हो जाते हैं। जैसे आर्यसन्धिनिर्मोचनसूत्र में कहा गया है—

"स्पर्शसमुदयाद् वेदनासमुदयः स्पर्शनिरोधाद्वेदनानिरोधः । इति ।

अर्थात् वेदनादि अन्य चित्त-चैत्त, स्पर्श का अनुविधान करते हैं। स्पर्श से तात्पर्य संसर्ग है। जैसे मध्यमकवृत्ति में कहा है—**"स्पृश्यत इति स्पर्शः, तथा च त्रयाणां सन्निपातः सङ्गतिः स्पर्शः"** इति। निमित्तप्रकरण में भी कहा गया है—**"त्रिक-**

सन्निपातलक्षणः स्पर्शः" इति। त्रिक सन्निपात से अभिप्राय इन्द्रिय, विषय और विज्ञान का कार्यकारणभाव से समवस्थान है। जैसे आचार्य स्थिरमति कहते हैं— **"इन्द्रियविषयविज्ञानानि त्रीण्येव त्रिकम्। स्पर्शः कार्यकारणभावेन समवस्थानं त्रिकसन्निपातः"** इति। यही नियम चक्षुरादि सभी विज्ञानों के सन्दर्भ में कहा जा सकता है, जैसे आर्यनागार्जुन कहते हैं—

"सन्निपातस्त्रयाणां यो रूपविज्ञानचक्षुषां।
स्पर्शः सः ॥" (माध्य० का० २६ : ५)

इस प्रकार की वृत्तियों से रहित या विरह होने के कारण उपर्युक्त समापत्ति को अस्पर्शसमापत्ति या अस्पर्शयोग कहा जाता है। इस सम्बन्ध में आचार्य विधुशेखर लिखते हैं कि—**"भृशं दुःखाधिगम्यत्वात् स निरोधोऽस्पर्शयोग इति"**।

इस प्रकार की समाधि की प्राप्ति के लिए योगी को किस प्रकार की भावना करना चाहिए, इसका विवरण देते हुए आचार्य लिखते हैं—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः।
सकषायं विजानीयाच्छमप्राप्तं न चालयेत्॥ (माण्डूक्य० ३ : ४४)

अर्थात् यदि चित्त सुषुप्ति में लीन होने लगे, तो उसे उद्बोधित करना चाहिए। यदि अधिक उद्बोधित होने से विक्षिप्त होने लगे तो उसे पुनः शान्त करना चाहिए। ठीक यही बात आर्य मैत्रेयनाथ अपने महायानसूत्राङ्कार में लिखते हैं—

"लीनं चित्तस्य गृह्णीयादुद्धतं शमयेत्पुनः।
शमप्राप्तमुपेक्षेत तस्मिन्नालम्बने पुनः॥" (महा० सूत्रा० पृ० ८९)

जब चित्त उपर्युक्त सभी प्रकार के समाधि के दोषों से विरहित हो जाता है और प्रपञ्च के निमित्तों से व्यावृत्त हो जाता है, तब आनेञ्ज्य समापत्ति में स्थित हो जाता है, और योगी परम शान्ति में विहार करने लगता है। आगे आचार्य लिखते हैं—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ (माण्डूक्य० ३ : ४६)

यही अवस्था परमशान्त, सुखोत्तम एवं सर्वज्ञ की अवस्था कही जाती है।

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम्।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते॥ (माण्डूक्य० ३ : ४७)

इसी बात को आचार्य अश्वघोष इस प्रकार से प्रस्तुत करते हैं—

दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
एवं कृती निवृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्॥
(बुद्धचरितम्)

इस प्रकार गौडपादीय कारिका में निर्दिष्ट सभी विषय प्रायः बौद्धों के ग्रन्थों में सविस्तर उपलब्ध हैं। इसमें यदा कदा परस्पर खण्डन-मण्डन भी हैं; पर वे केवल आन्तरिक मतभेदमात्र ही प्रतीत होते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों से यह भी मालूम होता है कि इस ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय उपनिषदों की अपेक्षा बौद्धों के अधिक निकट है। इसमें उपलब्ध आत्मा, ब्रह्म आदि शब्दों के प्रयोगों के कारण इसे बौद्धेतर सिद्ध नहीं किया जा सकता। इतना ही नहीं, बौद्धों में भी इन शब्दों का प्रयोग बहुधा उपलब्ध होता है। जैसे अभिधर्मकोष में कहा गया है—

"ब्राह्मण्यं ब्रह्मचक्रं च तदेव ब्रह्मवर्तनात्।"

इसकी स्ववृत्ति में भी—**"क्लेशानां वाहनाद् ब्राह्मण्यं, ब्रह्मचक्रं तु अनुत्तरं ब्राह्मण्ययोगात् भगवान् ब्रह्मा इति।"** यहाँ पर ब्रह्मा से तात्पर्य दुःखों के निर्गत अवस्था से है। साथ ही भगवान् को भी ब्रह्म कहा गया है। सूत्रों में भी कहा गया है कि—**"एष हि भगवान् ब्रह्मा इत्यपि शान्तः शीतीभूत इत्यपि"**। इसके अतिरिक्त "ओं"-कार की व्याख्या बौद्ध तान्त्रिक आगमों में विशद रूप से उपलब्ध है और "माण्डूक्यपाद" नामक एक महान् सिद्ध व्यक्ति भी बौद्ध तान्त्रिक परम्परा में सर्वत्र चर्चित है। इसके मूलागम में "ओं"कार के संकेत द्वारा निर्दिष्ट साधना भी सम्बन्धित कारिका द्वारा प्रतिपादित साधना से बहुत कुछ भिन्न नहीं प्रतीत होती है। "ओं"-कार द्वारा निर्दिष्ट साधना साधारण साधना से भिन्न है। अर्थात् यह विशेष तान्त्रिक साधना है। "ओं"कार विशेष तान्त्रिक साधना प्रक्रियाओं का प्रतीक है। जैसे तन्त्रों में कहा गया है—

"ओं"कारं बुद्धकायाग्रचं आः कारं वाक्पथं तथा।"

इत्यादि। इसी प्रकार आचार्य ने भी "ओं" कारवेत्ता को मुनि कहा है।

आगे आचार्य ने अस्पर्शयोग की उपयोगिता एवं दुर्गमता बताते हुए कहा है कि इसमें योगियों को भय का दर्शन होता है—

"अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः॥" (माण्डूक्य० ३ : ३९)

भाष्यकार ने कहा है कि—"आत्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति ········भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीलाः" इत्यादि।

यहाँ पर आत्मनाश का दर्शन क्यों होता है ? इसके कारणों का स्पष्ट उल्लेख वेदान्त वाङ्मय में नहीं मिलता। इसके विपरीत इसके कारणों का सविस्तर उल्लेख महापरिनिर्वाण सूत्र में उपलब्ध है। ऐसी स्थिति में यह सन्देह होने लगता है कि यह ग्रन्थ किसी समय बौद्धों का ही तो नहीं था। इसमें एक जगह 'मन' की भी 'ब्रह्मत्व' स्थिति बतायी गयी है, जो वेदान्त दर्शन के सर्वथा प्रतिकूल है और बौद्धों से सर्वथा सम्मत है, यथा—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥ इति। (माण्डूक्य० ३ : ४६)

जो कुछ भी हो सभी भारतीय साधना परम्परा के लोग एक परमतत्त्व की कल्पना करते हैं। उस परमतत्त्व को सभी लोग अपने अपने साधना का केन्द्र विन्दु मानते हैं। इसी केन्द्र बिन्दु से सब लोग अपने-अपने आशय एवं लक्ष्य की पूर्ति मानते हैं। यही भारतीय संस्कृति का रहस्य है। इसी बात को भागवत में इस प्रकार कहा गया है—

वदन्ति यत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते॥ (श्रीमद्भागवते)

इस प्रकार अभिधान की दृष्टि से चाहे बौद्ध हो, चाहे औपनिषदिक और चाहे कोई अन्य, सब लोगों की साधना पद्धति में समानता स्पष्ट परिलक्षित होती है। अभिधेय या वस्तुस्वरूप की दृष्टि सब लोगों में एक दूसरे से न केवल भिन्न ही, अपितु एक दूसरे से भयङ्कर विरुद्ध है। बौद्ध परमपद की प्राप्ति नैरात्म्यज्ञान एवं निरालम्ब करुणा की युगल साधना से मानते हैं। इसमें एक कूटस्थ वस्तु के लिये कोई स्थान नहीं है, जबकि वैदिक परम्परा 'परमपद' की प्राप्ति आत्मतत्त्व के ज्ञान से मानते हैं। इस मत के अनुसार जीव के अतिरिक्त एक कूटस्थ आत्मा की सत्ता होती है, जो वृत्तियों से विरह होने पर ब्रह्मत्व में स्थित हो जाती हैं। यह कहना कठिन है कि इन मतभेदों के अन्दर क्या तत्त्व छिपा है। आज ये सारी बातें बौद्धिक एवं ऐतिहासिक घटनामात्र बन गई हैं। हमारी भौतिक आवश्यकताओं ने जीवन एवं साधना के बीच एक खाई खड़ी कर दी है। आवश्यकता इस बात की है कि उपर्युक्त साधना के विधि-विधानों से मनुष्य लाभान्वित हो सके। प्रश्न यह है कि उक्त साधना आज के परिवेश में मानवजीवन के लिये क्या योगदान कर सकती है ?

• • •

बौद्धयोग एवं साधना का सामान्य स्वरूप तथा महायानयोग और तन्त्रयोग

श्री थुबतन छोगडुब शास्त्री

या सर्वज्ञतया नयत्युपशमं शान्तैषिणः श्रावकान्।
या मार्गज्ञतया जगद्धितकृतां लोकार्थसम्पादिका॥
सर्वाकारमिदं वदन्ति मुनयो विश्वं यया सङ्गताः।
तस्यै श्रावकबोधिसत्त्वगणिनो बुद्धस्य मात्रे नमः॥

आज भौतिक प्रगति चरम सीमा पर पहुँच गई है। मनुष्य ने चन्द्रमा पर कदम रख लिया है। वैज्ञानिक औद्योगिकी (Technol ogy) ने आश्चर्यजनक प्रगति की है और निःसन्देह विकसित होती रहेगी। किन्तु मनुष्यों की मानसिक अशान्तियाँ दूर नहीं हुई हैं। अतः यह स्पष्ट होता है कि मनुष्यों को स्थायी सुख प्रदान करने वाली आध्यात्मिक प्रगति ही है। आध्यात्मिक साधना द्वारा प्राप्त सुख तथा शान्ति सबसे महान सुख है और वही मनुष्यों के दुःख दूर करने में समर्थ है। विविध धर्मों ने इसको पाने के लिए अपनी-अपनी साधना या मार्ग दिखाए हैं।

बौद्ध धर्म में साधना तथा योग का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि उनका मोक्ष ही एक मात्र अन्तिम लक्ष्य है। मुक्ति की प्राप्ति साधना तथा योग के बिना असम्भव है, अतः सभी बौद्ध निकायों की अपनी-अपनी साधना पद्धतियाँ हैं। श्रावक-नय, पारमितानय एवं तन्त्रनय इस प्रकार त्रिविध साधना मार्ग हैं।

उद्देश्य

बौद्ध साधना का अर्थ किसी देवता को खुश करना नहीं होता और न ही लौकिक वरदान प्राप्त करना उसका उद्देश्य है, अपितु सभी बौद्ध साधक चाहे वे श्रावक वर्ग के हों, चाहे महायान वर्ग के हों, उनको साधना का उद्देश्य मोक्ष होता है। विविध दुःखों से निवृत्त होकर निर्वाण की प्राप्ति के लिए साधना को जाती है। यद्यपि श्रावक तथा महायान दोनों का उद्देश्य निर्वाण है, तथापि दोनों के निर्वाण में अत्यधिक अन्तर है। इसलिए साधना में भी दोनों में बहुत अन्तर होना स्वाभाविक है।

आधार

बौद्ध साधना एवं योग का आधार शील होता है, क्योंकि शीलवान् व्यक्ति का चित्त ही साधना एवं योग के अनुकूल होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर ही भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम अधिशील शिक्षा का उपदेश किया है।

आलम्बन

साधना एवं योग मानसिक वस्तु हैं, अतः उनका आलम्बन होता है। बौद्ध साधना के आलम्बन विविध प्रकार के होते हैं, किन्तु सामान्यतः चार आर्य सत्य ही उनके आलम्बन होते हैं।

साधना

साधना समाधिप्रधान होती है। महायान-योग शास्त्रों में इसे प्रतिपत्ति कहा जाता है। परम उद्देश्य को सिद्ध करने वाला मार्ग ही साधना है। "चित्तस्थापन" से लेकर "वज्रोपम समाधि" तक के समस्त मार्ग साधना हैं।

योग

साधक को जब शमथ प्राप्त होता है, तब उसका चित्त नियत आलम्बन में निश्चल तथा एकाग्र हो जाता है और कायप्रश्रब्धि तथा चित्तप्रश्रब्धि की प्राप्ति होती है। उस समय "योग" की अवस्था प्रारम्भ होती है। अतः शमथ से "वज्रोपम समाधि" तक सभी मार्ग "योग" कहलाते हैं।

समाधि का स्वरूप

प्राणियों का चित्त अत्यन्त चञ्चल होता है। वह किसी एक आलम्बन में अधिक देर तक निर्विघ्नरूप से स्थित नहीं रह पाता। अभ्यास द्वारा उसकी एकाग्रता साधी जाती है। जब चित्त किसी कुशल आलम्बन में विक्षेप या चाञ्चल्य का त्याग कर एकाग्र हो जाता है, तो चित्त की उस एकाग्रता को ही "समाधि" कहते हैं। यद्यपि समाधि के अनेक प्रकार होते हैं, परन्तु सब शमथ एवं विपश्यना के अन्तर्गत होते हैं।

शमथ

किसी भी शुभ आलम्बन में अविक्षिप्त भाव से एकाग्र रहते हुए चित्त का कायप्रश्रब्धि और चित्तप्रश्रब्धि से संयुक्त रहना, शमथ का स्वरूप है। शमथ-सिद्धि के स्थान आदि अनेक हेतु होते हैं। शब्द ध्यान का प्रमुख कण्टक है। अतः ध्यान के लिये शब्दरहित स्थान अपेक्षित होता है। जल, वायु तथा भूमि आदि समस्त वातावरण अनुकूल होना चाहिए। ध्यान के अभिलाषी साधक को अल्पेच्छ, सन्तुष्ट, कायद्वार और वाग्द्वार में संयमी, भावनीय अर्थ (विषय) को श्रुत, चिन्ता द्वारा जानने वाला होना चाहिए और काम के आदीनव का ज्ञाता तथा अनित्यता आदि का जानकार होना चाहिए।

शमथ-सिद्धि के विघ्न

शमथ सिद्ध करने के लिये अनेक विघ्न या दोष हटाने होते हैं। उनमें से मुख्य पाँच विघ्न होते हैं। उन्हें 'अत्यय' भी कहते हैं। शमथ-सिद्धि के लिये इनका प्रहाण आवश्यक है। इनके प्रहाण के लिये अष्ट संस्कारों का सेवन किया जाता है।

आर्य मैत्रेयनाथ ने कहा है—

पञ्चात्ययप्रहाणात् संस्काराष्टकसेवनात्।
सम्भव··· ॥

पहला अत्यय 'कौसीद्य' (आलस्य) है, जो समाधि के उत्साह को हीन करने वाला होता है। दूसरा अत्यय 'मुषिता स्मृति' है जो आलम्बन को विस्मृत करने वाली होती है। तीसरा अत्यय निमग्न तथा औद्धत्य हैं। निमग्न वह चैतसिक है, जो चित्त को आलम्बन में डुबो देता है। यह एक प्रकार का अटकाव है, जो आगे की प्रगति का विरोधी है। समाधि के लिये आवश्यक है कि आलम्बन को सदा स्मृति बनी रहे, साथ ही चित्त उसमें डूबे नहीं, अपितु चित्त में एक प्रकार की जागरूकता सदा बनी रहे, जिससे आलम्बन के गुण-दोषों का विचार किया जा सके और समाधि के पथ पर आगे बढ़ा जा सके। औद्धत्य चित्त की चञ्चलता है। इसके कारण चित्त एक आलम्बन में स्थित नहीं रह पाता। ये दोनों ही जागरूकता के विरोधी हैं। चौथा अत्यय 'संस्कारासेवन' है। उपर्युक्त निमग्न और औद्धत्य के होने पर उनके प्रतिपक्ष का सेवन न करना 'संस्कारासेवन' कहलाता है। पाँचवाँ अत्यय 'संस्कारसेवन' है। निमग्न और औद्धत्य के शान्त हो जाने पर भी प्रतिपक्ष का सेवन करते रहना 'संस्कारसेवन' है। ये पाँच समाधि के मुख्य दोष हैं।

अत्ययों के प्रतिपक्ष

समाधि की उक्त बाधाओं को हटाने वाले प्रतिपक्ष आठ होते हैं। जिन्हें 'अष्टसंस्कार' कहते हैं। पहला संस्कार 'श्रद्धा' है, जो समाधि के गुणों को देखनेवाली होती है। दूसरा संस्कार 'छन्द' है, जो समाधि के प्राप्य अर्थ को चाहने वाला होता है। तीसरा 'वीर्य' है, जो समाधि के प्रति प्रवृत्त होने में उत्साह का अनुभव करने वाला होता है। चौथा 'प्रश्रब्धि' है। प्रश्रब्धि दो प्रकार की होती है। काय-प्रश्रब्धि तथा चित्तप्रश्रब्धि। काय तथा चित्त की लघुता एवं कर्मण्यता क्रमशः कायप्रश्रब्धि तथा चित्तप्रश्रब्धि है, जो क्रमशः कायदौष्ठुल्य और चित्तदौष्ठुल्य की विरोधी हैं। पाचवाँ संस्कार स्मृति है, जो आलम्बन का सम्यग् ग्रहण करने वाली होती है। छठवाँ संस्कार सम्प्रजन्य है, जो उत्पन्न तथा उत्पन्न होने वाले औद्धत्य एवं निमग्न को जानने वाला होता है। सातवाँ संस्कार संस्कारचिन्तन है, जो समाधि के दोषों के प्रतिपक्षों का चिन्तन करने वाला होता है आठवाँ संस्कार उपेक्षा या अधिवासन है, जो औद्धत्य-निमग्न के शान्त हो जाने पर संस्कारों की उपेक्षा करता है। इन आठ संस्कारों के बिना समाधि या योग-सिद्धि असम्भव है।

चित्त की नौ अवस्थाएँ

ध्यान प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को नाना प्रकार के अभ्यास करने होते हैं। ध्यान या समाधि से पूर्व चित्त नाना प्रकार की अवस्थाओं से गुजरता है। समाधि से पूर्व चित्त की मुख्य अवस्थाएँ ९ होती हैं।

(१) चित्तस्थापन

यह प्रारम्भिक अवस्था है, जिसमें चित्त को अन्य बाह्य आलम्बनों में विक्षिप्त न होने देकर केवल अपने नियत आलम्बन में ही बाँध कर रखा जाता है। उस समय यद्यपि चित्त आलम्बन में स्थित होता है, तथापि वह एक ही आलम्बन में अधिक देर तक स्थित नहीं रह पाता। जिस प्रकार झरने का पानी लगातार बहता रहता है और पूर्व पानी के वह जाने पर उसके स्थान पर नवीन पानी आता रहता है, उसी प्रकार चित्त में नाना प्रकार के विकल्प एक के बाद एक आते रहते हैं। इस अवस्था में साधक को ऐसा मालूम होता है कि मानों चित्त में विकल्पों की बाढ़ आ गयी है। यद्यपि विकल्प उतनी मात्रा में पहले भी उत्पन्न होते थे; किन्तु चित्त के अन्तराभिमुख न होने से उनकी अनुभूति नहीं होती थी। अब चित्त को अन्तराभिमुख कर देने से तथा स्मृति एवं सम्प्रजन्य का अभ्यास शुरू करने से, उन विकल्पों का परिज्ञान होने लगता है। इसी अवस्था से योगाभ्यास प्रारम्भ होता है।

(२) चित्तप्रवाहसंस्थापन

यह वह अवस्था है, जिसमें आलम्बन का पुनः पुनः चिन्तन करने से चित्त-धारा आलम्बन में पहले से कुछ देर अधिक स्थिर रहने में समर्थ हो जाती है।

(३) चित्तप्रतिहरण

यदि चित्त विक्षिप्त हो जाए तो, उसे तत्काल जानकर पुनः मूल आलम्बन में लगा दिया जाता है।

(४) चित्तोपस्थापन

इस अवस्था में चित्त को विस्तृत न होने देकर आलम्बन में ही सीमित किया जाता है।

(५) चित्तदमन

इस अवस्था में विकल्पों एवं क्लेशों के दुष्परिणामों तथा समाधि के गुणों को जानकर चित्त को क्लेशों एवं विकल्पों से बचाकर समाधि में लगाया जाता है।

(६) चित्तशमन

यदि समाधि के प्रति अरति उत्पन्न हो जाए तो, इस अवस्था में चित्त को शान्त किया जाता है।

(७) चित्तव्युपशमन

इस अवस्था में सूक्ष्म भी निमग्न-औद्धत्य के उत्पन्न होने पर तत्काल उनका प्रहाण किया जाता है।

(८) चित्तैकोतीकरण

इस अवस्था में विघ्नों द्वारा बाधा न किये जाने से समाधि, धारा के रूप में प्रवाहित होने लगती है।

(९) समाधान

इस अवस्था में स्मृति और सम्प्रजन्य के सेवन के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। चित्त स्वभावतः आलम्बन में प्रवृत्त होता है। इस नौवीं अवस्था में सूक्ष्म निमग्न-औद्धत्य से भी विमुक्त होकर साधक समाधि में अधिक काल पर्यन्त स्थिर रह सकता है। इस अवस्था में प्रश्रब्धियों की शक्ति भी बहुत अधिक बढ़ती है, जिसके कारण साधक को काय में प्रीतिरस की अनुभूति तथा चित्त में आह्लाद रस की अनुभूति होती है। चित्त की इस नौवीं अवस्था को ही 'उपचार शमथ' कहते हैं। क्योंकि यह शमथ के निकटतम होता है।

महायानसूत्रालंकार में कहा है—

निबन्ध्यालम्बने चित्तं तत्प्रवेधं न विक्षिपेत्।
अवगम्याशु विक्षेपं तस्मिन् प्रतिहरेत्पुनः॥
प्रत्यात्मं संक्षिपेच्चित्तमुपर्युपरि बुद्धिमान्।
ततश्च रमयेच्चितं समाधौ गुणदर्शनात्॥
अरतिं शमयेत्तस्मिन् विक्षेपदोषदर्शनात्।
अभिध्यादौर्मनस्यादीन् व्युत्थितान् शमयेत्तथा॥
ततश्च साभिसंस्कारां चित्ते स्वरसवाहिताम्।
लभेतानभिसंस्कारात् तदभ्यासात् पुनर्यतिः॥

वास्तविक शमथ

अभ्यास के और आगे बढ़ने पर प्रीति और आह्लाद भी क्रमशः क्षीण होने लगते हैं और उपेक्षा का भाव जागृत होने लगता है तथा चित्त आलम्बन में दृढ़ता

पूर्वक स्थित होने लगता है। कायप्रश्रब्धि तथा चित्तप्रश्रब्धि क्रमशः उत्पन्न होती हैं। इस समय साधक की समाधि कामभूमि से सम्बद्ध न होकर ध्यान भूमि के अन्तर्गत हो जाती है और उस समय वास्तविक शमथ की प्राप्ति होती है। इसे ही 'समाध्युपचार-अचलप्रश्रब्धि' कहते हैं, जो रूपधातु के अन्तर्गत प्रथम ध्यान के 'सामन्तक' से सगृहीत होती है। इसी अवस्था में 'योग' प्रारम्भ होता है।

सामन्तक तथा मौल

उसके बाद और आगे अभ्यास करने पर प्रथम-ध्यान मौल की प्राप्ति होती है। सामन्तक और मौल ध्यान की दो अवस्थाएँ हैं। सामन्तक ध्यान की वह अवस्था है, जब वह अपने से नीचे की भूमि के स्थूल क्लेशों का प्रहाण करता है। क्लेशों के प्रहीण हो जाने पर जब सम्पूर्ण ध्यानाङ्ग प्रादुर्भूत होने लगते हैं, तब वह ध्यान के मौल की अवस्था होती है। मौल की प्राप्ति ध्यान की परिपूर्णता है।

आगे और अभ्यास करने पर उससे भी बढ़कर द्वितीय ध्यान की प्राप्ति होती है, तथा उसके बाद तृतीय ध्यान और चतुर्थ ध्यान की अवस्था आती है। उन सभी ध्यानों के भी सामन्तक तथा मौल दो-दो होते हैं। इन्हें 'ध्यान समापत्तियों' की संज्ञा दी जाती है। उनसे भी आगे चार अरूपी समापत्तियों को अवस्थाएँ आती हैं।

इस प्रकार समाधि सिद्धि या योगाभ्यास के कुल नौ स्तर होते हैं। उपर्युक्त चित्तस्थापन से नवमी चित्त-अवस्था (समाधान) तक वे कामधातु के अन्तर्गत हैं। उससे आगे की चार ध्यान समापत्तियाँ रूपधातु के अन्तर्गत होती हैं और अरूपी समापत्तियाँ अरूपधातु के अन्तर्गत होती हैं। इन सभी समापत्तियों की साधना-विधि, ध्यानों के अङ्ग तथा भेद-प्रभेदों का निरूपण थोड़े शब्दों में नहीं हो सकता है। जिज्ञासुओं को अभिसमयालङ्कार, महायानसूत्रालङ्कार, मध्यान्तविभाग तथा अभिधर्मकोश आदि का अध्ययन करना चाहिए, जो योग तथा साधनाओं का विस्तृत प्रतिपादन करते हैं।

छः अभिज्ञाएँ

रूपी समापत्तियों तथा अरूपी समापत्तियों में से केवल रूपी समापत्तियों में ही अभिज्ञा सिद्ध हो सकती है, अरूपी समापत्तियों में नहीं। चारो ध्यानों के मौल के अभ्यास से ही 'अभिज्ञाएँ' सिद्ध की जा सकती हैं। अभिज्ञा का अर्थ अभिमुख या विशिष्ट ज्ञान है, जो अपने विषय को प्रत्यक्षरूपेण जानता है। अभिज्ञा की संख्या छः है और ये ज्ञान की विशेष शक्तियाँ हैं।

(१) पहली अभिज्ञा "दिव्यचक्षु" है, जिसके द्वारा अत्यन्त दूरवर्ती एवं अत्यन्त सूक्ष्म रूप भी देखे जा सकते हैं।

(२) दूसरी अभिज्ञा "दिव्यश्रोत्र" है, जिसके द्वारा अत्यन्त दूरस्थ एवं अत्यन्त मन्द शब्द भी सुने जा सकते हैं।

(३) तीसरी अभिज्ञा "परचित्तज्ञान" है, जो दूसरे प्राणियों के चित्तों को जानने में समर्थ होती है।

(४) चौथी अभिज्ञा "पूर्वनिवासानुस्मृति" है, जिसके द्वारा अपने तथा दूसरों के अनन्त पूर्व जन्मों को, उनके निवास स्थानों को तथा वस्तुओं को जाना जा सकता है।

(५) पाँचवीं अभिज्ञा "च्युत्युपपादज्ञान" है जो प्राणियों की च्युति (मृत्यु) तथा उत्पत्ति को जानने में समर्थ होती है।

(६) छठी अभिज्ञा "ऋद्धि-अभिज्ञा" है, जिसके द्वारा साधक विविध रूपों में अवतरित हो सकते हैं, यह समस्त ऋद्धियों की जननी है। इस प्रकार की ऋद्धियाँ तथा चमत्कार सभी साधकों के एक समान नहीं हैं। जो साधक प्रथम ध्यान ही प्राप्त है तथा उसके द्वारा ऋद्धियाँ सिद्ध की जाती हैं, तो वे ऋद्धियाँ उन ऋद्धियों से कम शक्तिशाली होती हैं, जो द्वितीय ध्यान प्राप्त साधक को द्वितीय ध्यान से प्राप्त होती है। उसी प्रकार द्वितीय से तृतीय अधिक शक्तिशाली है तथा उससे चतुर्थ ध्यान की ऋद्धियाँ अधिक प्रभावशाली होती है। बौद्ध योगी के लिये ऋद्धियाँ तथा चामत्कारिक शक्तियाँ लक्ष्य नहीं है, परन्तु उसके लिये साधनमात्र है। वे प्राप्य अवश्य हैं।

विपश्यना

प्रथम ध्यान के सामन्तक से लेकर 'भवाग्र मौल' तक की सभी समापत्तियाँ लौकिक समाधि हैं। अतः केवल उनके द्वारा मोक्ष प्राप्त नहीं किया जा सकता है। बौद्धमत में मोक्ष की प्राप्ति के लिये नैरात्म्य ज्ञान अनिवार्य है। उपर्युक्त शमथ आदि समापत्तियों का आलम्बन नैरात्म्य को बना दिया जाय तो विपश्यना की अवस्था आती है। विपश्यना से संगृहीत साधना लोकोत्तर साधना होती है।

पाँच मार्ग

बौद्ध साधक को पाँच मार्ग क्रमशः प्राप्त होते हैं :—

पहला मार्ग 'सम्भार मार्ग' है, जो मुक्तिमार्ग की प्रारम्भिक अवस्था का होता है। दूसरा मार्ग 'प्रयोग मार्ग' है, जो नैरात्म्य-साक्षात्कार के समीपस्थ होता

है। इन दोनों मार्गों को 'पृथग्जन मार्ग' कहते हैं। क्योंकि इनकी अवस्था में गुजरने वाले साधक पृथग्जन हुआ करते हैं। पृथग्जन वह व्यक्ति होता है, जो नैरात्म्य को प्रत्यक्षतः नहीं जानता है। उपर्युक्त दोनों मार्गों में स्थित व्यक्ति नैरात्म्य को परोक्ष रूप से जानता है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं जानता है।

तीसरा मार्ग 'दर्शन मार्ग' है, जो नैरात्म्य को प्रत्यक्ष रूप से जानता है। उस समय नैरात्म्य का साक्षात्कार होता है। दर्शनमार्गप्राप्त साधक से लेकर बुद्ध तक के सभी व्यक्ति 'आर्यपुद्गल' कहलाते हैं।

नैरात्म्य का साक्षात्कार होते ही मुक्ति नहीं मिलती है, अपितु आगे बहुत से मार्ग प्राप्त करने होते हैं तथा क्लेश आदि का प्रहाण करना होता है। अतः दर्शन मार्ग के बाद चौथा मार्ग 'भावना मार्ग' है। जो भावनाहेयों का प्रहाण करता है। उसका अन्तिम मार्ग 'वज्रोपम समाधि' है, जिसके दूसरे क्षण में ही मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष प्राप्त साधक को अर्हत् कहते हैं। अर्हत् अवस्था में जो समाधि या ध्यान-भावना आदि होती हैं, उनका नाम 'अशैक्ष मार्ग' है, अशैक्षमार्ग वस्तुतः मार्ग नहीं है, अपितु वह फल है और साधना का लक्ष्य है।

पारमितायान-साधना का विशिष्ट उद्देश्य

पहले कहा गया है कि बौद्ध साधना का लक्ष्य मुक्ति ही है। मोक्ष या निर्वाण के दो प्रकार हैं।

पहला श्रावक निर्वाण है, जो केवल सास्रवकर्म तथा क्लेशावरण की निवृत्ति मात्र है। दूसरा महायान निर्वाण है, जो ज्ञेयावरण का भी अभाव होता है और साथ ही उस समय सर्वज्ञ ज्ञान की प्राप्ति होती है। उस प्रकार का निर्वाण और सर्वज्ञज्ञान प्राप्त व्यक्ति बुद्ध कहलाता है। बुद्ध-अवस्था में सर्वज्ञज्ञान और महाकरुणा अद्वय होते हैं, जिससे सकल जगत् का कल्याण सम्पन्न होता है। यही बुद्धत्व महायान साधना का लक्ष्य है, क्योंकि महायानी समस्त प्राणियों को स्थायी सुख प्रदान करना चाहते हैं।

महायान साधना का प्रारम्भ

महायान मार्ग का प्रारम्भ बोधिचित्तोत्पाद से होता है। बोधिचित्तोत्पाद प्राप्त व्यक्ति को ही महायानी कहते हैं। महायान की समस्त साधना, ध्यानभावना तथा मार्गाभ्यास बोधिचित्तोत्पाद से प्रेरित होते हैं।

बोधिचित्तोत्पाद से सर्वज्ञता पर्यन्त विभिन्न अवस्थाओं के वर्गीकरण करने पर चार मार्ग होते हैं। महायान सम्भार मार्ग, महायान प्रयोग मार्ग, महायान दर्शन

मार्ग तथा महायान भावना मार्ग, ये चार हैं। प्रथम तथा दूसरे मार्ग की अवस्थाओं में समस्त ध्यान, समापत्तियाँ तथा अरूपी-समापत्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

विशिष्ट विपश्यना

पहले कहा गया है कि विपश्यना नैरात्म्यविषयक होती है। नैरात्म्य दो प्रकार का होता है। पुद्गलनैरात्म्य तथा धर्मनैरात्म्य। श्रावकनय में केवल पुद्गल-नैरात्म्यविषयक विपश्यना होती है। परन्तु महायान में शून्यताविषयक-विपश्यना भी होती है। महायान प्रयोगमार्ग के बाद जब शून्यता या निस्स्वभाव का साक्षात्कार होता है, तो दर्शनमार्ग की अवस्था आती है। उस समय शून्यता का प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। तत्त्व के साक्षात्कारमात्र से मुक्ति नहीं होती, आगे और अधिक मार्गाभ्यास करने होते हैं। अतः दर्शन मार्ग के पश्चात् भावना मार्गों की अवस्था आती है। दशभूमियों की प्राप्ति भी इसी मार्गक्रम में होती है। भावना मार्ग का अन्तिम मार्ग 'महायान वज्रोपम समाधि' कहलाती है, जिसके दूसरे क्षण में ही बुद्धत्व की प्राप्ति होती है।

समाहितज्ञान एवं पृष्ठलब्धज्ञान

महायानी आर्यों का ज्ञान दो प्रकार का होता है। परमार्थ या शून्यता को प्रत्यक्षरूपेण जानने वाला ज्ञान तथा सांवृतिक वस्तुओं को जानने वाला ज्ञान। पहला ज्ञान समाहित ज्ञान कहलाता है तथा दूसरा ज्ञान पृष्ठलब्धज्ञान कहलाता है। बुद्धावस्था से पूर्व के समाहित ज्ञान केवल परमार्थ सत्य को जानते हैं, वे घट-पट आदि सांवृत्तिक पदार्थों को नहीं जानते। उससे उठने पर साधक घट-पट व्यक्ति आदि सांवृतिक वस्तुओं को जानते हैं, जिन्हें साधारण व्यक्ति जानते हैं, परन्तु साधक समस्त पदार्थों को मायावत् जानते हैं। इस पृष्ठलब्ध की अवस्था में ही साधक श्रवण, चिन्तन, अध्ययन तथा अध्यापन आदि व्यावहारिक कार्य करते हैं।

द्विविध सम्भार

ऊपर कहा है कि महायान साधना का उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। बुद्धकाय दो प्रकार का है। यथा धर्मकाय और रूपीकाय। धर्मकाय का हेतु परमार्थ सत्य का ज्ञान है, जिसे 'ज्ञानसम्भार' कहते हैं। रूपीकाय का हेतु बोधिचित्तोत्पाद तथा महाकरुणा आदि हैं, जिन्हें 'पुण्यसम्भार' कहते हैं। इस प्रकार प्रज्ञागत साधना एवं उपायगत साधना, ये दो साधना के अनिवार्य अङ्ग हैं।

महायान की विविध साधनाओं की अवस्थाओं में बोधिसत्त्व को अनेक विशिष्ट समाधियाँ, भूमियाँ तथा ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जो बुद्धत्व प्राप्त करने तथा अनन्त प्राणियों के उद्धार के लिये आवश्यक हैं।

तन्त्रयोग की विशेषता

पारमितायान तथा तन्त्रयान दोनों साधनाओं के अन्तिम उद्देश्य (फल) में कुछ भी भेद नहीं है। दोनों का लक्ष्य समान रूप से बुद्धत्व ही है तथा उस बुद्ध के स्वरूप आदि में भी (इन दोनों में) कोई भेद नहीं है, किन्तु बुद्धस्वरूपी फल को प्राप्त करने के उपाय या साधना में इन दोनों में महान् अन्तर है। ऊपर कहा गया है कि बुद्धकाय दो होते हैं। जिस प्रकार बुद्धकाय दो होते हैं, उसी प्रकार उनके असाधारण हेतु भी दो प्रकार के होना स्वाभाविक है। बोधिचित्तोत्पाद तथा महाकरुणा से परिगृहीत 'शून्यताज्ञान' धर्मकाय का असाधारण हेतु है, तथा वह रूपकाय का सहकारी प्रत्यय है। इस विषय में भी दोनों यानों का मत समान है। किन्तु रूपकाय के असाधारण हेतु के विषय में इन दोनों यानों में मौलिक भेद है। पारमितायान में रूपकाय का असाधारण हेतु 'गम्भीर उपाय' न होकर बोधिचित्तोत्पाद एवं (छ) पारमिताएँ मात्र हैं। तन्त्रयान में रूपकाय का असाधारण हेतु गम्भीर तथा विशिष्ट उपाय होता है। साधना की इस असमानता के कारण पारमितायान में बुद्धत्व की प्राप्ति में अनेक जन्म लग जाते हैं। इस यान में एक जन्म में ही बुद्धत्व प्राप्त कर लेना असम्भव है। तन्त्रयान के द्वारा तीक्ष्णेन्द्रिय व्यक्ति एक ही जन्म में या कुछ ही वर्षों में बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है।

गम्भीर साधना

अपने इष्टदेव से योग की भावना ही गम्भीर साधना है, जो रूपकाय का उपादान हेतु है। फल अवस्था में जो रूपकाय की प्राप्ति होने वाली है, उसकी आकृतियाँ एवं स्थान आदि की अपनी आकृति एवं स्थान आदि से समानता की भावना की जाती है।

'रूपकायाकृतितुल्य देवमण्डलयोग' का अभ्यास ही रूपकाय का असाधारण हेतु है, न कि शून्यताज्ञान रूपकाय का असाधारण हेतु है। वह तो धर्मकाय का असाधारण हेतु है। शून्यताज्ञान रूपकाय का सहकारी प्रत्यय है और गम्भीर उपाय धर्मकाय का सहकारी प्रत्यय है। इस तथ्य का प्रतिपादन वज्रपञ्जर के प्रथम परिच्छेद में निम्नलिखित शब्दों में किया है—

शून्यता चेदुपायः स्यान्नैवं बुद्धो भविष्यति।
हेतुफलयोरन्यत्वादुपायः शून्यता न हि॥

देवमण्डलयोग शमथ स्वरूप होता है, और उसके साथ-साथ शून्यता का ज्ञान भी होता है। हम प्राणियों को अपना शरीर और स्थान आदि समस्त पदार्थ साधारण

पदार्थ ही प्रतीत होते हैं। वस्तुओं के प्रति इस 'साधारणता की भावना' ही देवमण्डल योग का विरोधी है, जिसे हटाना परमावश्यक है।

तान्त्रिक साधना की ऊँची अवस्था प्राप्त होने पर 'देवमण्डल योग' तथा शून्यता का साक्षात्कार करने वाली प्रज्ञा अद्वैत या अभिन्न हो जाती हैं और अन्त में वास्तविक धर्मकाय तथा रूपकाय की प्राप्ति हो जाती है।

बौद्ध तन्त्र में विविध देवमण्डल उपदिष्ट हैं। उनमें से किसी भी देवमण्डल योग की भावना करके जब फलावस्था आती है, तो समस्त देवमण्डल योग का भी लक्ष्य पूरा हो जाता है। बौद्ध तन्त्रसाधना का उद्देश्य किसी देवता, जैसे—कालचक्र और वज्रभैरव आदि के पास पहुंचना अथवा जिस स्थान में वे रहते हैं, उस स्थान के अन्दर पहुँचना आदि नहीं है। परन्तु कालचक्र के साधक का कालचक्र के रूप में परिणत होना और वज्रभैरव के साधक का वज्रभैरव हो जाना ही उसका उद्देश्य है। श्री कालचक्र और वज्रभैरव आदि बुद्ध के विभिन्न रूप हैं, जो विविध विनेयजनों के लिये दिखलाए गये हैं।

नाड़ी एवं वायु का संशोधन

यह एक सामान्य नियम है कि वायु द्वारा चित्त विषयों में प्रक्षिप्त हुआ करता है। यदि रक्तवाही, शुक्रवाही और वायुवाही नाड़ियों को मर्माहत किया जाए तो अस्थानों में वायु का गमन रुक जाता है। उसके कारण चित्त भी अस्थानों में प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि उसके संचालक का ही दमन कर दिया गया है। इसलिये खराब कल्पनाएँ समाप्त हो जाती हैं। अतः तन्त्र में शरीर को मर्माहत करने वाला विशिष्ट उपाय तथा शून्यता विषयक प्रज्ञा की युगल साधना की जाती है। इस प्रकार नाड़ी एवं वायु के संशोधन का बड़ा महत्त्व है।

बोधिचित्तोत्पाद, महाकरुणा तथा षट् पारमिताएँ आदि समस्त उपाय भी तन्त्र-साधना के लिये अनिवार्य हैं।

इस प्रकार अधिशील शिक्षा पर अवलम्बित शमथ से लेकर 'तान्त्रिकयोग'पर्यन्त समस्त साधना, योग तथा उनके भेद-उपभेदों का दिग्दर्शन करने का प्रयत्न किया गया है, जो बौद्ध योग शास्त्रों में प्रतिपादित हैं। हम आशा करते हैं कि साधना तथा योगाभ्यास, इस भौतिक सत्ता के संघर्ष के युग में भी लोगों को स्थायी सुख प्रदान करेंगे।

टिप्पणी : एल० जमस्पल

श्रीछोगडुबमहोदय ने अपना निबन्ध बौद्ध साधना का संक्षेप में परिचय कराने के लिये परिश्रम पूर्वक लिखा है। विद्वान् लेखक के इस पवित्र परिश्रम के लिये मैं उनको धन्यवाद देता हूँ।

यद्यपि निबन्ध में अनेक विषयों का समावेश हो जाने से बहुत से स्थलों पर पर्याप्त चर्चा न हो सकी है, तथापि इस निबन्ध से जिज्ञासु पाठकों के मन में संक्षेप में चर्चित विषयों के ऊपर और भी अधिक जिज्ञासा एवं संशय उत्पन्न हो सकते हैं, जो दोनों ही प्रेक्षवान् जनों की ग्रन्थों में प्रवृत्ति के लिये कारण होंगे। यद्यपि लेखक महोदय ने बौद्धों के त्रियानवादी तथा एकयानवादियों के सिद्धान्तों की कुछ भी चर्चा न करके "बौद्धों का मोक्ष ही एक मात्र अन्तिम लक्ष्य है" ऐसा संकेत किया है। जहाँ तक त्रियानवादी का मत है, इस कथन के लिये कोई विरोध नहीं है। परन्तु एकयानवादी मत के अनुसार इस कथन को युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनके मत में मोक्ष प्राप्त होने के बाद भी श्रावक और प्रत्येक बुद्ध दोनों को ही बुद्धत्व प्राप्त करने के निमित्त बोधिसत्त्व के मार्ग में प्रविष्ट होकर प्रयत्न करना पड़ता है। इनके मत में बोधिसत्त्वयान ही एक मात्र यान है और दूसरा नहीं। बोधिसत्त्व तो महाकरुणा के वश से अपनी अर्थसिद्धि के लिये मोक्ष को भी प्राप्य नहीं मानते। आर्यमैत्रेयनाथ ने कहा भी है—प्रज्ञया न भवे स्थानं कृपया न शमे स्थितिः।

बौद्धसाधना में शमथ, विपश्यना और योग इन तीनों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन तीनों के क्रम में लेखक महोदय ने योग को प्रथम रखा और शमथ की अवस्था से योग का प्रारम्भ कहा है। इस क्रम और शमथावस्था से ही योग का प्रारम्भ दोनों को ही हम नहीं मान सकते हैं। योग को शमथ और विपश्यना के अन्त में रखना चाहिये, क्योंकि शमथ और विपश्यना के युगनद्ध ध्यान का ही नाम योग है। इसीलिये योग की प्राप्ति के लिये शमथ और विपश्यना को युगनद्ध होना चाहिए। विपश्यना प्राप्त हुए बिना केवल शमथ की अवस्था में योग बन हो नहीं सकता। उसी को हम योग कह सकते हैं, जिससे क्लेशों का विनाश होता है। शमथ और विपश्यना दोनों में एक दूसरे से वियोग रहने पर किसी भी परिस्थिति में क्लेशों का प्रहाण नहीं किया जा सकता। अतः क्लेशों के प्रहाण के लिये सर्वप्रथम शमथ का उत्पाद करना चाहिए, उसके पश्चात् विपश्यना का, तब ही दोनों का युगनद्ध योग परिपूर्ण हो सकता है। आचार्य शान्तिदेव ने भी कहा है—

शमथेन विपश्यनासुयुक्तः कुरुते क्लेशविनाशमित्यवेत्य।
शमथः प्रथमं गवेषणीयः स च लोके निरपेक्षयाभिरत्या॥

इति शम्

• • •

तत्त्वसिद्धि

श्री एल. जमस्पल

मानवनिर्मित वस्तुओं में से लोगों को आश्चर्य और रहस्य में डालने वाली मुख्यतया दो ही चीजें दिखलाई देती हैं। वे दो चीजें क्रमशः यन्त्र और तन्त्र हैं। उनमें यन्त्र विज्ञान पर आधारित और तन्त्र विश्वास पर आधारित होता है। जिसका विश्वास दृढ़ है, उसका तन्त्र भी दृढ़ हो सकता है। जिस प्रकार यन्त्रनिर्माता पुरुष तरह-तरह के यन्त्रों का तरह-तरह के कार्य के लिए उपयोग करते हैं, हम देख सकते हैं कि तान्त्रिक पुरुष शारीरिक पीड़ा के शमन से लेकर मोक्ष आदि प्रकर्षपर्यन्त प्राप्ति के लिये भी तन्त्र का उपयोग करते हैं। अपने-अपने विश्वास के अनुसार इसका कुछ न कुछ प्रभाव भी दिखलाया जा सकता है।

वज्रयानी इसी जन्म में शीघ्रता से बुद्धत्व प्राप्त करने के लिये ही तन्त्र का उपयोग करते हैं। तन्त्रयानी लोगों का विश्वास है कि स्वयं तथागत ने ही उत्कृष्ट बोधिसत्त्वों के लिये तन्त्र का उपदेश दिया था। परन्तु इसका स्थान मगध देश न होकर श्रीधान्यकटक, उड्डियान, शम्भल और सुमेरु शिखर आदि है। बाद में मगध देश में भी तान्त्रिक आचार्यो ने तन्त्र का विकास किया था। जिस समय तिब्बत में बौद्धधर्म का प्रवेश हो रहा था, उस समय भारत वर्ष में तन्त्र का विकास पूर्णरूप से हो चुका था। संस्कृत आदि भारतीय भाषाओं से तिब्बती में अनूदित कन्-ग्युर (बुद्धवचन) और तन-ग्युर (शास्त्रटीका) के विशाल साहित्य-संग्रहों में अधिकतर महायानी और वज्रयानियों के ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। प्रस्तुत निबन्ध भी तन्-ग्युर में उपलब्ध तत्त्वसिद्धिप्रकरण का ही सारांशानुवाद है, जिनके लेखक आचार्य शान्तरक्षित थे। आचार्य शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह से आप सब परिचित होंगे, जिसमें आचार्य ने सांख्य आदि भारतीय सिद्धान्तों के तत्त्व बहुत ही स्पष्ट रूप से संगृहीत किये हैं। तत्त्वसंग्रह के अध्ययन से आचार्य की अद्भुत विद्वता का ज्ञान होता है। आचार्य शान्तरक्षित प्रकाण्ड दार्शनिक विद्वान् ही नहीं थे, बल्कि विनयधर, साधक और बहुत बड़े धर्म प्रचारक भी हुए थे। वे अपनी ७५ वर्ष की आयु में भी हिमालय के दुर्गम स्थानों को पार करके धर्म प्रचार के लिये तिब्बत पहुँचे थे। सर्वप्रथम वहाँ बौद्ध विहार की स्थापना करके तिब्बती जनों को विनय की दीक्षा देने का श्रेय आचार्य शान्तरचित को ही है। इसीलिये तिब्बत में आचार्य शान्तरक्षित को महोपाध्याय बोधिसत्त्व के नाम से लोग जानते हैं। आचार्य शान्तरक्षित ने कई

ग्रन्थों की रचना की थी। उनमें सबसे अधिक प्रचलित ग्रन्थ मध्यमकालङ्कार है। फिर भी तान्त्रिक सिद्धान्तों को स्पष्ट करने के लिये तत्त्वसिद्धिप्रकरण बहुत उपयोगी हैं। इसीलिये प्रस्तुत लेख में इसी ग्रन्थ के सारांश का तिब्बती से हिन्दी-अनुवाद करने का प्रयास किया गया है। सुना है कि किसी पुस्तकालय में इसका मूल संस्कृत भी उपलब्ध है। परन्तु अभी तक इसका प्रकाशन नहीं हुआ है। आचार्य उक्त प्रकरण में तन्त्रयानियों की मान्यताओं की सिद्धि के लिये अनेक युक्ति और आगमों को प्रस्तुत करते हैं।

वज्रयानं नमस्कृत्य महासुखसुखाकरम्।
सम्मोहविनिवृत्त्यर्थं तत्त्वसिद्धिः समुच्यते॥

जो पृथग्जन वज्रयान में कुशल मूल के संस्कार का सञ्चय नहीं करते हैं, जो समारोपित वस्तु में अभ्यस्त होते हैं, जिनकी बुद्धि विकल्परूपी वात से भ्रष्ट है, जिनका अपना मन कलियुग रूपी कर्दम से मलिन है, जो पृथग्जन संसाररूपी सागर से तैरना नहीं जानते हैं, जिनकी स्वनिर्मित अनेक विकल्पों द्वारा अपनी बुद्धि कलङ्कित है, जो संकटमय बन्धन रूपी कन्दरा में पतित हैं, दुर्बोधरूपी भूत द्वारा गृहीत होने से जिनका अपना चित्त मथित है, जो आचार्यों के आश्रित नहीं हैं और जो परमार्थभावना के उपदेश से रहित हैं, उनके द्वारा अन्य मार्ग से श्रीमहासुखवज्रसत्त्व अनेक असंख्येय कल्पों में अधिगम्य और वज्रयानोपाय से युक्त जनों के द्वारा इसी जन्म में बिना कठिनाई से साध्य होता है। चराचर सभी वस्तुओं का स्वरूप आदि और अन्त रहित है। आधाररहित अशेष सत्त्वों की सन्तति में उस महापुण्य के निमित्त अभिसमय के उपायभूत उत्तमोत्तम अशेष वज्रयान के लक्षण को नहीं जानने वालों के अज्ञानरूपी तिमिर के निवारण के लिये युक्ति और आगम द्वारा थोड़ा कुछ कहना चाहिए।

जब उपाय (करुणा) और प्रज्ञा (अनात्मादि ज्ञान) द्वारा गृहीत होने पर रूप आदि विषय सम्भोगमय बन जाते हैं, तब वे विशिष्ट फल के प्रापक होते हैं। प्रेक्षावान् पुरुष को इसी प्रकार स्वीकार करना चाहिए, क्योंकि विशिष्ट सामग्री ही विशिष्ट फल की उत्पादक होती है—यह सभी वादियों के प्रति समान रूप से प्रसिद्ध है। जैसे आमलक फल सामान्यतया कषायरस प्रतीत होता है, फिर उसी को दूध में भिगोने आदि विशिष्ट कारणों के साथ संयोग होने पर वही (कषायरस) मधुररूप में ज्ञात होता है। अतएव जिस प्रकार कारण के अन्य आकारों द्वारा अभिसंस्कृत फल द्वारा अन्य विशिष्ट फल की उत्पत्ति होती है—यह प्रत्यक्षसिद्ध है, उसी प्रकार रूपादि विषय योगी द्वारा महामुद्रा में उत्पादित करके तथा मन्त्र और मुद्रा से अधिष्ठित कर उस

विषय से अत्यन्त विशिष्ट फल की उत्पत्ति की जाती है। इस प्रकार उत्तम जनों को जानना चाहिए, क्योंकि यह सामग्री से उत्पन्न होता है। शब्दमात्र से कोई चीज उत्पन्न नहीं होती। अतएव अन्य विशिष्ट कारणों से विशिष्ट फल की उत्पत्ति होती है, क्योंकि सर्वज्ञत्व के हेतु-प्रत्यय की शक्ति अचिन्त्य होती है। यहाँ पर प्रयोग इस प्रकार है। जो विशिष्ट कारण द्वारा अभिसंस्कृत होता है, वह विशिष्ट फल को उत्पादित करता है। जैसे दूध में आर्द्र किया हुआ आमलक आदि मधुर फल के रूप में परिवर्तित होते हैं; रूप आदि भी विशिष्ट कारण द्वारा अभिसंस्कृत होते हैं। यह स्वभावहेतु है। यहाँ पर विशिष्ट अन्य कारण द्वारा अभिसंस्कृत मात्र के अनुबन्ध से इष्ट फल होता है। अभीष्ट वस्तु व्यापक और अभिसंस्कार व्याप्य होता है। अतएव जो-जो विशिष्ट अन्य कारणों से अभिसंस्कृत स्वभाव होते हैं, वे अविकल कारण और निर्विघ्न होने पर विशिष्ट फल की उत्पत्ति करते हैं। क्योंकि वे उससे अनुबद्ध होते हैं। इसी लिए व्याप्यव्यापकभाव सिद्ध होने पर व्यापक साध्य से व्याप्य ही हेतु होता है। जैसा कि व्यापक वृक्ष आदि की साध्यता में व्याप्य शिंशपा आदि हेतु होते हैं।

रूप आदि विषयों से क्लेशों की उत्पत्ति होती है। इसी कारण रूप आदि विषय दुर्गति के निमित्त होते हैं। यह भी कहा नहीं जा सकता है, क्योंकि केवल विषय मात्र से क्लेशों की उत्पत्ति नहीं होती है। क्लेशों की उत्पत्ति के लिये आत्मग्रह और आत्मीयग्रह पूर्वंगामी होना चाहिये। जैसा कहा भी है—

आत्मनि सति परसंज्ञा स्वपरविभागात् परिग्रहद्वेषौ।
अनयोः सम्प्रतिबद्धाः सर्वे दोषाः प्रजायन्ते॥

इसीलिये जिसकी आत्मदृष्टि होती है, उसी के लिये ये सभी क्लेश होते हैं। जो पुरुष अनात्मता में अभ्यस्त होते हैं, वे नैरात्म्य के रस का रसास्वादन करते हैं। उनके लिये क्लेश नहीं होते।

यदि विषय सर्वथा राग के कारण होते तो अशुचि आदि का आकार विपरीत होता। फिर भी अभ्यास की शक्ति से अशुचिग्राही ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अतएव समारोप से इन विज्ञानों का निश्चय होता है। इस प्रकार विशिष्ट परिणति से विशिष्ट फल का उत्पाद ही, कारण का स्वरूप आप क्यों नहीं मानते हैं? एक ही स्त्री के शरीर में प्रव्रजित, कामी और कुक्कुर तीनों में अलग-अलग विकल्प उत्पन्न होते हैं। ये रूप आदि विषय विशिष्ट समारोप और विशिष्ट परिणति से संसार में बन्धन के कारण नहीं बनते, क्योंकि देय, दान और दाता की अनुपलम्भता से से त्रिमण्डल परिशुद्ध होता है। अतएव मन्त्र आदि द्वारा अभिसंस्कृत विशिष्टता से रूप आदि विषय अनुत्तर फल का उत्पाद करते हैं। जैसे विष आदि का मन्त्रादि

द्वारा अभिसंस्कार करके उपयोग करने पर रसायन आदि फल का उत्पाद होता है। वही विष अन्य साधारण लोगों के लिये मृत्यु का कारण होता है। इसी प्रकार रूप आदि विषय भी मन्त्र और मुद्रा द्वारा अधिष्ठित होने पर अत्यन्त विशिष्ट फल का साक्षात्कार कराते हैं। ऐसा जानना चाहिये।

अन्यत्र भी कहा गया है—

राग, द्वेष और मोह ये तीनों विष होते हैं। असमता से सेवन करने पर ये विष ही होते हैं, (समतापूर्वक) अमृतत्त्व के लिये सेवन करने पर अमृतमय बन जाते हैं। रत्नकूट में भी - काश्यप, शहर की जो गन्दगी होती है, वह इक्षु-क्षेत्र और द्राक्षा-क्षेत्रों के लिये खाद के रूप में हितकारी होती है। उसी प्रकार बोधिसत्त्व का क्लेश रूपी खाद सर्वज्ञता के लिये हितकारी होता है। काश्यप, जिस प्रकार औषध और मन्त्र द्वारा परिगृहीत विष से मरण नहीं होता, उसी प्रकार प्रज्ञा और उपाय द्वारा परिगृहीत बोधिसत्त्व के क्लेश रूपी विष से विपरीत-आपत्ति नहीं होती— कहा है।

आचार्य नागार्जुन ने भी कहा है—

नाथ, तुमने क्लेश का वासनापर्यन्त त्याग किया है, क्लेशमयता से ही तुमने अमृतत्व उपार्जित किया है।

उपालिपरिपृच्छा में भी उक्त है—

राग तो बोधिसत्त्वों के लिये सत्त्वों की महार्थतावश प्रवेशयोग्य है, क्योंकि (बोधिसत्त्व) सत्त्वों के प्रति अनुराग करते हैं।

सामग्री के भेद से फल में भेद होता है। धर्मनैरात्म्य का ज्ञान होने से (बोधिसत्त्व) उन रूप आदि विषयों में किसी भी तरह अभिनिविष्ट नहीं होते। (उनके लिये) अनुत्तर महासुखरूपी फल की प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य साध्य नहीं है। इसी के लिये समयोग में कहा है कि—स्वयं सर्व बुद्ध और सर्व वीर होते हैं। इसलिये देवयोग से अपना साध्य सिद्ध करना चाहिये। प्रतिबिम्बित विधि से योग उत्पन्न नहीं होता। बोधिचित्त के प्रति प्रयत्न करें, तो उससे योग का दर्शन होता है। बोधिचित्त का त्याग करके तपस्या द्वारा आत्मा को पीड़ित नहीं करना चाहिए। सुखपूर्वक (बोधिचित्त) का ग्रहण करना चाहिये। बोधिचित्त के लिये स्नान और देवव्रत की आवश्यकता नहीं है। तपस्या की दुष्कर चर्चा भी आवश्यक नहीं है। तपस्या और व्रत के बिना सुख और प्रीति द्वारा साध्य सिद्ध किया जा सकता है।

भगवान् ने कहा है कि रूप आदि और उससे उत्पन्न सुख विशेष अवस्था में अनुत्तर फल के कारण होते हैं। उसी प्रकार स्पर्श और उससे उत्पन्न सुख भी है। कोई कहते हैं कि यह आगमविरुद्ध है। स्पर्श की विशिष्टता के सम्यक् सेवन से (विशिष्ट) फल की प्राप्ति होती ही है, यह बात आगम में भी कही गई है। इसमें क्या विरोध है ? यह कहें कि आगम में निषेध है तो ऐसा नहीं है। निषेध के विषय प्रज्ञा और उपाय से अपरिगृहीत अविद्याग्रस्त विषय है। जिसे आत्मीयग्रह में अभि- निविष्ट होने के कारण परिणति का ज्ञान नहीं है, वह विषय सेवन से दुर्गति को प्राप्त होता है।

प्रज्ञा और उपाय से परिगृहीत विशिष्ट स्वभाव का फल ही विशिष्ट अनुभव है। इसीलिये परमार्थ तत्त्व के ज्ञाता अल्पदोष के भी भागी नहीं होते। आशय की विशिष्टता से युक्त होने से अनुत्तर फल की प्राप्ति होती है। क्योंकि तब चित्त की मलिनता नहीं रहती। अतएव आशय की विशेषता से पुण्य-अपुण्य के भेद का निश्चय किया गया है। वस्तु की यथास्थिति से पुण्य और अपुण्य नहीं होते। आर्यदेव ने भी कहा है—बोधिसत्त्व के संकल्प द्वारा शुभ हो या अशुभ सब शुभ ही होते हैं, क्योंकि उनका मन वशीभूत होता है। अतएव विशेष संकल्प द्वारा कृत पुण्य और अपुण्य से एवं रूप आदि विषयों से भी विशिष्टफल की प्राप्ति होती है। अन्य लोगों को नहीं चाहते हुए भी इसे स्वीकार करना पड़ेगा। समयोगतन्त्र में कहा गया है—सब आकाशलक्षण हैं। आकाश का कोई लक्षण नहीं होता। अशेष त्रिधातु मायासदृश है। जैसे माया सर्वत्र दृश्य और वेद्य है, फिर भी अवलम्बन नहीं है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् का नियम है। इसी मुद्रा द्वारा योगी भूमित्रय का शोधन करें। जो संस्कारों के विकार को विद्युत् और गन्धर्वनगर के समान देखता है, प्रजा उसके वशीभूत होती है। इसीलिए कहीं भी अभिनिवेश का कुछ भी स्थान नहीं है। इस प्रकार मायासदृश विशिष्ट वस्तु के भोग से जब कुछ फल समुत्पन्न या परिणत होता है, तब क्यों उसे नहीं मानते हैं ? ये (त्रिधातु) स्वभावतः दृढ़ नहीं हैं, फिर भी दृश्यलक्षणमात्र हैं। यदि (रूप आदि) ये (विषय) विशिष्ट भावना की शक्ति से सुख और सौमनस्य आदि विशिष्ट फल का उत्पाद करते हैं, तब इन रूप आदि (विषय) का अनुत्तर फल की प्राप्ति के कारण बनने में विरोध कुछ भी नहीं है। लोकलोकोत्तरतन्त्र में भी कहा है—

सुख से सिद्धि की प्राप्ति होती है। शारीरिक पीड़ा से सिद्धि नहीं होती। समाधिज सुख से बुद्धत्व प्राप्त होता है। अनशन आदि तीव्र तपस्या से केवल शरीर पीड़ित होता है। पीड़ित शरीर से विक्षिप्तता होती है। विक्षिप्तता से सिद्धि दूर होती है। हीन सत्त्वों को सिद्धि प्राप्त नहीं होती। इसीलिये तपस्या उत्तम नहीं है।

काय, वाक् और चित्त सुस्थित होने से बोधि की प्राप्ति होती है। अन्यथा अकाल मृत्यु को प्राप्त कर प्राणी निश्चित ही नरक में दग्ध होता है।

चित्त स्फटिक मणि के समान प्रकृति-प्रभास्वर है। रूप आदि अभिसंस्कार की विशिष्टता से सुख और सौमनस्य के दायक होते हैं। प्रज्ञा और उपाय द्वारा परिगृहीत अभ्यास की शक्ति से उनके द्वारा प्रकर्षपर्यन्त स्वरूप की प्राप्ति होती है। शिल्प और कला आदि के समान प्रज्ञा द्वारा रूप आदि विषय के अभिसंस्कार को की विशिष्टता से, यौगिक ज्ञान द्वारा निरन्तर भावना के अभ्यास की शक्ति से परम नित्य स्वरूप की प्राप्ति होती है, क्योंकि वह प्रकर्षपर्यन्ताधिगत है। स्वसिद्धान्त में सुगतादि के समान है। लोक में भी काम, शोक, भय और उन्माद आदि के समान स्पर्श से उत्पन्न सुख और सौमनस्य भी अभ्यास से होते हैं। इस प्रकार सुख और सौमनस्य परम विशिष्टता से युक्त होते हैं। यह हेतु स्वभावविरुद्धोपलब्धि है। दुःख आदि के विरुद्ध सुख और सौमनस्य के लाक्षणिक फल होते हैं। जब अभ्यास की शक्ति से साक्षात्कार के परमोत्कर्ष की प्राप्ति होती है, तब इसके विरुद्ध दुःख और दौर्मनस्य आदि का निवारण होता है। स्वगुणों का सञ्चय भी होता है। अतएव सुख और सौमनस्य आदि को अभ्यास द्वारा प्रतिष्ठित होना चाहिए। उसके विरुद्ध दुःख आदि के लिये अवसर नहीं दिया जाना चाहिये। उदाहरण स्वरूप शीतलता आदि के विरुद्ध उष्णता आदि से संसर्ग होने पर शीतलता आदि का अभाव हो जाता है। क्योंकि एक ही आधार पर परस्परविरुद्ध दो (वस्तु) का अस्तित्व उपलब्ध नहीं है। इस प्रकार सुख और दुःख दोनों का एक ही सन्तति में किसी भी परिस्थिति में युगपद् अस्तित्व न होना चाहिए। क्योंकि वे दोनों परस्पर विरुद्ध होते हैं। अतः सुख और सौमनस्य के अभ्यास से दुःख आदि की सम्भावना किसी भी परिस्थिति में नहीं होती है। यह युक्तियुक्त है। उस विरुद्धोपलब्धि हेतु का स्वरूप भी नास्तित्व का बोध कराना होता है। इसीलिये प्रकर्षपर्यन्तगमन का कारण विशिष्ट अभ्यास ही होता है। प्रज्ञा, शिल्प और कला के समान (उसमें अभ्यास होता) है। यदि भावना द्वारा विशिष्टता की प्राप्ति होने पर पुनः उसका व्यावर्तन माना जाता है, तो कृत्स्नभूमि आदि में भावनाप्रकर्षपर्यन्त पहुँचे हुए लोगों का भी उसी प्रकार व्यावर्तन होना चाहिए। परन्तु आप ऐसा मानते नहीं हैं। क्योंकि प्रकर्षपर्यन्त गत जनों द्वारा आत्मस्वरूपता की प्राप्ति होती है। उससे उनका व्यावर्त्तन नहीं होता। जिस दोष के द्वारा वह व्यावर्तित होने का भागी बनता है, वह (दोष) उसमें नहीं है। तदनन्तर दुःख भी नहीं होता, क्योंकि प्रकर्षपर्यन्तगत में उसकी सम्भावना नहीं रहती। अन्यथा मोक्ष के पश्चात् भी संसार मानना पड़ेगा, जो उचित नहीं है। वादी भी मोक्ष प्राप्त (पुद्गल)

का संसार में पुनर्जन्म सर्वथा नहीं मानता, क्योंकि साधक उस समय आवरण की वासना से विनिर्गत और निर्हेतुक होता है। जो (बोधिसत्त्व) परार्थ के लिये उत्पन्न होते हैं, वे सांसारिक नहीं हैं, क्योंकि वे केवल पूर्व प्रणिधान आदि की शक्ति से संसार में प्रविष्ट हैं, वासना से नहीं। अतएव जिस प्रकार मोक्ष के अनन्तर संसार नहीं होता उसी प्रकार प्रकर्षपर्यन्त सुख के अनन्तर भी दुःखित चित्त उत्पन्न नहीं होता है, क्योंकि वह (चित्त) स्फटिक मणि के समान प्रकृतिप्रभास्वर होता है। (बोधिसत्त्व) जिस वस्तु में आश्रित होते हैं, उसमें अभ्यास के बल से अत्यन्त उत्कृष्ट स्वरूप का साक्षात्कार करते हैं। तब पुनः उससे व्यावर्त्तन नहीं होना धर्मता है। कहा भी है—

मनुष्याणां मनः प्रीतं यस्मिन् यस्मिन् हि वस्तुनि।
तत्तत्स्वरूपता भूयात् स्फटिकमणिसदृशम्॥

मातुलुङ्ग आदि के बीज को लाक्षाफल से सिञ्चित (भावित) करने पर उससे उत्पन्न फल भी लाक्षा के समान ही दिखाई देता है, उसी प्रकार चित्त भी बाह्य स्पर्श आदि में निश्रित होने पर सुख आदि से संयुक्त विशिष्ट प्रतीति का उत्पादन करता है। उसी की विशेषता से चित्त उसके सम्मुख होता है, क्योंकि चित्त का उसमें अनुराग होता है। जो जिसमें अनुरक्त है, वह उसी में दृढ़ होता है, जैसा कि दद्रुघ्न, कर्पासबीज और दाडिम आदि अन्य प्रकार के कारण से लिप्त होने पर अन्य प्रकार के फल का उत्पाद करते हैं। उसी प्रकार चित्त भी स्पर्श आदि से समुत्पन्न सुख और सौमनस्य आदि की विशेषता से उत्तरोत्तर विशिष्ट फल को प्राप्त करता है। चित्त उसके विपक्ष में अभिनिविष्ट नहीं होता है। उससे विपक्ष की उत्पत्ति नहीं होती।

राग के प्रति अशुचि, द्वेष के प्रति मैत्री और मोह के प्रति प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना से उन विषयों के प्रति वैराग्य उत्पन्न होता है, वैराग्य से राग का प्रहाण होता है, क्योंकि वैराग्य राग का प्रतिपक्ष होता है। इस प्रकार (प्रज्ञा और उपाय द्वारा) राग के अभ्यास से भी राग का प्रहाण किया जा सकता है।

इसीलिये मूलतन्त्र में कहा है कि—"राग सर्व बुद्धों का निष्कलङ्कित ज्ञान है। जो राग और वैराग्य का प्रहाण करता है वह सर्वसुख का उत्पाद करता है।" राग आदि सस्वभाव अवद्य (दोष) नहीं होते हैं। अन्यथा स्रोत-आपन्नमार्ग की प्राप्ति हो नहीं सकती है, क्योंकि उसमें साधक राग आदि का त्याग बिना किये प्रविष्ट होता है। भगवान् ने शीलपरिवर्त्त में भी कहा है कि "बोधिसत्त्व दश कुशल से भी च्युत हो सकता है, जैसे—कोई कामुक स्त्री बोधिसत्त्व के लिये प्राण त्याग करे तो काम-सेवन करके भी (उसका) प्राण बचाना चाहिए। इसी प्रकार किसी को महापाप

करते हुए देखकर उसके प्राणातिपात से (बोधिसत्त्व) को दुर्गति की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि महापुण्य का उत्पाद होता है। यदि राग आदि सस्वभाव अवद्य हों, तो वे दुर्गति के कारण क्यों नहीं बनते ? कैसे महापुण्य का उत्पाद होता है।

अतः (राग आदि) सस्वभाव अवद्य नहीं है, फिर भी पुद्गल की सन्तति की विशिष्टता से गुण की विशेषता का उत्पाद करते हैं। उदाहरणार्थ केतकी पुष्प गन्ध-हस्ती द्वारा खाकर पचा लेने पर कस्तूरी सदृश बन जाता है। वही पुष्प अन्य साधारण हाथी द्वारा खाकर पचाए जाने पर अशुचिमय बन जाता है। इस प्रकार एक ही वस्तु का भिन्न-भिन्न परिणाम हो जाना पुष्पगत वैशिष्ट्य नहीं है। इसी तरह राग आदि भी चित्त की विशेषता से विशुद्ध सन्तति वालों के लिये विशिष्ट फल की उत्पत्ति कराते हैं।

कहा भी है—

अशुचिप्रतिमामिमां गृहीत्वा जिनरत्नप्रतिमां करोत्यनर्घाम्।
रसजातमतीव वेधनीयं सुदृढं गृह्णत बोधिचित्तसंज्ञम्॥

पुण्येन कायः सुखितः पाण्डित्येन मनः सुखि।
तिष्ठन् परार्थं संसारे कृपालुः केन खिद्यते॥

●●●

नवक्रमिक व्यवस्था

श्री खनपो त्सोनडुस

अद्वयवादी, धर्मस्वामी मुनीन्द्र ने विनेयजनों के धातु, इन्द्रिय और आशय की भिन्नता के अनुरूप विविध प्रकार से धर्मामृत का उपदेश किया है। वे सभी विमुक्ति के उपाय ही हैं। समस्त मुक्ति मार्ग नौ यानों में संगृहीत हैं। इनमें अधोयान ऊर्ध्व-यानों में उत्तरोत्तर बढ़ने में आश्रय देते हैं। इसलिए आठ अधोयानों का यानों में श्रेष्ठ तन्त्रयान के 'निष्पन्नक्रम' के उपाय के रूप में उपयोग करके तत्त्व का साक्षात् अनुभव करना चाहिए। यही समस्त सूत्रों और तन्त्रों का मार्मिक रहस्य है, जिसके अविपरीत युगनद्ध मार्ग द्वारा बुद्धत्व प्राप्त करना अत्यन्त आसान है। अतः मैं आगमों का आश्रय लेकर संक्षेप में इस बारे में कुछ कहूँगा।

सामान्य रूप से यान का शब्दार्थ आरोहण है। इसलिये रत्नगुणसञ्चयगाथा में कहा गया है—

किं कारणं अयु प्रवुच्यति बोधियानो यत्राऽरुहित्व स निर्वापयि सर्वसत्त्वान्।
आकाशतुल्य अयु यान महाविमानो सुखसौख्यक्षेमभिप्रायणु यानश्रेष्ठो॥

इसके अनुसार अधो अधो मार्ग ऊर्ध्व ऊर्ध्व मार्गों पर पहुँचाते हैं और अन्तिम फल की प्राप्ति कराते हैं। जो व्यक्ति को क्रमशः ऊपर उठाते हैं, वे मार्गस्थ यान हैं और जो गन्तव्य है, वह फलस्थ यान है। इनके अतिरिक्त भी अनेक भेद और क्रम बताये गये हैं। तिब्बत के प्राचीन "ञिङ्मा" सम्प्रदाय के अनुसार नौ यान हैं। "सन्धिसंग्रह" में कहा गया है—

पारमार्थिक नीतार्थ (सूत्र) यान तीन ही निश्चित निर्देश किया है।
समुदयनामक, तपस्यावेदक और वशीकरण उपाययान॥

इस प्रकार बाहरी समुदयनामक तीन यान, आन्तरिक तपस्यावेदक तीन यान, और गुह्यवशीकरण उपाययान तीन हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नौ यान होते हैं। इन यानों की व्यवस्था अविपरीत तत्त्वदर्शन, मार्ग की भावना और अन्तिम फल की प्राप्ति के आधार पर की गयी है।

इन में से सर्वप्रथम "समुदयनामक यान" या "उपलक्षण हेतु यान" के तीन भेद हैं—श्रावक, प्रत्येकबुद्ध, और बोधिसत्त्वयान। ये तीन यान सूत्रों में कहे गये हैं। प्रथम उनके अभ्यास के बिना गम्भीर तान्त्रिक प्रज्ञा की उत्पत्ति असम्भव है। अतः सर्वप्रथम इन यानोंके मार्गों का अभ्यास करना चाहिए।

श्रावकयान का दर्शन वस्तुभूत स्कन्धों, धातुओं और आयतनों में संगृहीत चार आर्यसत्यों का अनुलोम और विलोम के सही ढंग से विच्छेदन करता है। पाँच स्कन्धों में एकस्वभाव और अनेक स्वभाव आत्मा का अभाव युक्ति से निश्चित कर पुद्गल-नैरात्म्य प्रदर्शित करता है। ग्राह्य निरवयव अणुमात्र और ज्ञानकालिक अस्तित्व मात्र के निश्चय से धर्मनैरात्म्य सिद्ध होता है। इन दोनों नैरात्म्य का अधिगम करके भावना करने का तरीका इस प्रकार है। समस्त संसार को दुःखमय समझ कर इससे स्वयं अकेले मुक्ति की दृढ़ इच्छा वैराग्यचित्त है। इसका समुत्थान होने पर मार्ग में प्रवेश के द्वार आठ प्रतिमोक्षों में से किसी एक का अच्छी तरह पालन करना चाहिए। उक्त शील शिक्षा के आधार पर चार श्रमणधर्मा और अल्पेच्छता, सन्तोष आदि द्वादश धूतगुणों को ग्रहण करना चाहिए। इनके अतिरिक्त भोजन में मात्रा का ज्ञान, रात्रि के पूर्व याम और पश्चिम याम में न सोकर भावना करना, तीन क्लेशों के प्रतिपक्षभूत अशुचि और मैत्री की भावना करना, विकल्प के प्रतिपक्षभूत आनापान-स्मृति की भावना करना और समाधि की सामग्री सम्पन्न करके, चित्त की नौ अवस्थाओं की प्रतिकूलस्थिति को दूर करना और अनुकूल स्थिति को लाना चित्तैकाग्रता की प्राप्ति का साधन है। षोडशाकार चार आर्यसत्यों के आकारवाली निर्विकल्प प्रज्ञा विदर्शना है। इन शमथ और विदर्शना की युगल भावना से ३७ बोधिपाक्षिकधर्मों या पाँच मार्गों की क्रमशः प्राप्ति होती है। इसका तात्कालिक फल स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और स्थायी फल निरुपविशेष-निर्वाण है।

प्रत्येकबुद्धयान का दर्शन लगभग श्रावकयान के समान है। किन्तु इसकी विशेषता यह है कि इसके द्वारा निरंश ग्राह्याणु की निःस्वभावता का निश्चय करके धर्मनैरात्म्य सिद्ध किया जाता है। मार्ग में प्रवेश करने का ढंग भी लगभग श्रावकयान के समान है। इनकी विशेषता यह है कि द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद की अनुलोम और प्रतिलोम भावना करके नैरात्म्यप्रज्ञा द्वारा भवमूलक अविद्या का प्रहाण किया जाता है। तदनन्तर फलभूत पाँच प्रत्येकबुद्धमार्गों की एक आसन में अधिगति करके खड्गप्रत्येकबुद्ध और शुष्कप्रत्येकबुद्ध पद प्राप्त किये जाते हैं।

सैद्धान्तिक दृष्टि से वैभाषिक और सौत्रान्तिक सिद्धान्त श्रावक सिद्धान्त हैं। इनमें से सौत्रान्तिक सिद्धान्त ग्रहण करने वाले तीक्ष्णेन्द्रिय होते हैं। इसके दो भेद हैं—

आगमानुसारी और युक्त्यनुसारी। युक्त्यनुसारी व्यक्ति बौद्धशासन में प्रविष्ट होकर शील का सम्यक् पालन करते हुए, दूसरों को शिक्षा देने में व्यस्त रहते हैं। इसलिये शमथ और विदर्शना की भावना नहीं कर पाते हैं। अतः चार फलों को प्राप्त नहीं कर पाते हैं। वे अपर जन्म में ऐसे स्थान पर उत्पन्न होते हैं, जहाँ बौद्धधर्म और बुद्ध न हों, वहाँ पैदा होकर अन्य गुरु की अपेक्षा किये बिना, श्मशान में स्थित कङ्काल के दर्शन से स्वयं प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना करके, फलभूत प्रत्येकबुद्धत्व प्राप्त करते हैं तथा कायविज्ञप्ति द्वारा अन्यों को निःशब्द धर्मोपदेश करते हैं।

हीनयान से सात विशेषणों से विशिष्ट महायान दो प्रकार का है—माध्यमिक और योगाचार। योगाचार अपने विज्ञानवादी दर्शन के अनुसार जड रूपस्कन्ध से सर्वज्ञतापर्यन्त समस्त भाजनलोक और सत्त्वलोक के धर्मों का विज्ञान ही कर्त्ता होता है तथा अहेतुक उत्पाद नहीं होता – ऐसा मानते हैं। उनके अनुसार पृथक्-पृथक् आलयविज्ञानों में छः प्रवृत्तिविज्ञानों द्वारा तीन प्रकार की वासनाएँ स्थापित होती हैं। इनके कारण स्थान (आलयविज्ञान), शरीर (पञ्चेन्द्रिय) और अर्थ (रूपादिपञ्चक) का प्रतिभास होता है। यह सब वासनाओं की परिपक्वता की ही लीला है। अतः धर्म जैसे प्रतिभासित होते हैं, वैसे ही वे असत् हैं – ऐसा मानते हैं।

माध्यमिकों के ग्रन्थ माध्यमिककारिका और मध्यमकावतार के अनुसार रथोपम युक्ति से जैसे रथ चक्रादि अवयवों से अतिरिक्त उपलब्ध नहीं होता, उसी प्रकार पञ्च स्कन्ध अवयवों में आत्मा की उपलब्धि नहीं होती। इससे पुद्गलात्मा की निःस्वभावता सिद्ध होती है। पुद्गलनिःस्वभाव और पुद्गलनैरात्म्य एकार्थक है। अनेक युक्तियों में से सर्वश्रेष्ठ 'प्रतीत्यसमुत्पाद' युक्ति द्वारा धर्मनैरात्म्य सिद्ध किया जाता है। संसार और निर्वाण में संगृहीत समस्त धर्मों का स्वभाव शून्य है, हेतुओं द्वारा अनिर्मित है और फल अप्रणिहित है। इस प्रकार के तीन 'विमुक्तिद्वारों' से युक्त, प्रपञ्चरहित शून्यता धर्मनैरात्म्य है। उक्त दो शून्यताओं के निश्चय के पश्चात् संवृति के रूप में प्रतिभासित सर्वधर्म बिना परीक्षा किये पृथक्जनों को जैसे दिखलाई पड़ते हैं, वैसे अविचाररमणीय हैं। विचार करने पर वे स्वभावरहित एवं शून्य सिद्ध होते हैं। सभी धर्म प्रतिभासमानमात्र हैं, जो प्रतिभासमान हैं, वे सभी शून्य है और जो शून्य हैं, वे प्रतिभासमात्र हैं। इस प्रकार की युक्ति से आभास और शून्यता को अभिन्नता या दो सत्यों की युगनद्धता निश्चित होती है। इसके अतिरिक्त स्थिति और प्रतिभास की अनुकूलता या प्रतिकूलता के आधार पर दो सत्यों की व्यवस्था तथा वस्तुभूत फलस्थ प्रज्ञाओं की नित्यस्वभावरहितता सिद्ध होती है। इसलिये अपने स्वभाव धर्मधातु या शून्यता से अभिन्न होते हुए प्रतिभास की दृष्टि से उस धर्मधातु से

संयोग या वियोग रहित काय और ज्ञान का अचिन्त्य प्रतिभास होता है। यहीं सूत्र और तन्त्र के यान का सम्बन्ध स्थापित होता है।

भावना

कर्म-कर्मफल, स्वपरपरिवर्तन और हेतुभूत चार अप्रमाण मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के अभ्यास से बोधिचित्त की उत्पत्ति होती है। इन उपायों द्वारा समस्त प्राणियों के प्रति स्वमाता की भावना की जाती है तथा उन्हें बुद्धत्व प्राप्त कराने का अकृत्रिम अध्याशय चित्त की उत्पत्ति होती है। इसके बाद, सांवृत बोधिचित्त की भावना की जाती है। महायान मार्गद्वारा बोधिप्रणिधि और बोधिप्रस्थान चित्त के संवर की दो विधियों में से किसी एक विधि से संवर लेना होता है। उसके बाद अपने को चार अप्रमाणों और षड् पारमिताओं की शिक्षाओं से शिक्षित करना होता है। तदनन्तर शमथ और विपश्यना की युगनद्ध भावना द्वारा दो नैरात्म्य के साथ ३७ बोधिपाक्षिक धर्मों की भावना की जाती है। फलतः चार शैक्ष्य मार्ग, ज्ञानकाय के गुण २१ अनास्रवज्ञान, सम्भोगकाय के ११२ गुण तथा लक्षण और अनुव्यञ्जन और निर्माणकाय के २७ कर्मों की प्राप्ति होती है।

तन्त्रयान

फलभूत तान्त्रिकयान हेतुभूत यानों से पाँच विशेषणों से विशिष्ट है। उसके तीन भेद हैं—तीन बाह्यतन्त्र और तीन आन्तरिक तन्त्र तपस्यावेदक हैं। सर्वप्रथम 'क्रिया-चर्यायान' में स्नान, शौच आदि बाह्य शारीरिक और वाचिक क्रियाओं का प्रमुख रूप से प्रतिपादन है। दार्शनिक दृष्टि से इस यान के अनुसार स्वचित्त आदि समस्त सांसारिक और नैर्वाणिक धर्म आभास और शून्यता की दृष्टि से अभिन्न और तुल्य स्वभाव हैं। किन्तु संवृति में समस्त दोषों से रहित और गुणों से युक्त प्रभास्वर 'ज्ञानसत्त्वदेव' को स्वामी के रूप में और स्वयं को दास के रूप में देखकर यदि उत्पत्तिक्रम की भावना और जप करें तो पारमार्थिक समत्व और सांवृतिक प्रतीत्य-समुत्पाद के अविपरीत प्रभाव से तात्कालिक और स्थायी 'सिद्धि' प्राप्त हो सकती है। इस प्रकार के विश्वास के साथ समस्त प्राणियों के लिये सोलहवें जन्म में त्रिकुलीय देवता का पद प्राप्त करने की इच्छा से मार्गद्वार में प्रवेश के लिये जल और मुकुट का अभिषेक लेना होता है। उसके बाद शून्य, अक्षर, शब्द, रूप, मुद्रा और चिह्न इन छः देवताओं की भावना उत्पत्तिक्रम में आती है। शब्द, चित्त और वस्तु में परायण होकर जप-तप करके, अग्नि में स्थित मन्त्र से शमथ के चार कर्म सिद्ध करना, शब्द में स्थित मन्त्र से शमथ उत्पन्न करना, शब्दान्त (मन्त्र) से विमोक्ष

दिलाना आदि भावना करके, अपूर्ण मन्त्र-विधि से फल की असिद्धि समझकर तीन बार स्नान करना, तीन बार वस्त्र बदलना, पूजा और होम आदि में लगे रहने से तात्कालिक फल कामविद्याधर, अन्तिम फल सोलहवें जीवन में कायकुल वैरोचन, वाक्कुल अमिताभ और चित्तकुल अक्षोभ्य पद प्राप्त होता है।

चर्यायान में प्रतिपादित दर्शन योगतन्त्र के समान है और चर्या क्रियातन्त्र के समान है। उसके साधक देवता अपने बन्धु के समान दिखते हैं। वह सातवें जन्म में सिद्धि प्राप्त करना चाहता है। चर्यातन्त्र के मार्ग में प्रवेश करने के लिये पाँच अभिषेक लेना है। वह पाँच अभिषेक इस प्रकार हैं—जल, मुकुट, वज्र, घण्टी और नाम अभिषेक। उसके बाद अक्षर, अक्षर प्रयोग आदि उत्पत्तिक्रम की भावना की जाती है। वह सनिमित्त योग है। उसके बाद निर्निमित्त योग करना होता है। स्कन्ध, धातु, आयतन में सङ्गृहीत समस्त धर्मों की परीक्षा करके प्रवृत्ति, उत्थान और स्थिति से विशिष्ट परमार्थिक बोधिचित्त की भावना, बाहरी और आन्तरिक चार-चार अङ्गों से युक्त काय की संकेत मुद्रा, वाक का संकेत अक्षर, चित्त का संकेत हस्तचिह्न और विमान आदि को आलम्बन बनाकर एकाग्रचित्त द्वारा जप करने पर उससे प्रेरित होकर स्वर्ण में पारद मिलाने के समान स्वयं में देवों की शक्ति का अवतरण करना होता है। इस तन्त्र की भावना से तात्कालिक फल रूपविद्याधर, कामविद्याधर और अन्तिम फल चतुर्कुल चित्तवज्रपद की प्राप्ति है। वह सातवें जन्म में प्राप्त होते हैं।

योगतन्त्रयान

योगतन्त्र में बाह्य काय और वाक् की चर्या सहकारीमात्र है। मुख्यरूप से योग की भावना करना होता है। उनकी दार्शनिक दृष्टि में सर्वधर्म निष्प्रपञ्च हैं। इसके ज्ञान का अधिष्ठान सांवृतिक प्रतिभासांश धर्मधातुमण्डलीय देवता है। इसके अनुसार स्वयं और देवता दोनों दो सत्यों के स्वरूप में समान हैं—इस प्रकार निश्चय किया जाता है। सर्वधर्म स्वचित्तविकल्पितमात्र होने से जिस देवता को समाधि का आलम्बन बनाया जाता है, उसकी आशु सिद्धि होती है। इसलिए देव के काय, वाक्, चित्त और कर्म की चतुर्मुद्रा के रूप में साधना की जाए, तो तीन जन्मों में पञ्चकुल बुद्ध की पदवी प्राप्त होती है।

योगतन्त्र मार्ग में प्रवेश पाने के लिये जल, मुकुट आदि पाँच शिष्य-अभिषेक और तीन समयग्रहण आदि छः आचार्य-अभिषेक लेने की जरूरत है। इसके बाद पाँच अभिसम्बोधि, चार मुद्रा, चार प्रातिहार्य के उपायभूत उत्पत्तिक्रम की भावना की जाती है। धर्मधातु और ज्ञान के अद्वयरूपी सम्पन्न क्रम की भावना की जाती है।

इससे तात्कालिक फल मार्ग और भूमि की वृद्धि होती है और अन्तिम फल पाँच स्कन्धों, पाँच क्लेशों, और पाँच इन्द्रियों की परिशुद्धि और ज्ञानात्मक पाँच कुल-बुद्धों की प्राप्ति है।

तीन आन्तरिक योगतन्त्र—यह पूर्वोक्त तीन तन्त्रयानों से अनेक विशेषणों से विशिष्ट है। कलशाभिषेक और तीन उत्तम अभिषेक प्राप्त करके व्यक्ति मार्ग में प्रविष्ट होता है। दर्शन का समानरूप से शुद्ध और हेयोपादेयरहित होना, इसको विशेषता है। इसके साथ उत्पत्तिक्रम और सम्पन्न क्रम की युगनद्ध भावना की जाती है।

चर्या—स्थान, भोजन, वस्त्र आदि में अच्छाई या बुराई, हेय या उपादेय की कल्पना नहीं करना है तथा उनका समानरूप से उपयोग किया जा सकता है।

फल—एक जीवन में वज्रधर पद की प्राप्ति इसकी विशेषता है। 'आन्तरिक योगतन्त्र' या 'गुह्याधियान' समानार्थक है। इसमें निर्दिष्ट दर्शन की विशेषता यह है कि संसार और निर्वाण में संगृहीत समस्त धर्मों का सांवृतिक प्रतिभास बुद्ध के काय और चित्त की लीला है और समस्त प्राणियों के काय, वाक् और चित्त समस्त बुद्धों के तीन वज्र हैं। इस प्रकार समस्त प्रतिभासित भाजनलोक और सत्त्वलोक चार परिशुद्धि के रूप में आदि से स्थित हैं। इस प्रकार अनाभोग महामण्डल नित्य, स्थिर, शाश्वत और असत् तीन विमोक्ष से युक्त है। समस्त धर्म स्वयं शुद्ध, शून्य और निष्प्रपञ्च तथा आदितः शुद्ध है। जो प्रतिभासित है, वह स्वभावतः शून्य है। इसको अधिसंवृतिसत् कहते हैं। स्वभावरहित 'महामुद्राशून्यता' को कोटि से अतिक्रान्त कोई धर्म नहीं है। इस प्रकार शुद्धज्ञान में प्रतिभासित धर्मों का सर्वाकारज्ञता द्वारा जैसे साक्षात्कार किया जाता है, वैसे ही वे संयोग और वियोग से शून्य, सूर्य और उसकी आभा की तरह अभिन्न है। इसको अधिपारमार्थिक सत् कहते हैं। इस प्रकार दो सत्यों के अभिन्न रूप में प्रतिभासित, प्रतिभास और शून्यता का युगनद्ध स्वभाव महाधर्मकाय में अभिन्न ज्ञात होता है। इस प्रकार विषय और विषयी समस्त सांसारिक और नैर्वाणिक धर्मों की एकता से स्वभाव का अनुत्पाद सिद्ध होता है। युक्तियों द्वारा सभी धर्म अनिरुद्ध, अभिन्न और लक्षणरहित सिद्ध होते हैं। इससे दश बलों से युक्त बुद्ध से लेकर सूक्ष्म जन्तु पर्यन्त समस्त प्राणियों के चित्त में स्थित तथागतगर्भ को समल धातु को शुद्ध करने में समर्थ त्रिक्रमिक योग द्वारा शोध्य तथागतगर्भस्थित गुण प्रकट होता है और २५ फलभूत धर्मों के रूप में अभिसम्बुद्ध पद सिद्ध होता है।

इसी जीवन में बुद्धत्व प्राप्त करने की इच्छा से मार्ग में प्रवेश के लिए १० बाह्य अभिषेक, ५ आन्तरिक अभिषेक और तीन गुह्याभिषेक प्राप्त करके चित्त को परिपक्व बनाया जाता है। उसके बाद तीन वज्रविधियों द्वारा साधक व्यक्ति हेतुभूत 'हेरुक'

और फलभूत वज्रधर के रूप में समुत्थित होता है। इस प्रकार पाँच अङ्गों से युक्त स्वसन्तान और अष्टाङ्गोपेत परसन्तान के द्वारा सप्रपञ्च उत्पत्तिक्रम की भावना करने का तरीका स्ग्रुव्-स्दे क-वर्ग्यद्-वदेर्-दुस में दर्शाया गया है। 'मायारुद्र तन्त्र' में इस प्रकार की साधना कही गई है। जिससे अण्डज उत्पत्ति की वासना शुद्ध होती है। यह प्राथमिक साधना है। पाँच अभिसम्बोधि के उत्पाद की विधि के अनुसार उत्पत्तिक्रम की भावना जरायुज उत्पत्ति की परिशुद्धि के लिए की जाती है। इसको मुख और हस्त के साथ देव की साधना या निर्मित उत्पत्तिक्रम की भावना कहते हैं। यह साधना मध्यम प्रपञ्च की अधिमुक्ति वालों द्वारा की जाती है। मूल-मन्त्र के उच्चारणमात्र से मण्डल और मण्डलीय देवों का उत्पाद करके संस्वेदज उत्पत्ति की वासना परिशुद्ध की जाती है। यह विषयाभास की असत्ता द्वारा अधिगत 'माया-उत्पत्तिक्रम' की भावना कही गई है। इसकी साधना उत्पत्तिक्रम में दृढ़ता प्राप्त करने के बाद की जाती है। जल से मत्स्य के उछलने के समान ज्ञान द्वारा क्षणिक स्मरण करने पर देवों की सम्पूर्णता की भावना करने से उपपादुक उत्पत्ति की वासना परि-शुद्ध की जाती है। इसे अनाभोग प्रतिभास और शून्यता में प्रतिभासित गम्भीर उत्पत्तिक्रम कहते हैं। इसकी साधना उत्पत्तिक्रम में अधिक दृढ़ता प्राप्त करने के बाद की जाती है। उक्त साधनाएँ उत्पत्तिक्रम के अन्तर्गत हैं और वासना की शुद्धि के लिए हैं। उसके बाद अध्यवसित सम्पन्न देव के निमित्त और कल्पना, अद्वयज्ञान में संगृहीत करके सनिमित्त-सम्पन्नक्रम की भावना की जाती है। पितृतन्त्र में निर्दिष्ट पञ्चक्रम भावना, मातृतन्त्र में निर्दिष्ट चण्डाली आदि षड् धर्म, अद्वयतन्त्र में कहे गये षड् प्रयोग आदि द्वारा वज्रकाय को मर्माहत करने पर नाड़ी, वायु और बिन्दु कर्मण्य हो जाते हैं। इससे प्रभास्वर ज्ञान और सहज ज्ञान का साक्षात्कार निमित्त-सम्पन्न-क्रम की साधना है। इससे भूतभव की शुद्धि होती है, इन उपायों से तात्कालिक फल ८ साधारण सिद्धि की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त महाशून्य, करुणामय, सप्रपञ्च मुद्रा आदि से वैपाकिक आयु का आधार महामुद्रा सिद्ध होती है। तदनन्तर अनाभोग में क्रमिक प्रवेश करके अन्तिम फल अशुद्धभ्रान्तमल की शुद्धि होती है और अक्षर मण्डलीय महासङ्घ भूमि में अनाभोग २५ धर्मात्मक महावज्रधर की प्राप्ति होती है।

'आगम अनुयोग यान' के अनुसार दार्शनिक दृष्टि से समस्त धर्मों का प्राकृतिक स्वभाव निष्प्रपञ्च, विशुद्ध समन्तभद्र-आकाश धातु का मण्डल है। अनिरोध का आभास स्वयम्भू अनाभोग समन्तभद्र का मण्डल है। धर्मधातु और ज्ञान का अद्वय महासुख सन्तान का मूलभूत बोधिचित्त का मण्डल है। उक्त तीन मण्डलीय भावना करने के लिए मार्ग में प्रवेश की इच्छा, उपर्युक्त तीन यानों के समान है। इसमें

प्रवेश पाने के लिए ३६ वर अभिषेक को प्राप्त करना होता है। मोटे रूप में इन वर अभिषेकों का विवरण इस प्रकार है—१० बाह्य तान्त्रिक अभिषेक, आन्तरिक भौतिक अभिषेक ११, साधनेश्वर के १३ अभिषेक और गुह्यसम्पन्न अभिषेक २ हैं। इन अभिषेकों द्वारा चित्त के परिपक्व होने पर निर्विकल्प समाधि और उत्पत्तिमन्त्र के उच्चारणमात्र से मण्डल और मण्डलीय देवताओं की परिपूर्णता हो जाती है। इस की भावना सङ्कुटित सनिमित्तक उत्पत्तिक्रम की भावना है। नाड़ी, वायु और बिन्दु के मर्माहत करने से महासुख का साक्षात्कार करना सम्पन्नक्रम की भावना है। इस प्रकार की भावना करने पर तीन आभास में संक्रान्त वासनाओं के हेतुभूत ग्राह्य और ग्राहक सङ्कल्प से विचलित अच्छा, बुरा, हेय और उपादेय आदि के रूप में विविध प्रकार से प्रतिभासित और उनमें अध्यवसित आवरण की शुद्धि होती है। इससे पाँच प्रकार के तात्कालिक फल की प्राप्ति होती है। सम्भार मार्ग में छन्द का चिन्तन, प्रयोगमार्ग में महागोत्र का विभाजन, दर्शनमार्ग में महा-आश्वासन देना, भावना मार्ग में महा-आगम प्राप्ति और अशैक्ष्य मार्ग में महाविक्रम सम्पन्न होता है। इन मार्गों की प्राप्ति क्रमशः होती है। उसके बाद अन्तिम फल महासौख्य वज्रोपम शरीर, प्रहाण और अधिगम में पारङ्गत पर्यन्त बुद्ध को प्राप्ति होती है।

"अतियोग" या "महासम्पन्न" तन्त्र में चतुर्थ अभिषेक का विशेषरूप से उपदेश दिया गया है। उसकी दार्शनिक दृष्टि के अनुसार प्रतिभासित संसार और निर्वाण में संगृहीत समस्त धर्म, ज्ञान और शून्य के युगनद्ध रूप स्वयंभू महाज्ञान के स्वरूप में आदितः स्थित हैं। मार्ग में प्रवेश पाने के लिये सप्रपञ्च, निष्प्रपञ्च, अति निष्प्रञ्च और परम निष्प्रपञ्च का अभिषेक प्राप्त करके चित्त को परिपक्व बनाया जाता है। विशेषरूप से विक्रमाभिषेक और कमण्डलु-अभिषेक से बलपूर्वक चित्त की वस्तु-स्थिति का परिचय कराया जाता है, फलतः आलसी भी अनायास मुक्त होने के लिये आदिम विच्छेददर्शन की भावना करता है। साहसी सायास मुक्ति प्राप्त करने के लिये अनाभोग स्कन्ध के आभास की साक्षात् भावना करते-करते धर्मता का साक्षात्कार करके अनुभव की वृद्धि, ज्ञान की प्रगति, धर्मता के क्षय में पारङ्गत होकर छः विशेषणों से युक्त समन्तभद्रबुद्धपद प्राप्त करते हैं। उस समय "महासङ्क्रान्त इन्द्र-धनुष वज्रकाय को प्राप्ति होती है।

• • •

तिब्बती त्सोद्-साधना [आत्मोत्सर्ग पद्धति] पर छः प्रज्ञापारमिताओं का प्रभाव तथा तान्त्रिक योग-साधना

श्री सी० आर० लामा

(त्सोद् का अर्थ शरीर में अनात्म-ग्रहण (आत्मग्रहण की समाप्ति) करना है।)

साधक डाकिनी (माचिग लवडोन)-स्वरूप गुरुजनों को प्रणाम करता है। क्षणसम्पद् मनुष्यरत्न का जीवन पाना कठिन है। वही मानव-जीवन रूपी रत्न साधक को प्राप्त हुआ है। मानव-जीवन अनित्य है। वह कभी भी मृत्यु को प्राप्त हो सकता है। कुशल या अकुशल कर्म का फल कभी व्यर्थ नहीं जाता। उसी कारण ६ योनियों में (सर्व जगत् में) कहीं भी जन्म होने पर दुःख और पीड़ा मिलती है। कोई भी उस कष्ट को सहन नहीं कर सकता। इसी कारण साधक कितना कुशल कर्म कर सकता है, यह देखकर साधना करना प्रथम कर्तव्य है।

द्वितीय कर्त्तव्य—शरण लेना (शरण में जाना)। साधक को अपने सामने आसमान में इन्द्रधनुष तथा प्रकाशमण्डल में सिंहासन पर पद्म तथा चन्द्रमा के आसन पर सर्वतथागत स्वरूप माचिग् लवडोन का ध्यान करना आवश्यक है। उसके चक्र में बुद्धों, बोधिसत्वों, सद्धर्म, आर्यसंघ, इष्टदेवियों, डाकिनियों, धर्मपालों, रक्षापालों, समयपालों तथा धनदेवता की भी साधक स्मरण-साधना करता है। इन लोगों की शरण में साधक को जाना है। ये लोग साधक तथा सर्व प्राणियों की ओर मन और चक्षु से देखते और उनका ध्यान रखते हैं।

बुद्ध, धर्म और संघ इन तीनों को त्रिरत्न कहते हैं। ये तीनों सद्गुरु से भिन्न नहीं हैं। क्योंकि सद्गुरु का शरीर ही संघ है, वचन धर्मोपदेश हैं और परम हृदय

माचिग् लवडोन तिब्बत की प्रसिद्ध साधिका हैं। तिब्बती लोगों को इनके विषय में अलग से कुछ बताने की जरूरत नहीं है। ये तिब्बती त्सोद् सम्प्रदाय की स्थापिका हैं। इनके सम्बन्ध में अधिक जानने के लिए मेरे "अखिल भारतीय दर्शन परिषद्" के तेरहवें अधिवेशन पर दिये गये भाषण विश्वभारती हिन्दी पत्रिका १९६९–७० का तृतीय अङ्क देखिये।

बुद्ध हैं। इसी कारण साधक उस सद्गुरु को प्रणाम करता है और इष्टदेव तथा डाकिनियों को भी प्रणाम करता है। ये तीनों ही गुरु से अभिन्न हैं। सद्गुरु, गुरु तो हैं ही, वे इष्टदेवता की प्राप्ति में मार्गदर्शन का काम करते हैं। वे सात डाकिनियों के गणपति हैं। साधक धर्मकाय, सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय को भी प्रणाम करता है। सद्गुरु धर्मकायस्वरूप, सम्भोगकायस्वरूप तथा निर्माणकायस्वरूप हैं, इसीलिए साधक उन्हें प्रणाम करता है।

जो संसार और निर्वाण के मूल हैं, वे विशुद्ध हैं। वह मूल स्वयंभू हैं। वह धर्मकायस्वरूप हैं। उस मूल को न किसी ने बनाया और न किसी ने उसका त्याग किया। वह मूल सहज सिद्ध है। वह महा-आनन्द राज्ञी (महा-आनन्ददायक) है। वही मूलविद्या (ज्ञान) के साथ संयुक्त है। इसी ज्ञान में सद्गुरु भी हैं। उस ज्ञान को साधक माचिग् लवडोन स्वरूप मानता है। उस सद्गुरु तथा माचिग् लवडोन को आदिकाल से अभिन्न मानता है। इसी कारण साधक श्रद्धापूर्वक उनकी शरण लेता है।

स्वयं साधक तथा सर्व प्राणियों के स्थानीय विघ्न तथा शारीरिक विघ्न से लेकर साधक के पिता-माता आदि ६ योनि तथा सर्व जगत् के सर्व प्राणियों के मार्गदर्शक तथा मार्ग में साथ देने वाले कल्याणमित्र आदि के रूप में विश्वास करके जब तक साधक का मन स्थिर न हो जाए और जब तक सद्धर्म से सम्पूर्ण मन परिपूर्ण नहीं हो जाए, तब तक गुरुमण्डल की शरण में रहना चाहिए।

शरणार्थी की प्रार्थना—हे मातः ! तुमको मनुष्य के रूप में देखता हूँ, लेकिन तुम मनुष्य नहीं हो। ज्ञान-डाकिनी देवी हो। मैं (साधक) आपकी (माचिग् लवडोन की) शरण लेता हूँ। बुद्ध, धर्म तथा संघ की भी शरण लेता हूँ। गुरु, इष्टदेव और डाकिनियों की भी शरण लेता हूँ। धर्मकाय, सम्भोगकाय तथा निर्माणकाय की भी शरण लेता हूँ। (जब तक साधक का मन साधना में स्थिर नहीं हो जाता, तब तक इस प्रकार प्रार्थना करनी चहिए)।

अन्त में साधक को ऐसा आशीर्वाद मिलेगा कि गुरुजनों के मण्डल से प्रकाश आकर साधक तथा सर्व प्राणियों में प्रवेश करके उन्हें सर्वपाप से विशुद्ध कर देगा और वे लोग पक्षियों के झुण्ड के समान उड़कर देवलोक में प्रवेश करेंगे।

तृतीय साधना—बोधिचित्त उत्पन्न करना है। सर्वप्राणियों को आनन्द मिलना चाहिए। सर्वप्राणियों को दुःख तथा दुःख के हेतु से दूर रहना चाहिए। सर्व प्राणियों को आनन्दपूर्वक रहना चाहिए। उन्हें काम-क्रोधरहित और समभाव से रहना

चाहिए। सर्व प्राणियों की सेवा के लिए साधक के मन में बोधिचित्त उत्पन्न होना चाहिए।

चतुर्थ साधना—पुण्य सम्पन्न करना। इसमें साधारण और असाधारण दो प्रकार हैं। साधारण में 'आर्यभद्रचर्या' में कहे अनुसार सात अङ्गों द्वारा पुण्य सम्पन्न करना है। सात अङ्ग इस प्रकार हैं—

(१) गुरुमण्डलों को साष्टाङ्ग प्रणाम।

(२) पूजा।

(३) पाप के लिए क्षमा मांगना।

(४) दूसरे लोग जो सद्धर्म करते हैं, उससे आनन्दित होना।

(५) सर्व बुद्धों से धर्मचक्र प्रवर्तन के लिये प्रार्थना करना।

(६) गुरुजनों के दीर्घजीवन के लिये प्रार्थना करना।

(७) साधक ने जो पुण्य किया है, उसके द्वारा सर्वप्राणियों के बुद्धत्वप्राप्ति के लिये प्रार्थना करना।

बोधिचित्त धारण करना—सम्पूर्ण प्राणियों के अन्दर सर्वतथागतसार (तथागतगर्भ) तिल में तेल के समान निहित रहता है। लेकिन आकाशगत छाया-वृत्ति के कारण कुछ समय तक भवसागर में डूबता रहता है। इसे (जब कि हृदय में सर्वतथागतसार विराजमान है) नहीं जानने के कारण अभी विना किसी अभिलाषा के साधक का बोधिचित्त उत्पन्न करना प्रमुख कर्त्तव्य है।

साधक सर्व प्राणियों की महामाता (प्रज्ञापारमिता) की भूमि को प्राप्त कर लेना चाहता है। उसके लिये वह निर्लोभ योग-चित्त उत्पन्न करता है।

'अभिधर्मकोश' तथा 'कालचक्रतन्त्र' के अनुसार भूमण्डल की पूजा करना।

पुण्य संकल्प का पालन करना—सम्पूर्ण पृथ्वी के मेरुपर्वत से लेकर सब पर्वत, मानसरोवर से लेकर सम्पूर्ण जल, कल्पवृक्ष से लेकर सब वृक्ष इत्यादि जितने रत्न, महारत्न हैं, साधक हृदय से उनकी पूजा करता है। यह बाह्य पूजा है।

असाधारण पूजा—साधक अपने शरीर को महारत्न तथा चिन्तामणि के समान मानता है। असाधारण साधक अपने शरीर के पाँच स्कन्ध, १८ धातु और १२ आयतन इत्यादि में जितने काम गुण हैं अर्थात् सम्पूर्ण शरीर का लोभ छोड़कर प्रसन्नता पूर्वक सद्गुरु को समर्पित करता है। यह आन्तरिक पूजा है। साधक स्वज्ञान (विद्या) से उत्पन्न बोधिचित्त, जो महागुण है, उसको भी समर्पित करता है।

यह गुह्य पूजा है। साधक यह बाह्य, आन्तरिक और गुह्य पूजा माचिग् लबडोन तथा महामाता स्वरूप सद्गुरु-मण्डल को समर्पित करता है।

मन जब तक स्थिर न हो जाए तब तक इस प्रकार साधना करना आवश्यक है। इस प्रकार साधना करने के बाद गुरुमण्डल साधक के शरीर में लीन होने का विचार करता है।

पञ्चम साधना—महामाता की साधना। ऊपर कहे अनुसार गुरुमण्डल के साधक में लीन होने की शक्ति से शून्यतास्वरूप सिंहासन पर पद्म और चन्द्रमा के ऊपर स्वयं प्रज्ञा महामाता धर्मकाय का स्वरूप धारण करती है। महामाता के शरीर का रंग सुनहरा है, चेहरा हँसमुख है। चार हाथ और दो पैर हैं, वे सिंहासन पर आरूढ़ हैं। ध्यान के अन्तर्गत प्रथम हाथ में वज्र, बायें हाथ में प्रज्ञापारमिता का ग्रन्थ और दो हाथ ध्यान की मुद्रा में अवस्थित हैं। उनके शरीर पर तेरह सम्भोग-काय का अलङ्कार सुशोभित है, यथा—पञ्चगोत्रक, मुकुट, पटाव, माला, अवहार, अङ्गद, अर्द्धहार, आन्तरोत्तर, कम्बु, पटाङ्क, अङ्गुलीयक। उनका शरीर प्रकाश से परिपूर्ण है। महामाता के मूर्ध, कण्ठ और हृदय स्थान से 'ओम् अः हूँ' नामक तीन अक्षरों के प्रकाशित होने पर स्वयं महामाता के स्वरूपभूत ज्ञानसत्व का आह्वान होता है। ज्ञानसत्त्व को जःकार, हूँःकार, वःकार तथा होःकार ये चार क्रमानुसार मैत्री रूपी अङ्कुश, करुणा रूपी रस्सी, आनन्द रूपी जंजीर तथा उपेक्षा रूपी घण्टी से स्वयं महामाता के स्वरूप में लीन करा देते हैं। सामने आकाश में पाँच कुलदेवियाँ अभिषेक देती हैं। इन पाँच कुलदेवियों का जल अभिषेक अन्त में मुकुट स्वरूप बन जाता है। महामाता के हृदय स्थान पर सुवर्ण के अःकार की मन्त्रमाला घूमती है। उससे प्रकाशित होकर सारे संसार की दस दिशाएँ देवक्षेत्र, पृथ्वी तथा प्राणी और अप्राणियों में लीन हो जाती हैं। उसके द्वारा दृश्यमान वस्तुएँ देवता-स्वरूप, शब्द देवता के मन्त्रस्वरूप, मन के कल्प-विकल्प आदि धर्मस्वरूप बन जाते हैं। इसी प्रकार ज्ञान द्वारा यह मन्त्र जप करना चाहिए।

मन्त्र—'तत् या था गति गति परागति परासम गति बोधि स्वाहा' यह मन्त्र साधक का मन स्थिर नहीं होने तक जपना चाहिए। उसके बाद ज्ञान-सत्त्व तथा समय-सत्त्व और शब्दमन्त्र इन्द्रधनुष के समान लुप्त हो जाते हैं और साधक का मन अवलम्बरहित (विचाररहित) और वचनरहित होकर स्वयं स्वरूप में स्थिर हो जाता है।

माचिग के गण-मण्डल का विवरण (प्रार्थना और आशीर्वाद) तथा षष्ठ साधना—महा-अधिष्ठान प्राप्त करना। साधक को आकाश में इन्द्रधनुष तथा प्रकाश-

मण्डल के मध्य सिंहासन का ध्यान करना चाहिए।[1] इसी आसन पर सर्व जिनों की महामाता स्वरूप माचिग् लबकी डोन्मा का ध्यान करना चाहिए। उनके शरीर का रंग तेजःस्वरूप है (यह वज्रडाकिनी कुल-संकेत है)। उनकी तीन आँखें हैं, त्रिकाय का प्रतीक। ये तीनों आँखें आसमान की ओर देखती रहती हैं, अर्थात् उनका दर्शन प्रज्ञा-शून्यता है। उनके दाहिने हाथ में डमरू है। इसका अर्थ है आनन्द-शून्यता। बाएँ हाथ में घण्टी है, यह दृष्टि-शून्यता का संकेत है। माचिग् के दोनों पाँव नृत्य की मुद्रा में रहते हैं। इसका अर्थ है सर्व प्राणियों के लिए उनका आनन्द-ज्ञान। उनके शरीर पर तेरह सम्भोगकाय के अलङ्कार सुशोभित हैं। माचिग् के मण्डल में लाखों विद्या-धरों, वीरों तथा डाकिनियों का समूह है। माचिग् के मूर्ध-स्थान में सफेद रंग का 'ओम्', कण्ठ स्थान में लाल रंग का 'अः' हृदय में नील रंग का 'हूँ' है। ये तीनों क्रमानुसार सर्व जिनों के काय-स्वरूप 'ओम्,' वाक्-स्वरूप 'अः' और चित्त-स्वरूप 'हूँ' के रूप में प्रकाशित होकर माचिग् के स्वयं स्थान से आह्वान करके माचिग् की कल्पना को साधक की कल्पना में लीन करते हैं।

जो विशुद्ध धातु है (विशुद्ध चित्त) वह प्रपञ्चरहित है। वह महामाता है। उस आकाशस्वरूप (शून्य) महामाता ने पुत्रस्वरूप साधक के हृदय से पद्म उत्पन्न किया। उस पर सूर्य और चन्द्रमा का सिंहासन तथा इन्द्रधनुष और प्रकाश।

मण्डल के मध्य में पिता-स्वरूप गुरुपरम्परा स्वयं माचिग् लबडोन के रूप में वर्तमान हैं। वे अत्यन्त सुन्दर और महा-आनन्ददायक तथा तेजःपूर्ण हैं। वे सद्गुरु हैं। वे श्रीहेरुक-स्वरूप हैं। सद्गुरु के रूप में सम्पूर्ण मण्डल के भाव परिपूर्ण हैं।

साधक सम्पूर्ण संसार के लोकप्रिय पाँच कामगुण (रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श) द्वारा माचिग् की पूजा करता है। अर्थात् पाँच कामगुण माचिग् को समर्पित करता है। साधक प्रार्थना करता है—'हे माचिग्! कृपा करके मेरी पूजा स्वीकार कीजिए। मैं आपके काय, वाक् और चित्त की स्तुति करके प्रणाम करता हूँ।'

---

१. सभी साधनाओं में इस संकेत को जानना चाहिए। साधक के सामने का अर्थ है—साधक की साधना की सुविधा। आसमान शून्यता का प्रतीक है। इन्द्रधनुष पञ्च ज्ञान-रंग का संकेत चिह्न है। प्रकाश विद्या (प्रज्ञा, ज्ञान) का प्रतीक, सिंहासन भयरहित होने का, पद्म विमल और चन्द्रमा उपाय (पुरुषलक्षण) का तथा सूर्य प्रज्ञा (नारी लक्षण) का प्रतीक है।

देवी-मण्डल से आशीर्वाद पाने के लिए प्रार्थना

साधक सोचता है कि उसके सामने विघ्न करने वाले शत्रु लौकिक तथा देवता, भूत आदि अलौकिक हैं, इसलिए उन प्राणियों की, एक साथ एकाग्रचित्त से श्रद्धासहित प्रार्थना करता है।

गुरुपरम्परा से प्रार्थना—साधक को डमरू बजाकर प्रार्थना करनी चाहिए।

प्रार्थनामन्त्र—'तुषित अकनिष्ठ स्थान में धर्मधातु-प्रासाद (मण्डल) है। वहाँ महामाता प्रज्ञापारमिता विराजती हैं। वे सर्वश्रेष्ठ आशीर्वाद देने वाली हैं, मैं उनकी प्रार्थना करता हूँ। आप मुझे आशीर्वाद दीजिए। गृध्रकूट पर्वत पर भगवान् शाक्यमुनि हैं, मैं उनकी भी प्रार्थना करता हूँ। उनको प्रज्ञापारमिता का ज्ञान महामाता से मिला है, आप मुझे आशीर्वाद दीजिए। मुचलिन्दपर्वत के मञ्जुश्री-विहार में सिंहासन पर मञ्जु-वाक्-नाद-वागीश्वर रहते हैं। मैं उनकी भी प्रार्थना करता हूँ, आप मुझे आशीर्वाद दीजिए। चित्त के विभु स्थान में डाकिनी आर्यतारा की प्रार्थना करता हूँ। भारत की झोपड़ी में रहने वाले महान् आचार्य आर्यदेव की भी प्रार्थना करता हूँ। ऊपरी तिब्बत के 'तिंगरी लिंखोन' मठ में 'फाचिग् तम्पा ग्याकर' को भी प्रणाम करता हूँ। 'जङ्गरी खर मर' के आश्रम में 'लादुव डोल्मा' की प्रार्थना करता हूँ। खम के 'खंग दोग' मठ के 'ड्रोमफन-लिम्पा' की प्रार्थना करता हूँ। अपने हृदय स्थान में रहने वाले परम गुरु को प्रणाम करता हूँ।

इस प्रकार प्रार्थना करने से सब गुरुपरम्परा का हृदय कृपापूर्ण होकर साधक से लेकर सर्व प्राणियों के शरीर को वे देवीमण्डल के कायस्वरूप आशीर्वाद देते हैं। सर्व प्राणियों के वाक् को देवीमण्डल के वाक्-स्वरूप और सर्व प्राणियों के हृदय में देवीमण्डल के चित्तस्वरूप आशीर्वाद देते हैं। साधक फिर प्रार्थना करता है—'सर्व प्राणियों के अहङ्कार को समाप्त करने के लिये आशीर्वाद दो। द्वैत भाव (मैं और तुम का भेद) को समाप्त करने का आशीर्वाद दो। आजन्म ज्ञान (शून्यता) प्राप्त करने का आशीर्वाद दो। यथार्थस्थिति को जानने का आशीर्वाद दो। स्वयं मुख्य दर्शन का आशीर्वाद दो। मैं सब समय गृहत्याग करके अभयपूर्ण स्थान में रह सकूँ, ऐसा आशीर्वाद दो। मैं त्सोद् साधना (प्रज्ञापारमिता की साधना) का सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके देव तथा भूत आदि सर्व प्राणियों के हित के लिए कार्य कर सकूँ, ऐसा आशीर्वाद प्रदान करो। आत्मग्रहण को समाप्त करके अनात्म-ज्ञान के लिए आशीर्वाद दो। संसार से निराश होकर अनित्य तथा मरण धर्मों का तत्त्वज्ञान प्राप्त कर सकूँ, ऐसा आशीर्वाद मुझे दो। मेरी साधना में विघ्न और भ्रम न उत्पन्न हो, ऐसा आशीर्वाद दो। साधक से लेकर सर्व प्राणियों का हृदय शून्यता तथा महाकरुणा से परिपूर्ण हो।

मैं इनकी प्राप्ति के लिये प्रार्थना करता हूँ। आज ही मुझे ऐसा आशीर्वाद प्रदान करो। इसी आसन पर ही मुझे आशीर्वाद दो।'

साधक केवल मुँह से श्रद्धा ज्ञापित नहीं करता, बल्कि हृदय से सद्गुरु की प्रार्थना करता है। साधक आँखों में आनन्दाश्रु भरकर प्रार्थना करता है। इस प्रार्थना के फलस्वरूप सद्गुरु अनुव्यञ्जन, उपव्यञ्जन, महातेज तथा महा-आनन्दस्वरूप शक्ति प्रदान करता है। गुरु का वचन ब्रह्मनाद के समान हुँकार संगीत सुनाता है और आशीर्वाद देता है। सद्गुरु का चित्त सर्वज्ञस्वरूप, करुणा तथा आदिज्ञान से परिपूर्ण आशीर्वाद देता है।

शक्ति का आशीर्वाद पाने के कारण साधक-पुत्र की जो दृष्टि है, वह मूलतः विषयरहित हो जाती है। उसका हृदय आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है। चित्त (ध्यान) में परमविद्या ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। इसी कारण साधक ज्योति-विद्या-धर बन जाता है।

साधक प्रार्थना करता है कि वह निर्जन स्थान, पर्वत, नदी तथा श्मशान आदि भूत-प्रेतों का जहाँ निवास हो, ऐसे स्थान पर रहने में भयभीत न हो। साधक अपने स्कन्ध या शरीर को देव तथा भूत-प्रेतों को देने में या उन्हें खिलाने में शरीर के प्रति किसी प्रकार के लोभ या आसक्ति के वशीभूत न हो। चार भूत एक साथ नष्ट हो जायें (चार भूत हैं—क्लेश-मार, स्कन्ध-मार, यम-मार, देवपुत्र-मार)। संसार और निर्वाण का संकल्प दृढ़ हो। जब तक मन स्थिर न हो जाए तब तक इस प्रकार प्रार्थना करते हुए साधना करनी चाहिए।

इस प्रकार प्रार्थना करने से तीन स्थान (अर्थात् काय-डाकिनी स्थान क्षेत्रजा, वाक्-डाकिनी स्थान मन्त्र तथा चित्तडाकिनी स्थान सहजक्षेत्र) के वीर तथा डाकिनियाँ सब एक-एक में लीन होकर प्रधान गणपति महाडाकिनी माचिग् लबडोन में लीन हो जाते हैं। साधक माचिग् लबडोन को सर्वविद्याओं का स्वरूप मान कर लबडोन के ललाट में श्वेत रंग का 'ओम्' कण्ठ में लाल रंग का 'आः', हृदय स्थान पर नील रंग के 'हूं' का ध्यान करता है। इस प्रकार ध्यान स्थिर हो जाने से साधक को फट् कहना चाहिए। फट् कहने से माचिग् के ललाट से श्वेत प्रकाश बाहर होकर साधक से लेकर सर्व प्राणियों के ललाट में प्रविष्ट हो जाता है। फलतः साधक से लेकर सर्व प्राणियों के शरीर द्वारा किया हुआ पाप शुद्ध हो जाता है। माचिग् की काया का आशीर्वाद मिले, इस बात पर ध्यान देना चाहिए। स्थिर होने के बाद साधक को फिर फट् कहना चाहिए। उससे माचिग् के कण्ठ स्थान से लाल प्रकाश बाहर होकर साधक तथा सर्व प्राणियों के कण्ठ में प्रविष्ट हो जाता है। उससे साधक तथा सर्व प्राणियों के वाक् द्वारा किया

हुआ पाप शुद्ध होता है। माचिग् के वाक् का आशीर्वाद मिले, इस बात पर ध्यान रखना चाहिए। स्थिर होने के बाद साधक को फिर फट् कहना चाहिए। उससे माचिग् के हृदय स्थान के हूँ-कार से नील रंग का प्रकाश निकल कर साधक तथा सर्व प्राणियों के हृदय में प्रवेश करता है। उससे साधक तथा सर्व प्राणियों के चित्त द्वारा किया हुआ पाप विशुद्ध हो जाता है। माचिग् के चित्त का आशीर्वाद मिले—इस पर ध्यान रखना चाहिए। साधक को फिर एक फट् कहना चाहिए, उससे महामाता सर्वज्ञान-डाकिनी-स्वरूप माचिग् लबकी डोल्मा प्रकाशस्वरूप बन कर साधक के मूर्धस्थान में लीन हो जाती हैं। उससे साधक के काय, वाक् और चित्त तथा माचिग् का काय, वाक् और चित्त अद्वैत होकर अचिन्त्य रूप से रह सके, ऐसा ध्यान करना चाहिए।

महामाता को पहचानना—जो साधक तीक्ष्ण बुद्धि वाला और श्रद्धावान् भक्त तथा साधना के लिये इच्छुक हो और विशेषरूप से महामाता या प्रज्ञापारमिता या महासम्पन्न का जो दर्शन है, उसका ज्ञान प्राप्त करने का इच्छुक हो, सर्वप्रथम वह साधक मनोरम, सुन्दर तथा निर्जन स्थान पर जाकर अपने लिये तथा सर्वप्राणियों के लिये बोधिचित्त उत्पन्न करे। साधक को मनुष्यजीवनरूपी रत्न प्राप्त हुआ है, उसका बार-बार मिलना कठिन है। यह जीवन अनित्य है। इसी बात का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। क्योंकि जिसने सारे संसार को अनित्य माना, किन्तु अपने जीवन को अनित्य नहीं माना, वह धर्म में कभी भी प्रवेश नहीं कर सकेगा। अनित्य का ज्ञान पूर्ण होने पर साधक का मन संसार से विरक्त हो जाता है, फलतः सर्व प्राणियों के हित के लिये बोधि प्राप्त करने की इच्छा पूर्ण होती है। साधक अब अपने काय, वाक् तथा चित्त को बोधिचित्तस्वभाव के अभिनिवेश से बन्धन में न डाले। संसार के बाहर के मिट्टी पत्थर, पर्वत, चट्टान, वृक्ष, पानी तथा ग्रह आदि को भी मनुष्य नित्य मान लेता है। लेकिन ये नित्य नहीं हैं। संसार में रहने वाले मनुष्य, जानवर आदि सर्व प्राणी भी मनुष्य की परिकल्पनामात्र हैं। इस बात को पूर्ण रूप से जान लेने के बाद साधक को विशेष चिन्तन करना चाहिए। यदि संसार को परिकल्पित करने वाला चित्त नित्य-अनित्य का विचार करता है, तो इस परिकल्पना करने वाले चित्त का स्वभाव अनित्य है या नहीं, इस पर विचार करना चाहिए। इसके बाद चित्त के रूप-रंग और आकार पर विचार करना चाहिए। यदि चित्त के रूप और रंग का पता चल जाए तो वह रूप और रंग क्या है, इस पर विचार करना चाहिए। यदि इसका उत्तर मिल जाए, तो चित्त के प्रथमतः उत्पत्ति स्थान तथा वर्तमान में वह कहाँ स्थित है और भविष्य में कहाँ जाने वाला है, इस बात पर विचार करना चाहिए और चित्त कहाँ (संसार के मिट्टी इत्यादि और मनुष्य आदि प्राणियों में) पर स्थित है—इस पर विचार करना चाहिए।

चित्त यदि बाहर कहीं नहीं है तो साधक के सिर से पाँव तक कहीं भी है या नहीं? यदि चित्त शरीर में भी नहीं मिले तो वह अनात्म-शून्यता है कि नहीं? इस बात पर बार-बार विचार करना चाहिए।

विशेष साधना—यदि विषय (बाह्य संसार) के या चित्त (विषयी) के स्वभाव में स्थिरता न मिले तो भी साधक के पास विषय (ग्राह्य) और विषयी (ग्राहक) दोनों पर विचार करने वाली एक बुद्धि है। साधक बुद्धि द्वारा बाह्य और अन्तर ग्राह्य और ग्राह्यक दोनों में चित्त कहाँ है—इस पर विचार करता है और वह चित्त अनात्म है या नहीं, इस बात पर भी विचार करता है। उसे बुद्धि द्वारा ग्राह्य और ग्राहक दोनों में अन्तर है या नहीं, इस बात पर विचार करना चाहिए। अन्त में यह भी पता न चले तो उस समय के ज्ञान (तात्कालिक ज्ञान) या पूर्वकालिक ज्ञान (विकल्प ज्ञान) का चिन्तन नहीं करना चाहिए तथा भविष्यकालिक ज्ञान (विकल्प) की चिन्ता को भी मन में लाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। उस समय साधक को विभिन्न विषयों की ओर मन को चञ्चल नहीं होने देकर वर्तमान ज्ञान में मन के स्वरूप को स्वयं-स्थित अवस्था में रखना चाहिए। उस समय उसको जानने वाला एक ज्ञान है, उसका नाम है विद्या-ज्ञान। यह मालूम हो जाने पर विद्याज्ञान का स्वभाव प्रकाशित होता है। जब साधक को चित्त, बुद्धि ज्ञान तथा विद्याज्ञान की पूर्ण जानकारी हो जाती है, उस स्थिति में साधक को जब तक मन स्थिर न हो जाए तब तक ध्यान करना आवश्यक है। साधक के मन में दुःख-आनन्द आदि जो नाना प्रकार की वेदनाएँ होती हैं, वह विद्याज्ञान का स्वभाव है, ऐसा समझना चाहिए। वह दर्पण के प्रतिबिम्ब जैसा है। उस विषय पर नाना प्रकार की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। साधक के मन का अनुभव, बुद्धि, मन, चित्त तथा विद्याज्ञान सब अद्वैत हैं अर्थात् विभिन्न नहीं हैं। संसार से मुक्ति पाने के लिये विद्या-आदि परम ज्ञान पर ध्यान देना अति आवश्यक है। वह विद्याज्ञान किसी ने नहीं बनाया। वह अनादि है और अनन्त ज्ञान है, स्वाभाविक है, प्रकाशस्वरूप है (अर्थात् स्पष्ट है)। विद्याज्ञान कभी विस्मृत नहीं होता है, उसका कोई भी ग्राह्य विषय नित्य, शाश्वत, ध्रुव, और सिद्ध नहीं है। उसको ग्रहण करने वाला विषयी चित्त नित्य नहीं है। सारे संसार के जितने विकल्प (परिकल्पित) हैं, ये सब आदि काल से मूल विद्याज्ञान के ऊपर प्रतिबिम्ब के समान सम्पन्न हैं। विद्याज्ञान आशा और संकोच से रहित है। ज्ञान हो जाने से विद्याज्ञान पहचान लिया गया है। नाना प्रकार के विकल्प विद्या-ज्ञान से ही उत्पन्न होते हैं और समाप्ति भी विद्याज्ञान में ही होती है, ऐसा विश्वास होना चाहिए।

स्वयं विद्या-ज्ञान स्वसदृश है, वह स्वच्छ है, अनिरुद्ध है और अपरिगृहीत है। वह स्वच्छ और अपरिगृहीत-ज्ञान है। उसी विद्याज्ञान की विस्तृत उन्नति होती है। वह अपरिवर्तित होती है। विद्याज्ञान सारे धर्म (संसार और निर्वाण) में विभुरूप है। वह अवर्णनीय है। वह बुद्धि से परे है। विद्याज्ञान में सब धर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् विषय और विषयी या ग्राह्य और ग्राहक दोनों अद्वैत हो जाते हैं। साधक जब ऐसी अवस्था में प्रवेश करता है, तो उसको साधना की आवश्यकता नहीं रह जाती। साधक को स्वयं सिद्धि द्वारा मूल महामुद्रा समन्तभद्रविद्या आदि परमज्ञान से साक्षात्कार हो जाता है। उस समय बरतो (मरने के बाद दूसरा जन्म लेने की अवस्था तक के बीच के काल को बरतो कहते हैं) धर्मधातु में ही लीन हो जाता है। उसके बाद वह सर्व प्राणियों का हित करने वाला, महात्मा हो जाता है।

इस अवस्था में तीन विशेष आसन के बारे में बताया जा रहा है। 'मुक्ता माला तन्त्र' में कहा गया है कि सिंह, हाथी तथा ऋषि के रूप में साधक को रहना चाहिए। इसके अनुसार सिंहासन पहले आता है। यह धर्मकाय आसन है। दोनों पाँव का तलुआ आपस में जुड़ जाता है। उससे चित्त को चञ्चल करने वाली वायु को वशीभूत कर लेता है। शरीर को सीधा रखने से विशुद्ध वायु के चलने में कोई बाधा नहीं रहती। सिर को तीन बार दाहिनी ओर और तीन बार बायीं ओर घुमा कर नीचा करके कण्ठनाली को दबाने से विकल्पज्ञान (चिन्ता) बन्द हो जाते हैं। दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर दोनों पाँव के तलुओं के बीच में रखने से चार धातु समान हो जाते हैं। दूसरा निद्रित हाथी के समान आसन है। यह सम्भोगकाय का आसन है। दोनों घुटने छाती में जोड़ देने चाहिए। उससे शरीर में आनन्द-उष्णता की वृद्धि होती है। धातुओं की भी वृद्धि होती है। दोनों केहुंनी जमीन पर टेकने से मातृ-वायु, पितृ-वायु और क्लीव लिंगवायु समान हो जाते हैं। दोनों गालों को दोनों हाथों के बीच में रखने से स्थूल वायु बन्द हो जाती है। पाँव की अंगुलियों को जमीन की ओर मोड़ने से (ग्यिङ्-पा) निमग्न और (गोद्-पा) औद्धत्य दोनों समान एवं शान्त हो जाते हैं। तीसरा है ऋषि-आसन। यह निर्माणकाय आसन है। घुटनों को पेट से सटाकर बैठने से नाड़ी तथा वायु समान एवं दोषरहित हो जाते हैं। पैर के तलवों को जमीन पर रखने से शारीरिक जल-धातु की अधिक शक्ति (रक्तचाप आदि दोष) नष्ट हो जाती है। मेरुदण्ड सीधा रखने से शारीरिक धातु तथा चित्त धर्म (विद्या-ज्ञान) की ओर उन्मुख होता है। घुटनों को छाती से लगाकर बैठने से शारीरिक अग्निधातु तथा वायु-धातु की प्रज्ञा-ज्ञान-ज्वाला प्रकाशित होती है। नाभि के अन्दर के निचले भाग के पेट का हिस्सा मेरुदण्ड तक खींचने से विकल्प-चिन्ता बन्द हो

जाती है। दोनों हाथ विपरीत दिशा में ले जाकर केहुंनी को घुटनों पर रखने से शारीरिक ताप-दोष (पित्त, कफ) दूर हो जाते हैं। हाथ को विपरीत दिशा में ले जाकर दोनों ओर की काँख के नीचे का हिस्सा दबाने से शीत-दोष दूर हो जाता है। दोनों हाथों को विपरीत दिशा में ले जाकर अंगूठे के पास की दोनों उगली दोनों कानों के नीचे खड़ी रखने से शीत-ताप समान हो जाते हैं। और भी ३३ आसन हैं। आसन जो भी हो अधिक कड़ा नहीं करना चाहिए और न अधिक ढीला करना चाहिए।

चार मार के बन्धन को काटना या मुक्त होना

(१) 'थोग्-छस्-ब्दुद्' सप्रतिहत। अर्थात् जो विषय है शत्रु, मित्र आदि, उनसे क्रोध और राग आदि होते हैं। जिनका रूप आँख से देखा जा सकता है तथा शब्द (वचन) सुना जा सकता है, इसी प्रकार रस, गन्ध और स्पर्श के कारण मन में अच्छे बुरे जो विचार आते हैं, उससे अच्छे के प्रति आशा, खराब के प्रति भय आदि दृढ़ विश्वास उत्पन्न होते हैं। उसको 'थोग्-छस्-ब्दुद्' कहते हैं, अर्थात् विद्या द्वारा विषयी नाना प्रकार की वेदना पाता है। सुन्दर रूप तथा मधुर शब्द, सुगन्ध आदि विषय में अनुराग और कुरूपता आदि के प्रति विराग, शत्रु के बारे में सुनने तथा स्मरण मात्र से क्रोधित होना, सम्बन्धी तथा मित्रों के प्रति अनुराग को 'थोग्-छस्-ब्दुद्' कहते हैं। अर्थात् विषय के कारण विषयी में जो भाव प्रकट होते हैं, उनको 'थोग्-छस्-ब्दुद्' कहते हैं। ये साधना में विघ्न करते हैं। उस समय साधक को 'फट्' शब्द कहकर आशा तथा संकोच आदि को बन्द कर देना चाहिए और महामाता प्रज्ञा-पारमिता धर्मधातु-शून्यता प्रकाश-शून्यता का सहज भाव से ध्यान करने से 'थोग्-छस्-ब्दुद्' समाप्त हो जाते हैं।

'थोग्-मेद्-ब्दुद्' बाह्य विषय तथा कारण नहीं होने पर भी मन में क्रोध होना, उदास होना या अत्यन्त आनन्दित होना या अत्यधिक भयभीत होना इत्यादि सुख-दुःख तथा ऊँच-नीच के जो विकल्प उत्पन्न होते हैं, उनमें आशा तथा संकोच का बन्धन होने से उनको 'थोग्-मेद्-ब्दुद्' कहते हैं। इससे साधना में विघ्न उत्पन्न होते हैं। उस समय साधक को फट् शब्द कहना चाहिए। विकल्प को तुरत बन्द करके ध्यान करने से साधक की उन्नति होती है। प्रपञ्चरहित विद्याज्ञान के स्वभाव का ध्यान करने से 'थोग-मेद्-ब्दुद्' समाप्त हो जाते हैं।

'दगअ्-स्प्रो-ब्दुद्' आनन्द-उत्सव-अहङ्कार। साधक अपने गुरु तथा दूसरों से बड़ा है। साधक धर्मपरम्परा में दूसरों से ऊँचा है। जीविका की वस्तुएँ पर्याप्त तथा अन्य साधकों से अधिक हैं। दूसरे साधकों से धर्मसाधना में अधिक उन्नति हुई है तथा गुरु और धर्म में साधक का यश बढ़ रहा है।

इस प्रकार के अहङ्कार से जो आनन्द मिलता है, वह साधना में विघ्न डालता है। इसी को 'गब्-ट्रो-दुद्' कहते हैं साधक को फट् कहकर उस अहङ्कार-विकल्प का ग्रहण न करके विद्याज्ञान में लीन रहना चाहिए।

'सृ्ञोम्-ब्येद्-ब्दुद्' साधक जब ध्यान में रहता है, उस समय जो दूसरे विकल्प-ज्ञान उत्पन्न होते हैं, उसका ग्रहण करना ही सृ्ञोम्-ब्येद्-ब्दुद् है, उससे साधना में विघ्न उत्पन्न होता है। उस समय साधक को फट् कहकर विकल्पज्ञान को स्वयं दूर कर देना चाहिए और महामाता प्रज्ञापारमिता और शून्यता की ओर ध्यान देना चाहिए, उससे साधना में उन्नति होती है।

सोना, खाना, उठना-बैठना और साधना आदि करते समय अच्छे-बुरे विचारों को फट् शब्द कहकर माया-भ्रम के विकल्पों को शीघ्र ही बन्द कर देना चाहिए। विद्या-शून्यता का ध्यान करना चाहिए। उनमें अनुग्रह तथा अनुराग नहीं करना चाहिए। सदा विशुद्ध, अप्रपञ्च, महामाता, शून्यता के रूप का ध्यान करना चाहिए।

'थोग्-ब्चस्-ब्दुद्' विषय की अभिलाषा को दूर करना, 'थोग्-मेद्-ब्दुद्' विषयी की अभिलाषा को दूर करना, 'द्गअ्-स्प्रो-ब्दुद्' अहङ्कारस्वरूप आनन्द को दूर करना और 'सृ्ञोम्-ब्येद्-ब्दुद्' है आत्मविकल्प की चिन्ता को दूर करना। उसके कारण पहले के तीन चौथे 'सृ्ञोम्-ब्येद्-ब्दुद्' के अन्तर्गत आते हैं। इसी कारण चौथे का त्याग करने से सब दूर हो जाते हैं।

अब साधक को ज्ञान होना चाहिए कि संसार और वस्तु (भाव) शून्यता-स्वरूप हैं। अब तक सहज महाभूत, सहज अविद्या ने धोखा देकर पाँच क्लेश के बन्धन में डाला। उसके उपादान (कारण) दुःख के विघ्न से दबे रहे।

साधक के लिए अब संसार तथा निर्वाण लक्षण-रहित हैं। संसार और निर्वाण का संकल्प समाप्त हो गया। अच्छे का ग्रहण और बुरे का त्याग भी नहीं रहा। निर्वाण-प्राप्ति की आशा और नरक में जाने का भय भी साधक के मन से चला गया। ऐसा इसलिए होता है कि साधक को विद्या-ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है। वह निर्मल है, धर्मकाय-स्वरूप है तथा भयरहित है।

साधक प्रार्थना करता है कि वह अब एक स्थान पर नहीं रहकर निर्जन-स्थान पर्वत, नदी के किनारे या श्मशान आदि विभिन्न स्थान में रहने का निश्चय कर सके। बिना किसी युक्ति या उद्देश्य के धर्ममहामाता (प्रज्ञापारमिता) के अभि-प्राय को निश्चयपूर्वक जानना चाहिए। वह साधक अनिश्चित कर्म करने वाले भूत-प्रेतों का मार्ग-दर्शन करेगा। सांसारिक दृष्टि से इस मार्ग की व्याख्या करना कठिन

है, लेकिन साधक के ज्ञान के द्वारा भूत-प्रेतों तथा साधक को एक समय मुक्ति मिल जाती है।

साधक को अपने आसन पर बैठकर वैरोचन सप्तधर्म-आसन (शारीरिक मुद्रा) ग्रहण करना चाहिए। साधक का मन्त्र है—

'गुरु को प्रणाम। एक मात्र मां लबडोन को प्रणाम। महामाता (प्रज्ञा पारमिता) मुझे आशीर्वाद दो। इस मन्त्र को अनेक बार उच्चारित करना चाहिए।

'मैं माचिग् लबडोन को प्रणाम करता हूँ। माचिग् लबडोन मानव रूप धारण करती हैं, लेकिन मानवी नहीं हैं। वे ज्ञान डाकिनी ही हैं। माचिग् लबडोन बिना किसी प्रकार की अनुरागसाधना के सर्व प्राणियों को विभु-दान देती हैं (धर्मोपदेश देती है)। मुझे तथा अपने अन्य शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए। माचिग् लबडोन को सर्वाकार आदि ज्ञान (जो ज्ञान सर्व गुणों का जन्मदाता है) प्राप्त हैं। माचिग् कभी शील को विनष्ट नहीं करती (आदिज्ञान प्राप्त करने के बाद किसी नियम को भङ्ग नहीं करती), उसी कारण मुझे और अपने शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए। आपने (माचिग् लबडोन ने) अनुत्पाद (शून्यता) को प्राप्त कर लिया है। आपने (माचिग् लबडोन ने) अनुत्पाद-शून्यतास्वरूप की अर्हता को प्राप्त कर लिया है। मुझे तथा अपने शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए। आप (माचिग् लबडोन) कार्य तथा कारण के अद्वैत को जानने वाली हैं, इसी कारण बिना प्रयास के साधना करती हैं। मुझे और अपने शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए। आप (माचिग् लबडोन) अचल समाधि को प्राप्त कर चुकी हैं। आप अचल समाधि में स्थिर साधना करती हैं। मुझे और अपने शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए। माचिग् सर्वस्वभाव-तथता को प्राप्त कर चुकी हैं। आप अनात्म-स्वरूप प्रज्ञा-ज्ञान की योगिनी हैं। मुझे तथा अपने शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए।

माचिग् लबडोन प्रतिपक्ष-दृष्टि की ज्ञाता है, इसी कारण अभिलाषा से मुक्त हैं। समन्त-साधना करने से अवलम्ब अथवा विषय से मुक्त हैं। अनुत्पन्न ज्ञान से वे संसार से मुक्त हैं। वे बिना विकल्प के चर्या करती हैं। इसी कारण भयरहित हैं। हे माचिग् लबडोन, मुझे और शिष्यों को आशीर्वाद दीजिए।

नवम साधना—परा-प्रवेश। साधक को इस प्रकार साधना करनी चाहिए कि जिसके पास अहम् है, वह आत्मग्रहण न कर सके। यह आदि काल से माया भ्रम के साथ हमारे मन में रहता है। इस आत्म-ग्रहण को बिना परिग्रह के समाप्त कर देना चाहिए। आत्मा ने लालच करके इसी शरीर के लिये इच्छा की थी। उस इच्छा को भ्रम मान कर लालच को समाप्त कर देना चाहिए। देव तथा भूत, अच्छे और

बुरे, मित्र और शत्रु आदि जो द्वैत विचार हैं, ये भी विकल्पमात्र हैं। इस द्वैत को भी अद्वैत शून्यता के स्वभाव में विलीन कर देना चाहिए। अप्रपञ्च स्व-विद्या-ज्ञान ही एक मात्र विन्दु (शून्यता) स्वरूप है। यह माचिग् लबडोन के कृपापूर्ण हृदय (आत्मा) में प्रविष्ट हो जाए। फट् कहकर आनन्द-शून्यता स्वभाव का ध्यान करना चाहिए। दूसरा फट् कहकर विद्या-शून्यतास्वरूप में ध्यान करना चाहिए। तीसरा फट् कहकर प्रकाशशून्यता महाविद्या-ज्ञान का ध्यान करना चाहिए। जहाँ तक आकाश है, वहाँ तक विद्याज्ञान विभु है। उसी अप्रपञ्च शून्यतास्वरूप का ध्यान करना चाहिए। साधक देव-मार को समाप्त कर देता है। वह अपने चित्त (विद्या-ज्ञान) को आकाशशून्यता में प्रवेश करा देता है। देव-मार के कारण मनुष्य संसार की वस्तुओं के प्रति लोभी हो जाता है और अपने शरीर के प्रति भी उसे मोह हो जाता है। इसी कारण देव-मार को भी अनित्य-शून्यता स्वरूप में पहचान लेना चाहिए, फलतः विषय-वस्तु (देव-मार) शून्यस्वरूप हो जाते हैं। देव-मार का सम्पर्क मन से है। यहाँ मन का अर्थ है विद्या-ज्ञान। जो मन से काम (इच्छा) को निकाल देता है, वह देव-मार को समाप्त करता है।

साधक अपनी चित्तविद्या का आकाश में प्रवेश करा कर शून्यतास्वरूप धर्मधातु या ज्ञानधातु में मिला देता है। उससे समयशत्रु (यमराज मार) को समाप्त कर देता है। विद्याज्ञान के धर्मधातु में प्रवेश करने से धर्मधातु जब शून्यता है, तब विद्याज्ञान भी अरूप (अप्राणी) ही है। उसके शून्यता में विलीन होने से यमराज के दूत किसको मारेंगे? विद्या-ज्ञान शून्यतास्वभाव में डाकिनी का रूप धारण कर लेता है। डाकिनी के दाहिने हाथ में कर्तिका और बायें हाथ में कपाल है। डाकिनी साधक के शरीर को टुकड़े-टुकड़े करके कपाल में डाल देती है, उससे स्कन्धमार नष्ट हो जाता है। स्कन्ध राशि को कहते हैं। रूप-स्कन्ध, वेदना-स्कन्ध, संस्कार-स्कन्ध, संज्ञा-स्कन्ध और विज्ञान-स्कन्ध एक साथ मिलकर स्कन्ध कहलाते हैं। डाकिनी द्वारा रूपस्कन्ध को नष्ट कर देने से वेदना भी नष्ट हो जाती है। 'मेरा शरीर' इस प्रकार की संज्ञा नष्ट हो जाती है और 'मेरा शरीर' ऐसे संस्कार आदि का विचार भी नहीं रहता। विद्या-ज्ञान तो पहले ही धर्म-धातु में लीन हो चुका है। इसी कारण विज्ञान-स्कन्ध समाप्त हो जाता है। क्योंकि विज्ञान-स्कन्ध विद्या-ज्ञान का एक रूप है। इसी कारण विज्ञान-स्कन्ध का ऐसे ही लोप हो जाता है।

साधक क्लेश-मार को भी समाप्त करने के लिये शरीर की पूजा तथा दक्षिणा देता है। इस प्रकार निर्विकल्प ज्ञान द्वारा चार मारों को समाप्त कर दिया जाता है।

दसवीं साधना—शरीर को अमृतस्वरूप मानकर पूजा करना। साधक 'ओम् अः हूं' इन तीन अक्षरों को उच्चारित करता है। पहले कहा जा चुका है कि विद्या-

ज्ञान डाकिनी का रूप धारण करके बायें हाथ के कपाल में शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके डाल देता है। साधक के 'ओम्' शब्द उच्चारित करने से (ओम् का अर्थ धर्मकाय है और सर्व तथागत के चित्त से उसका अद्वैत है) सर्व तथागत की शक्ति तथा आशीर्वाद अमृत नील रङ्ग के प्रकाश-स्वरूप कपाल में प्रवेश करके वस्तु को अमृत बना देता है। 'अः' कहने से (अः सम्भोग-काय स्वरूप है) सर्वतथागत के वाक् से उसका अद्वैत है। सर्व तथागत की वाक् शक्ति तथा आशीर्वाद अमृत लाल रंग के प्रकाशस्वरूप कपाल में प्रवेश करके, कपाल में जितनी वस्तु हैं, सबको अमृतस्वरूप बना देते हैं। 'हूँ' कहने से (हूँ निर्माणकाय है। सर्व तथागत के निर्माणकाय से अभिन्न है) सर्व तथागत की निर्माणकाय की शक्ति तथा आशीर्वाद अमृत 'हूँ' कार के रूप में नील रंग के प्रकाशस्वरूप कपाल में प्रविष्ट होने से कपाल की वस्तु अमृतस्वरूप हो जाती है। सर्व तथागत के काय, वाक् और चित्त की शक्ति अमृतस्वरूप कपाल में प्रविष्ट होने से कपाल की सम्पूर्ण वस्तु अमृतस्वरूप हो गई। जब तक यह विचार दृढ़ नहीं होता, तब तक साधक 'ओम् अः हूँ' का जप करता रहता है। उसके बाद साधक 'हा हो ह्रीं' का उच्चारण करता है। 'हा' शब्द की शक्ति से पूजा लेने वाले जितने देव-देवियाँ हैं, उतनी वस्तु प्राप्त हो जाती हैं। 'हो' कहने से पूजा के लिये जितने की आवश्यकता होती है, उतने उपस्थित हो जाते हैं। 'ह्रीं' कहने से (ह्रीं ज्ञान-डाकिनी का बीजमन्त्र है) डाकिनी तथा पुजारिनी सब ज्ञान-डाकिनी स्वरूप बन जाती हैं। यह ज्ञान जब तक पूर्ण नहीं हो जाता, साधक 'हा हो ह्रीं' मन्त्र जपता रहता है।

किसको किसको देना है—गुरुपरम्परा, महासाधकों, विद्याधरों, सर्व बुद्ध, सर्व बोधिसत्त्व, आर्या, हेरुक आदि चार या छ तान्त्रिक इष्टदेव मण्डल तथा तीन स्थान के (आकाशगामी, भूगामी तथा पातालगामी) देव-देवियों को आह्वान करके साधक अपने पापरहित तथा विशुद्ध अमृतस्वरूप शरीर की पूजा देता है, उससे देव-देवी, भूत-प्रेत आदि सर्व प्राणी पुण्यसम्पन्न हो महामाता प्रज्ञापारमिता का ज्ञान प्राप्त करके, महामाता प्रज्ञापारमिता की साधना करके महामुक्ति प्राप्त करते हैं, साधक बाहर और भीतर के धर्मपाल, पितृ-देव, मातृ-देव, अद्वैत-देव, तुषितस्थानरूप देवलोक में रहने वाले महाकाल तथा गौरी आदि सत्तर नाथ की पूजा करता है। इसको गणनाथ अतिथियों की पूजा कहते हैं। इस पूजा को ग्रहण करने वाले देवस्वरूप हैं।

गुरुपरम्परा, आगमपरम्परा, साधनापरम्परा, अभिषेकपरम्परा, लिखित उपदेशपरम्परा, व्याख्यान श्रुतिपरम्परा तथा छः अन्य परम्पराओं की पूजा की जाती है। इष्ट देवमण्डल, वीरों, डाकिनियों, जिनपुत्रों तथा धर्मरक्ष आदि उत्तम अतिथियों

की पूजा की जाती है। महादेव, ब्रह्मा, षडानन, इन्द्र, चतुराश महाराज, दश दिक्पाल आठ महादेवियों, आठ महानाग, आठ महाग्रह, अट्ठाइस नक्षत्र, नौ भयदाता आदि गणनाथ देवताओं की पूजा की जाती है। इस स्थान पर रहने वाले भूपति, देव, राक्षस, आदि आठ तथा प्रत्येक बार साधक के माता-पिता होने वाले प्राणियों की साधक पूजा करता है। जो पहले आ नहीं सके, जो दुर्बल भूत-प्रेत आदि हैं, उन सबको साधक पूजा करता है। वह कहता है मेरी इस पूजा से आर्यगण प्रसन्न होते हैं। उससे सर्व प्राणियों की क्लेशावृति तथा ज्ञेयावृत्ति दोनों विशुद्ध होती हैं तथा पुण्य सम्पूर्ण होता है। उससे महामाता के हृदय में विमुक्ति होती है।

बाह्य पूजा की वस्तु—(१) शरीर के चमड़े को साधक भूमण्डल मान लेता है। मेरुदण्ड को मेरु पर्वत और सिर को विजयग्रह मान लेता है। इसमें राजा इन्द्र का निवास है। दोनों हाथ और दोनों पादों को चार महाद्वीप मान लेता है। दोनों आँखों को सूर्य और चन्द्र मान लेता है। चित्त को कल्पवृक्ष मान लेता है। रक्त को समुद्र मान लेता है। इस प्रकार शरीर को भूमण्डल के रूप में देखता है।

(२) साधक अपने शरीर के चमड़े पर शरीर की सम्पूर्ण वस्तु को पाँच कामगुण (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द), सप्तराज सम्पत्ति (चक्र, मणि, स्त्रीरत्न, गृहपतिरत्न, हस्तिरत्न, घोड़ा और सेनापति रत्न), आठ मङ्गल वस्तु (सरसों, बेल, दूर्वा, सिंदूर, गोरोचन, दही, दर्पण और शंख), आठ विजय लक्षण (छत्र, मछली, कुम्भ, पट, श्रीवस्तु, शंख, पताका और चक्र) और उत्तम-उत्तम सांसारिक वस्तु द्वारा बुद्ध, बोधिसत्त्व की पूजा करता है और तुषित स्थान पर रहने वाले नाथ तथा आर्यों की पूजा करता है। उन लोगों को सन्तुष्ट करके उनके मन में बोधिचित्त उत्पन्न करना चाहिए।

साधक अपने शरीर, स्कन्ध तथा धातु को भोग के रूप में प्रस्तुत करता है। जैसे बाह्य पूजा की वस्तु, आन्तरिक पूजा की वस्तु आदि अचिन्तनीय भोग वस्तु सब अतिथियों को (पूजा ग्रहण करने वालों को) जो जिस वस्तु को ग्रहण करना चाहता है, वह उनकी इच्छानुसार सम्पूर्ण आज्ञा पूर्ण होने तक पूजा देते रहते हैं।

आन्तरिक पूजा—आठ विज्ञानों को विशुद्ध (शून्य) करके भयरहित रूप में ग्रहण करता है। बाहर और भीतर (संसार) की सभी वस्तुओं की इच्छा को शून्यता में समाप्त कर देता है। इस प्रकार की पूजा सर्वश्रेष्ठ पूजा मानी जाती है।

भूत-प्रेतों का आह्वान—साधक अपने शरीर की ममता को त्याग देता है और शरीर का चमड़ा बिछा देता है। सम्पूर्ण शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके चमड़े पर डाल देता है। साधक मन में सोच लेता है कि मांस पर्वत के समान हो गया है और रक्त

समुद्र के समान हो गया है। अरूप (मन) रूप धारण करने वाले सम्पूर्ण भूत-प्रेतों को अपना भोगस्वरूप शरीर दान कर देता है।

लोकायत और लौकिक हेरुक (भूतनाथ) तथा भूत-प्रेत, जो माँस भक्षण करना चाहते हैं, रक्त पान करना चाहते हैं, साधक उनका आह्वान इस प्रकार करता है 'सब अपने स्वभावानुसार शुद्ध रूप ,दिखाते हुए, क्रुद्धवचन बोलते हुए यहाँ आओ, जिनका पूर्व जन्म का ऋण मेरे पास बाकी है, वे लोग भी कुरूप और कुवचन बोलते हुए आओ।'

साधक सोचता है—'मैं तो महायोगी हूँ और महासम्पन्न योगी हूँ। इसी कारण मेरे पास संसार और निर्वाण दोनों अद्वैत (समान) हैं। इसी कारण सब धर्म संसार तथा निर्वाण एक हो ज्ञान में विलीन हो जाते हैं। मेरे लिये अच्छा-बुरा, आशा-निराशा, क्रोध-मैत्री, लज्जा इत्यादि में कोई अन्तर नहीं है। आप लोग जिस प्रकार चाहें, मेरे शरीर का उसी रूप में ग्रहण करें। मैं अपने अमृतस्वरूप शरीर का दान करता हूँ।

'आप लोग जितना मांस खाना चाहते हैं, खाइये। जितना रक्त-पान करना चाहते हैं, पान कीजिये। मैंने अब तक अपने शरीर के प्रति जो माया (ममता) की है, आज उसका त्याग करता हूँ और अपना शरीर आप लोगों के भोग के लिये प्रस्तुत किये देता हूँ। यदि आप लोग उसको ग्रहण नहीं कर सके तो यह आप लोगों का दोष है। यदि मैं समस्त दान नहीं कर सका तो यह मेरा दोष है। पूजा के समय जो विघ्न या बाधा आये उसको मैं साधन-मार्ग मान लेता हूँ। मेरे ऊपर जो पुराना ऋण आप लोगों का हो, वह मिट जाए और मेरे पाप की विशुद्धि हो जाए।

'सप्तजीवन ब्राह्मण का शरीर जैसे अमृत हो गया था, उसी प्रकार मेरा शरीर। जिन्हें देखा, सुना और भोग किया उन लोगों का मन क्रोध, लालच आदि क्लेशों से मुक्त होकर परम-सर्वज्ञ के पद की प्राप्ति करे।

अशक्तों को निमन्त्रण—जो लोग पूजा के समय भोग ग्रहण करने नहीं आ सके (शारीरिक रूप से दुर्बल, सुदूर निवासी, समय पालन करने वाले इत्यादि) वे तथा इस समय हठात् आने वाले अतिथि, जिनकी शक्ति कम है, जो दरिद्र हैं, उन लोगों को जो-जो चाहिए वैसे इस शरीर का दान करता हूँ। हे अतिथिगण! आप अपने-अपने दुःख से मुक्त हों, स्थायी आनन्द की प्राप्ति करें और अन्त में परम शान्ति प्राप्त करें।

सर्वश्रेष्ठ दान—'हे देव-देवियों और भूत-प्रेतों, सुनो! सर्वतथागतमूल या सार आप लोगों के हृदय में है, वही विद्या-ज्ञान या बुद्धतत्त्व है और दूसरा कोई नहीं है। अपने मन के भ्रम से स्वयं ज्ञान आच्छादित हो गया है, इसीलिए

बुद्धज्ञान का दर्शन नहीं हो पाता। जैसे सूर्य से आई हुई किरण सूर्य से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार बुद्धज्ञानस्वरूप विद्याज्ञान और अविद्या (माया या भ्रम) दोनों अभिन्न हैं। इन दोनों में से एक का ज्ञान होने से ही मुक्ति हो जाएगी और सर्व विद्या-ज्ञान में लीन हो जाएगा।' यह आदिज्ञान प्रपञ्चरहित है। संसार और निर्वाण अभिन्न हैं। संसार और निर्वाण का स्वभाव शून्यता है, स्वयं ज्ञान के लिये देवता और भूत अद्वैत हैं और समरस हैं।

ग्यारहवीं साधना—'जिसने मुझे कष्ट दिया है अर्थात् शत्रु से लेकर सर्व प्राणियों की सम्पूर्ण पापवृत्ति तथा दुःख मुझे प्राप्त होना चाहिए। मेरा (साधक का) सुख, आनन्द मेरे शत्रु से लेकर सर्व प्राणियों को मिल जाना चाहिए।

अन्तिम साधना—इस साधना के बाद अच्छे-बुरे, आशा-निराशा का त्याग करना, चार मार आदि तथा ग्राह्य-ग्राहक, विशेष्य-विशेषण का त्याग करना चाहिए। सदा शून्यतास्वरूप विद्याज्ञान के स्वभाव में रहना चाहिए। जब रिग्-अ्जिन्-र्गोद्-ल्देम्-ग्चोद् साधना करते-करते खगचारी बन गए, उस समय यही प्रार्थना करते तथा आशीर्वाद देते हुए वे आकाश में विलीन हो गये।

• • •

भारतीय तन्त्र-विद्या का अध्ययन

महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज

कुछ वर्षों पूर्व तक अन्य अनेक भारतीय विद्याओं के समान तन्त्र विद्या भी भुला सी दी गई थी। वेद, भाषाशास्त्र आदि के समान तन्त्रविद्या को भी जनता के सामने अभिनव रूप में उपस्थापित करने का मुख्य श्रेय पाश्चात्य विद्वानों को ही दिया जाना चाहिए। जिस प्रकार वेद का प्रारम्भिक प्रचार, प्रकाशन, उसकी महत्ता का विश्व भर में प्रख्यापन आदि कार्य मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य पण्डितों ने किया, उसी प्रकार तन्त्रशास्त्र का आधुनिक समय में सर्वप्रथम मर्मोद्घाटन और आलोचन का सूत्रपात सर जान उडरफ नामक मनीषी ने किया। प्राचीन आचार्यगण वैदिक और तान्त्रिक उभयविध श्रुति का प्रामाण्य अङ्गीकार करते थे। वर्तमान समय में जो अनुसन्धान कार्य चल रहा है, उससे यह पता चलता है कि विशाल तान्त्रिक साहित्य अभी तक अप्रकाशित ही पड़ा है। प्रकाशन पहले से अधिक हुआ है, किन्तु समुचित प्रकाशन अभी तक नहीं हो पाया है। काश्मीर, मैसूर, मद्रास, बंगदेश, बम्बई, पूना, पाण्डिचेरी, तिरुपति, श्रीरंगम्, बड़ौदा आदि स्थानों में सर्वत्र अनुसन्धान कार्य चल रहा है, नूतन ग्रन्थ भी प्राप्त हो रहे हैं। तन्त्रशास्त्र विषयक इस पूरे कार्य के योजनाबद्ध रूप से एक केन्द्रीय निर्देशन में सञ्चालन की परम आवश्यकता है।

काशी ज्ञान का प्रधान केन्द्र माना जाता है, यह बात सत्य है। काशी अति-प्राचीन काल से तान्त्रिक साधना का भी प्रधान पीठस्थान रहा है। भगवान् शङ्करा-चार्य के वैदिक और तान्त्रिक उभयविध मार्ग पथप्रदर्शक रहे हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में नाना प्रकार के तान्त्रिक सम्प्रदायों के विकसित होने पर भी काशी में प्रायः सभी सम्प्रदायों के विशिष्ट आचार्यों की उपस्थिति और उन परम्पराओं के क्रमिक विकास का इतिहास उपलब्ध होता है। तान्त्रिक वाङ्मय में अनेक शाखाओं का विकास हुआ है। दक्षिण में वैखानस, पाञ्चरात्र आदि वैष्णव आगमों का, शैव-सिद्धान्त, कालामुख, वीरशैव आदि शैवागमों का, पश्चिम में गुजरात, राजस्थान आदि में पाशुपत आगम का, उत्तर में काश्मीर में प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द, कौल, क्रम आदि शैव और शाक्त तन्त्रों का, नेपाल में शैव, शाक्त और बौद्ध तन्त्रों का, पूर्व में बंगदेश, आसाम और उड़ीसा में शैव, शाक्त, बौद्ध और वैष्णव तन्त्रों का अनवरत विकास होता रहा है। अब समय आ गया है कि आज जो कुछ तान्त्रिक वाङ्मय

समुपलब्ध है, उसका आलोचना, प्रत्यालोचना पूर्वक ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनुशीलन और प्रकाशन किया जाए एवं उसके साधना के दृष्टिकोण को नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अभिनव रूप में उपस्थित किया जाए।

मैंने अपनी योगतन्त्र विभाग की अध्यक्षता के पाँच वर्ष के कार्यकाल में विभागस्थ अध्यापक, अनुसन्धाता और छात्रों के सहयोग से ऐतिहासिक और तात्त्विक आलोचना का कार्य आरम्भ किया है और साथ ही साथ ग्रन्थ प्रकाशन का भी। ऐतिहासिक अध्ययन से पता चलता है कि गत एक सहस्राब्दी अथवा उससे भी पूर्व काल से काशी में समय-समय पर प्रमुख तान्त्रिक आचार्यों का प्रादुर्भाव होता रहा है। उनमें सरस्वती तीर्थ, राघव भट्ट, सर्वानन्द परमहंस, विद्यानन्दनाथ, महीधर भट्ट, नीलकण्ठ, प्रेमनिधि पन्त, भास्कर राय, शङ्करानन्दनाथ, माधवानन्दनाथ, क्षेमानन्द, सुभगानन्द, काशीनाथ भट्ट आदि के नाम उल्लेख्य हैं।

तन्त्रशास्त्र में लौकिक एवं पारमार्थिक सभी प्रकार के विज्ञान की चर्चा हुई है। भगवान् शङ्कराचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ सौन्दर्यलहरी के एक श्लोक में चतुष्षष्टि तन्त्रों की चर्चा हुई है। इन चतुष्षष्टि तन्त्रों की गणना विभिन्न सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार से हुई है। प्राचीन काल में समयाचार और कौलाचार का समान रूप से प्रचार था। इसके अतिरिक्त और भी छोटे-छोटे सम्प्रदाय थे, जिनके ग्रन्थों में नाना प्रकार की अलौकिक प्रक्रियाओं का विवरण मिलता है। सौन्दर्यलहरी की लक्ष्मीधर की टीका देखने योग्य है। परमार्थ के समान ही लौकिक विषय में भी तन्त्रों का अनुदान कम नहीं है। आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली में रसचिकित्सा सर्वात्मना तान्त्रिक वाङ्मय की देन है। तन्त्रशास्त्र में आध्यात्मिक गम्भीर तत्त्वशकल आलोकित हुए हैं। मैंने बङ्गभाषा में लिखित अपने ग्रन्थ 'तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त' में इस विषय की विशद आलोचना करने का प्रयत्न किया है। वर्तमान दार्शनिक तत्त्वचिन्तन तब तक परिपूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकेगा, जब तक कि उसमें तन्त्रशास्त्र की विभिन्न प्रकार की तत्त्वचिन्तन प्रक्रियाओं के द्वारा परीक्षित मौलिक विचारों का समावेश नहीं किया जाता। द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैत दृष्टिकोण से विस्तारित आध्यात्मिक तत्त्वचिन्तन प्रक्रिया का रहस्य आगम शास्त्रों में निहित है। इस चिन्तन धारा में बौद्ध और जैन सम्प्रदाय ने भी समधिक योगदान किया था, यह ऐतिहासिकगण जानते हैं। प्राचीन काल में खीष्ट द्वितीय शतक से द्वादश शतक तक विरुद्ध मतों में बौद्धमत का ही मुख्य स्थान रहा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। न्याय, वैशेषिक, पातञ्जल योग, पूर्वमीमांसा तथा वेदान्त प्रस्थान की समकालीन दार्शनिक विचार-धाराओं की आलोचना करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। नागार्जुन, वसुबन्धु,

दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि सुप्रसिद्ध आचार्यों का नाम कौन नहीं जानता। सौगत दर्शन के चार प्रस्थानों का परिचय किसे नहीं है। यह बात सत्य है, किन्तु साथ ही यह भी सत्य है कि बौद्धदर्शन एवं धर्म का परिचय प्रायः लोगों को नहीं है। पूर्वकाल में भी इसका ज्ञान सब लोगों को नहीं था। इस दृष्टि से वर्तमान समय की स्थिति और भी शोचनीय है। इसका प्रधान कारण बौद्धों के प्रामाणिक ग्रन्थों का अभाव है। ग्रन्थों के उपलब्ध होने पर भी दूसरा कारण है—व्यक्तिगत कुसंस्कारों के कारण सहृदय आलोचन का अभाव।

ऊपर वर्णित पूरी परिस्थिति पर विचार करने पर यही प्रतीत होता है कि इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम तान्त्रिक वाङ्मय के उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन, समालोचन, अध्ययन आवश्यक है। मेरे विचार से इसके बिना भारतीय विद्या का गौरव अप्रकाशित रहेगा।

साधारण जीव के लिए साधक के रूप में तन्त्रशास्त्र की प्रक्रियाविशेष से पूर्णत्व के मार्ग में प्रवेश पाने का विस्तृत विवरण तान्त्रिक दार्शनिक ग्रन्थों में अति-स्पष्ट रूपेण मिलता है। अति निम्न अधिकारी से अति उच्च अधिकारी तक सभी इससे समान रूप से लाभान्वित हो सकते हैं। किसी भी दृष्टि से देखा जाए तान्त्रिक ग्रन्थों का आविष्कार, उनका आलोचन-प्रकाशन एवं सद्गुरु के निर्देशानुसार अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। इसमें जिस वस्तु की प्राप्ति की आशा है, वह ब्रह्माण्ड में अन्यत्र कुत्रापि सम्भव नहीं है।

वर्तमान जगत् की जो स्थिति है, उससे पता चलता है कि तन्त्रशास्त्रों में प्रकाशित रहस्यपूर्ण प्रक्रिया तथा साधना की ऐकान्तिक उपयोगिता इस समय है। इसके अधिकाधिक प्रचार से तान्त्रिक साधना में उत्पन्न भ्रान्तिजाल हट जाएगा और स्वतः सत्पथ में बुद्धिमान् जीव का चित्त लग जाएगा। ज्ञान और विज्ञान दोनों की चर्चा तान्त्रिक रीति से जिस प्रकार सम्भव है, वह भारतीय वाङ्मय की अन्य किसी शाखा से सम्भव नहीं है। हमको यह स्मरण रखना है कि तान्त्रिक साधना का परम लक्ष्य जीव को अनन्त शक्तियों से विभूषित करके महेश्वर पद अथवा परप्रमातृत्व में प्रतिष्ठित करना और उस मार्ग के क्रमिक विकास को बतलाना है।

मैं अन्त में समस्त जीवों की मङ्गलकामना करता हुआ भगवान् महेश्वर को नमन कर इस प्रवचन को समाप्त करता हूँ। इति शिवम्।

• • •

कौल और बौद्ध तन्त्र में बिन्दुसिद्धि

डॉ० एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी

भारतीय योग एवं साधना साहित्य में तन्त्र का विशेष स्थान है। इसमें साधना का पूर्ण विवरण एवं विज्ञान का स्पष्टतया प्रतिपादन किया गया है। इतना ही नहीं, बौद्ध, जैनादि सम्प्रदाय के योग भी तन्त्र का आश्रय लिए हैं।

तान्त्रिक साधना में बिन्दुसिद्धि एक विशेष प्रकार का योग है। हठयोगी सम्प्रदाय ने वज्रोली प्रक्रिया द्वारा बिन्दु की सिद्धि बताई है।[1] हठयोग के ग्रन्थों में तीन चाञ्चल्य धर्मी तत्त्वों का उल्लेख है—(१) प्राण, (२) मन और (३) बिन्दु। बिन्दु का अर्थ शुक्र है। नाथयोग में बिन्दु की अधोगति कालाग्नि कही गई है। इस मत में बिन्दु को ऊर्ध्वगामी करने का विधान है। इसको 'कालाग्निरुद्रीकरण' योग कहा जाता है। जिस प्रकार बिन्दु के अधःपतन के देवता विषहर, नन्दिनीवृत्ति के देवता काम और स्थिरीभाव के देवता निरञ्जन है, उसी प्रकार ऊर्ध्व गमन के देवता कालाग्निरुद्र है। हठयोग में प्राणायाम पर जोर दिया गया है। प्राण के स्वायत्तीकरण से बिन्दु में स्थिरता आती है। इसकी स्थिरता से बिन्दु सिद्ध किये हुए व्यक्ति में अनन्त प्रकार की विभूतियों का स्फुरण होता है।

वैष्णवों में विशेषतया सहजिया और गौड़ीय सम्प्रदाय में भी बिन्दु शोधन, बिन्दु स्थिरीकरण और बिन्दु के ऊर्ध्वीकरण पर विशेष जोर दिया गया है। इनका कथन है कि प्रकृति पुरुष से मिलना चाहती है और पुरुष प्रकृति से। वस्तुतः यह दोनों अपूर्ण हैं। अतएव संसार में सब अभावग्रस्त हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रकृति का बाहर अन्वेषण कर रहा है। अतएव अभावग्रस्त है। जब भाव द्वारा स्वरूपगत प्रकृति-पुरुष का मिलन होता है तो भीतर पूर्णता का उदय होता है और भाव में पूर्णता आ जाती है। दोनों का मिलन महामिलन है। इस महामिलन की अवस्था को प्राप्त करने के लिए स्थूल प्रकृति के आलम्बन से भाव द्वारा स्थिरचित्त होकर पूर्ण स्थिति को प्राप्त करना ही परमपद की प्राप्ति है।

प्रस्तुत निबन्ध में कौल और बौद्धों में सिद्धि के स्वरूप पर प्रकाश डालना है। बिन्दुसिद्धि की प्रक्रिया अतिगुप्त एवं प्राचीन है। यह योगियों के समालोचन का विषय है। यह केवल दार्शनिक दृष्टि से परिचर्चा का विषय नहीं है। अतएव दीक्षा

१. ऊर्ध्वस्वभावो यः पिण्डे सः स्यात् कालाग्निरुद्रकः। (३-५ सिद्धसिद्धान्तसंग्रह)।

के बिना इसका अधिकारी भी नहीं बना जा सकता। क्रियारूपेण इस मार्ग में अग्रसर हुए बिना इसका महत्व समझ में नहीं आ सकता। पञ्चमकार को बौद्ध योगिगण और कौल योगिगण अपने-अपने ढङ्ग से प्रस्तुत करते हैं। मैथुन जिसे कहा जाता है, यह अन्तिम मकार है। यह स्पष्ट है कि सृष्टि के मूल में एक स्वरूप दो बनकर अनन्त अथवा नाना बनता है। अतएव तान्त्रिकों का कथन है कि काम अथवा इच्छाशक्ति मूल में कामकलास्वरूप है। विरह और मिलन हो अभावात्मक सृष्टि का मूल कारण है।

कौलचर्या भोग अथवा वासनामूलक न होकर योगस्वरूप है। यह ठीक है कि वासना अर्थात् इन्द्रिय एवं विषय के संयोग द्वारा मनुष्य को तृप्ति नहीं हो सकती और यह भी सत्य है कि जिस प्रकार अग्नि में घृत डालने पर वह शान्त न होकर पुनः प्रज्वलित हो जाती है, इसी प्रकार इन्द्रिय और विषय के भोग से शान्त न होकर तृष्णा बढ़ती जाती है। इन्द्रिय और विषयभोग से तृप्ति भी सम्भव नहीं है। इस बात को हम अस्वीकार भी नहीं कर सकते, क्योंकि संसार विषयभोग में रत है। भले ही नैतिकता का आवरण डालकर इनके आकर्षण को छुपाने का प्रयत्न किया जाए, किन्तु इस सत्य का सर्वथा अपलाप नहीं किया जा सकता और यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य भी है। संयम द्वारा निग्रह करने की प्रणाली पातञ्जल योग में है। मन का सहज स्वभाव है कि जिसको हम करने से रोकते हैं, वह मन में एक प्रकार का सुप्त संस्कार डाल देता है। वह कालान्तर में पुनः उभड़ जाता है। यह मन की स्थिति है। तान्त्रिक योगी इस मनोवैज्ञानिक रहस्य को अच्छी तरह समझते थे।

हठयोगियों की वज्रोली वैज्ञानिक प्रतीत होने पर भी मनोवैज्ञानिक नहीं है। प्राणायाम द्वारा शुक्र का वेग क्षणभर के लिए रोका जा सकता है। इससे मन में परिवर्तन आना कठिन है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि मन के आवेग के सामने स्थूल शरीर की रोक टिक नहीं सकती है। क्योंकि मन का गठन भाव एवं संस्कार द्वारा हुआ है। इस बात का अनुभव कौल एवं बौद्ध बिन्दुसिद्ध योगी यथार्थतया समझते थे। अतएव इन्होंने प्राणायाम के महत्त्व को समझते हुए मन की शक्ति के तरफ भी ख्याल किया और इन सिद्ध पुरुषों ने यह भी अनुभव किया कि मनुष्य जिस प्रकार पानी में तैरना सीखता है, उसी प्रकार इन्द्रिय के स्तर पर रहकर विषयभोग की विद्या भी सीख सकता है। अतएव इन्होंने भोग में योग की प्रणाली अपनाई। तान्त्रिक साहित्य में बिन्दु शब्द अनन्त अर्थ में व्यवहृत है। बिन्दु एक केन्द्र है। बिन्दु ज्ञानस्वरूप है। **'वेत्तीति बिन्दुः'**। मूलतः सृष्टि-धारा में सूर्य बिन्दु और चन्द्र

बिन्दु इन दोनों के परस्पर मिलने से सृष्टि होती है। मनके पटल पर प्रतिबिम्बित होनेवाला स्वरूप चित्त-बिन्दु है। अनन्त कलाओं को समष्टि भी बिन्दु कहलाती है। बिन्दु मूलतः शिव-शक्ति स्वरूप है। जिसमें अव्यक्तरूपेण समस्त प्रपञ्च है। कला, बिन्दु और इसका स्फुरण ही निसर्ग कहलाता है।

तन्त्र साहित्य में योग और दार्शनिक दृष्टि से बिन्दु की नाना प्रकार की व्याख्या की जाती है। यन्त्र रचना में बिन्दु एक केन्द्र शक्ति है, जो त्रिकोणात्मक अर्थात् इच्छा, ज्ञान और क्रियारूपा है। अथवा अम्बा, ज्येष्ठा एवं रौद्री स्वरूप धारण कर लेता है। इसका अर्थ यह हुआ कि त्रिशक्ति का अव्यक्त स्वरूप बिन्दु है। इसके व्यक्त और अव्यक्त दो स्वरूप हैं। इसे महाशक्ति अथवा महाबोधिसत्त्व या वज्र-सत्त्व भी कह सकते हैं। बिन्दु शिव स्वरूप है और त्रिकोण शक्ति रूप है। यही बौद्ध-तन्त्र में प्रज्ञा अथवा वज्रसत्त्व के नाम से प्रसिद्ध है। बिन्दु स्थिर स्वरूप है। यह शिवस्वरूप है। योनि अथवा त्रिकोण शक्ति स्वरूप है। बिन्दु अस्पन्दावस्था में है और रेखा स्पन्दस्वरूप है। जगत् के मूल में भी यही है। यह सत्य स्वरूप है। यह व्यापक एवं देशकालातीत है। इसकी प्राप्ति ही बिन्दुसिद्धि है। इसको प्राप्त करना ही स्वातन्त्र्य का स्फुरण कहलाता है।

इस बिन्दुसिद्धि को प्राप्त करने का अर्थ है अनन्त प्रकार की शक्तियों का उल्लास। यही परम पद है। इस अवस्था का उदय प्रज्ञापारमिता है। अथवा परम शिवत्व प्राप्ति है।

कौल[1] योगी इस स्वरूप को अनुत्तर स्वरूप कहते हैं। कौल मत में बिन्दु के ऊर्ध्वीकरण की अनन्त प्रक्रिया है। प्रकृति-पुरुष के मिलन के समय साधक चित्त और प्राण को एकाग्र करके कन्दभूमि के सङ्कोच-विकास क्रम से शक्ति का उन्मेष सावधानी से करें। यह युगल क्रिया तब तक करते रहें, जब तक उक्त शक्ति का ऊर्ध्वीकरण न हो। कन्दभूमि से स्फुरित इस शक्ति से खेचरी मुद्रा प्राप्त होता है। यह बिन्दु शक्ति द्वादशान्त तक प्रसरित हो जाती है। यही परमशिव भूमि है। इसके परमशिवस्वरूप तक आने के बाद पुनः इसका मूलाधार तक सिञ्चन करना चाहिए। यह परम अमृत है। इस प्रकार बिन्दु को ओज में परिवर्तित कर समस्त चक्रों में आप्लावित करना है। इससे स्पष्ट हुआ कि शुक्र बिन्दु को व्यापक ओजःशक्ति में परिवर्तित करने पर

१. आचार्य अभिनव गुप्त, भास्कराचार्य इत्यादि प्रमुख आचार्य हैं।
परात्रिंशिका, तन्त्रालोक २९ आह्निक में, कौलावली इत्यादि ग्रन्थों में कौल प्रक्रिया का विवरण है।

२. नेत्रतन्त्र (७।३१–३२)।

सिद्धावस्था प्राप्त होती है। यह स्पन्दात्मक आनन्दशक्ति स्वरूप है। समस्त देह में एक प्रकार की शक्ति और तेज का अनुभव होता है।

बौद्ध आचार्यों के अनुसार वाम और दक्षिण नाडियाँ ललना एवं रसना कही जाती हैं। ये दोनों नाड़ियाँ प्रज्ञा और उपाय से सम्बन्ध रखती हैं और पृथक् रूपेण प्रज्ञा एवं उपाय को स्फुरित करती हैं। यही संसारी दशा है। नाडियों में ऊर्ध्व और अधः वायुसञ्चार होता है। इनमें एक प्रकार की शक्ति है। वामनाड़ी का रक्त से सम्बन्ध और दक्षिण का शुक्र से सम्बन्ध है। जब तक श्वास-प्रश्वास इन दोनों नाड़ियों में चलता है तब तक मन में विकल्प अनियन्त्रित रूप से चलते हैं। इनमें यदि विकल्पों को सावधानी से देखा जाए तो सहज ही श्वास-प्रश्वास नियन्त्रित हो जाते हैं। मन की स्थिरता को लाने के लिए एक क्रम यह है कि मातृकाओं को मन के स्तर पर उच्चारण करना। स्वरों का ललना में और व्यञ्जनों का रसना में ध्यान करना चाहिए। इस अभ्यास के फलस्वरूप विकल्पों पर नियन्त्रण आ जाता है। जब शरीर के ऊर्ध्व केन्द्र की तरफ गति का बोध होता है तो तीसरी नाड़ी का अनुभव होता है। यह अवधूती नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रज्ञा और उपाय के संयोजन की परिचायक है। नाभि, हृदय, कण्ठ और सहस्रार में अवधूती नाड़ी निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। इनमें चार कमल हैं अथवा चार शक्तिवृत्त हैं, जो कि शक्ति स्तर के निदर्शक हैं। इनमें चार प्रकार का आनन्द है—(१) आनन्द (२) परमानन्द (३) विरमानन्द और (४) सहजानन्द[1]।

[2]जननेन्द्रिय में तीन नाड़ियाँ मिलती है। ललना और रसना अधोवर्तिनी हैं। अवधूती ऊर्ध्ववर्तिनी है। इन तीनों के केन्द्र में बोधिचित्त है। इसी जगह शुक्र है। यही बोधिचित्त ब्रह्मरन्ध्र में महासुख और सोम रूप है। जब ललना और रसना नियन्त्रित हो जाती है तो श्वास-प्रश्वास शान्त हो जाता है, तब दोनों प्रवाह नियन्त्रित हो जाते हैं। इनके शान्त होने से बोधिचित्त का उदय होता है। अग्नि, सूर्य और चन्द्र के मिलन से जो अग्नि प्रदीप्त होती है, वह चाण्डाली है। जब यह प्रदीप्त होती है तो नैरात्म्य कहलाती है। इसके और भी कई नाम हैं। यह जब उर्ध्ववाहिनी होती है तो इसको चाण्डाली कहते हैं, जब यह ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है तो इसको 'हं' कहते हैं। तब यह अवधूती द्वारा क्षरित होती है और सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होती है। दूसरे शब्दों में मूलाधार में 'अ' और सहस्रार में 'हं' है। इन दोनों को मिलाने से अहं होता है। यह परमानन्द है। नाभिचक्र में 'अ' बोधिचित्त

१. सेकोद्देश पृ० २६।

२. हेवज्रतन्त्र प्रथमभाग पृ० ३८।

भी है और नैरात्म्य भी है। इस जगह प्रकृति और पुरुष दोनों हैं। यह सहस्रार के बोधिचित्त का मिलन कराता है। बोधिचित्त एक दृष्टि से स्वयं शुक्र है। अथ च यह प्रज्ञा और उपाय का परिणाम भी है। इसका चार प्रकार के काम से सम्बन्ध है तथा बुद्धकाय, सम्भोगकाय, धर्मकाय और निर्माणकाय से सम्बन्ध है।

बिन्दु तीन प्रकार के हैं। कारण, सूक्ष्म एवं स्थूल। कारण बिन्दु आत्मा के अव्यक्त स्वरूप में कर्म एवं संस्कार को आवृत करके जाति, आयु और भोग का नियामक है। फलतः आत्मा मोदित हो जाता है। जैसे समुद्र की तरङ्गित अवस्था में बिन्दु का पृथक् अस्तित्व है, उसी प्रकार यह आत्मरूपी बिन्दु अपनी सत्ता का पृथक् बोध कर लेता है। यह पार्थक्यरूपी सूक्ष्म सीमा को स्वयं उत्पन्न कर देता है। इसका मल अथवा स्कन्द नाम से उल्लेख किया जाता है। मानसिक स्तर के बिन्दु को सूक्ष्म बिन्दु कहा जाता है। यह बिन्दु अनन्त संस्कार और कर्म इत्यादि को लेकर है। इसमें अनन्त अभावात्मक एवं भावात्मक संस्कार है। इस स्तर पर मन की अनन्त रश्मियाँ हैं, जो इन्द्रिय स्तर पर खेलती है। इनका खेल नाड़ियों के माध्यम से होता है और इनका स्थूल स्वरूप रक्त संचार के साथ है। रक्त का चरम तत्त्व शुक्र है। यह शुक्र स्थूल बिन्दु कहलाता है। यह स्थूल बिन्दु समस्त शरीर में खेलता रहता है। इसका शरीर के साथ सम्बन्ध है। इसी शुक्र और रज से बाह्य सृष्टि होती है। यह एक दृष्टि से शरीर का सर्वोत्कृष्ट सार है।

बिन्दु सिद्धि के योगियों का कथन है कि संसार अथवा मन की बहिर्मुख अवस्था का मूल कारण बिन्दु की चञ्चलता है। इस बिन्दु के कारण मन की चञ्चलता है। विषय-वासना का मूल उद्गम बिन्दुपात है। बिन्दु का सम्बन्ध जिस प्रकार मन के साथ है, उसी प्रकार प्राण के साथ है। चञ्चल पारद के समान रहने वाला बिन्दु जब तक स्थिर नहीं होता, तब तक मन की स्थिरता नहीं आ सकती। मन के स्थैर्य से बिन्दु में स्थिरता आती है। योगी अपनी साधना के अनुसार मन, प्राण और बिन्दु को परस्पर कारण मानते हैं। किसी-किसी का कथन है कि मन के स्थैर्य के कारण प्राण में और बिन्दु में स्थैर्य आता है। कुछ भी हो एक की स्थिरता से दो सहज शान्त हो जाते हैं। मन में स्थिरता लाने के लिए नाना प्रकार के उपाय हैं और प्राण के स्थैर्य के लिए भी। प्राण और मन दोनों बिन्दु की स्थिरता के लिए सहायक हैं। तन्त्रालोक में दूतीयाग दूतीसाधना में मानसिक दूती की कल्पना करके बिन्दु साधना करने का वर्णन है। साधारणतया कौल और तान्त्रिक बौद्धों में स्थूल प्रकृति का आश्रय करके बिन्दु सिद्धि की जाती है। यह सबसे वैज्ञानिक प्रतीत होता है। यह लक्ष्य में रखना चाहिए कि बिन्दु-साधना एक योग है न कि भोग।

भोग और वासना योगियों का लक्ष्य नहीं है। अत एव कौल और बौद्ध तान्त्रिक मत में सस्त्रीक दीक्षा का विधान है। यह मार्ग गुरुगम्य है। अत एव संस्कारपूत भाव द्वारा यह क्रिया प्रारम्भ होती है। बाह्य आलम्बन केवल वृत्तियों का अध्ययन करने के लिए है। कौलाचार्यों ने वीरभावसम्पन्न योगियों को इस मार्ग की अनुमति दी है। बिन्दुसिद्धि प्रक्रिया में वीर साधक को दिव्य भाव प्राप्त करने को कहा गया है। यह एक दृष्टि से योगी-योगिनी की क्रीडा है। वासना का अनुभव केवल कल्पना द्वारा नहीं हो सकता। साधारणतया संसारी जीवों का प्रकृति-पुरुष मिलन बिन्दु-क्षरण किंवा बिन्दुपात के लिए है। किन्तु योगियों का मिलन बिन्दु को स्थिर करने के लिए होता है। संसारी जीव वृत्ति में सुख का अनुभव करता है। वह रूप, रस, गन्धादि के अधीन है और उनमें इसलिए उद्युक्त होता है कि उसमें वह सुख का अनुभव कर सके। वह वृत्ति के सुख से अभिभूत है। अतएव वह पुनः पुनः उसी क्रिया में आसक्ति प्रगट करता है और पुनः पुनः बहिर्मुख और अभावात्मक संकल्प-युक्त हो जाता है। परिणामतः उसका सब व्यवहार वासनामूलक हो जाता है। उसे वृत्तियों में स्थित स्वरूपशक्ति का बोध नहीं होता है। बिन्दुसाधक प्रारम्भिक अवस्था में गुरु के निर्देशानुसार इस व्रत में चलता है। वह भीतर के अनुभव को साक्षी रखकर चलता है। वह भाव, प्राणक्रिया और नाड़ियों का ज्ञान प्राप्त करके बिन्दु की चञ्चलता को रोकता है। यह बिन्दु जिस नाड़ी से अधोमुख प्रवहनशील है, वह साधना द्वारा ऊर्ध्वमुखी हो जाता है। इसमें साधक के अनुभव और प्रगति पर आगे के पथ का निर्णय किया जाता है। यद्यपि उभयमताचार्यगण की क्रिया में अन्तर होने पर भी स्तरगत अनुभव में साम्य है। साधक अवस्था में प्रकृतिस्पर्श से उत्पन्न अनुभव एवं प्रवृत्तियों के अनुसन्धान में एकवाक्यता है। इतना होने पर भी प्रत्येक का भावगत वैशिष्ट्य विलक्षण है। बिन्दुसिद्धि अथवा स्थूल शुक्र का पतन न होने देना—यह अप्राकृतिक लगने पर भी तान्त्रिक विज्ञान का परम सत्य है। अधोमुख प्रवृत्ति पृथिवी तत्त्व और जल तत्त्व की प्रधानता के कारण होती है। हमारे शरीर में कामोद्रेक से उत्पन्न होने वाली उष्णता के कारण बिन्दुपात होता है। अर्थात् यह कामजनित उष्णता शरीरस्थित शुक्र को वीर्यवाही नाड़ी तक लाती है। नाभि के अधः आते ही शुक्र बनता है। इस शुक्र में पञ्चतत्त्व हैं।

जब तक अप् और पृथ्वी प्रधान हैं, तब तक उनमें अधोमुख वृत्ति है। प्राण के माध्यम से पञ्चतत्त्व के रहस्य का अनुसन्धान करने के पश्चात् शरीर स्थित पञ्च-तत्त्व का रहस्य प्रगट होता है और नाड़ियों का रहस्य समझ में आता है। योगी लीलावत् इस क्रिया द्वारा स्थूल शुक्र बिन्दु शुद्ध करके प्रथमतः अधः पतन को रोकता

है। इसका नामान्तर बिन्दु-स्थिरीकरण है। जब बिन्दु में पृथ्वी एवं अप् का अंश कम होता है तब वह स्थिर होता है। प्राण वायु द्वारा इसमें स्थिरता आती है। कामाग्नि अर्थात् अग्नि तत्त्व की उष्णता से ये दोनों (पृथ्वी, जल) शुष्क हो जाते हैं और ओज में परिणति हो जाते हैं। प्रारम्भिक अवस्था में अग्नि और अप् का खेल चलता है। जब तक इस कामाग्नि का ठीक-ठीक उपयोग नहीं करने आता है, पुनः पुनः भीतर अप् तत्त्व द्वारा कामवृत्ति को शान्त किया जाता है। किन्तु यह साधकावस्था में होता है। जब ठीक कामाग्नि का स्वरूप समझ में आ जाता है, तब इस अग्नि को प्रज्वलित रखकर शुक्र के पञ्चभूतों को परिशुद्ध करके बिन्दु को ऊर्ध्व किया जाता है। शुक्र के तेजःस्वरूप बनते ही बिन्दु का ऊर्ध्वज्वलन प्रारम्भ होता है। तब बिन्दु की सूक्ष्म शक्ति स्पन्द शक्ति बनती है। साधक अवस्था में जब तक यह सहज नहीं बनती, तब तक बाह्य प्रकृति का आलम्बन लिया जाता है। फलतः अपने में रहने वाली शक्ति संकल्प द्वारा क्रिया करने लगती है। यह स्थूल बिन्दु का ओजरूपेण रूपान्तरण है। यही बिन्दुसिद्धि का लक्ष्य है। इसको बुद्धकल्प अथवा ईश्वरकल्प अवस्था कहा जाता है।

इस स्थिति में बिन्दुसिद्ध योगी अपने शरीरस्थित स्पन्द रूप में रहने वाली शक्ति को निरन्तर खेलता है। इसी स्तर पर उसमें करुणा का उदय होता है। यही बौद्धों की करुणापुण्डरीक अवस्था है। यही कौलों के प्रेम की जागृति है। समस्त स्थूल सृष्टि का आकर्षण समाप्त हो जाता है। यही अखण्ड ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा है। नित्य आन्तरिक शिव-शक्ति मिलन अथवा सामरस्य चलता है। जब अन्तःस्थित प्रकृति-पुरुष का नित्य मिलन होता है, तब शरीर में सहज ओज का स्फुरण होने लगता है। इससे अमरत्व की प्राप्ति होती है।

सारांश यह है कि बाह्य प्रकृति-पुरुष के मिलन से सहज कुण्डलिनी की जागृति होती है। सुषुम्ना अथवा अवधूती मार्ग से वह क्रमशः नाभिचक्र का भेदन करके सहस्रार तक चली जाती है। तदनन्तर शरीर में ऊर्ध्व प्रवाह अथवा शुक्र के उर्ध्व सञ्चार से सब तत्त्व शुद्ध होकर चैतन्य रूप से प्रवाहित होने लगते हैं। क्रमशः कामाग्नि के प्रेममय हो जाने से योगी का इच्छित संकल्प ओज द्वारा समस्त वायु-मण्डल में प्रसरित हो जाता है। इससे योगी में सहज करुणा और प्रेम का उदय होता है। इससे काम प्रेम और करुणा में परिणत होता है। विश्व के मूल में रहने वाली ओजःशक्ति बिन्दुसिद्ध योगी में क्रियाशील होती है। योगी समस्त प्राणियों के हित की कामना करता है और सहज करुणा द्वारा जगत् कल्याण कार्य में रत हो जाता है। यह मनुष्य की पूर्णता है। यह दिव्य स्वरूप है।

टिप्पणी : पं० श्री बटुकनाथशास्त्री खिस्ते

डा० एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी जी द्वारा लिखित उपरिनिर्दिष्ट निबन्ध के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की जा रही है। विषय की गम्भीरता तथा अपनी अल्पज्ञता के कारण समीक्षाकार अपनी सम्भावित त्रुटियों के लिये पहले ही क्षमायाचना कर्तव्य समझता है।

सर्वप्रथम वक्तव्य यह है कि प्रस्तुत विषय चर्चा का विषय न होकर साधना का है, अतः वाङ्मयी चर्चा उपलक्षणात्मिका ही होगी, न कि पदार्थस्पर्शिनी। साथ ही अनेकधा शब्दों से विवृत होने पर भी उसकी निगूढता एवं गुरूपदेशमात्रगम्यता में कोई अन्तर न आएगा।

निबन्ध लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है कि केवल दार्शनिक चर्चा का यह विषय नहीं है और न तो अदीक्षित को इसमें अधिकार ही। हम इस सीमा रेखा पर रुकते हुए शाखारुन्धती न्याय से देखने का प्रयास करेंगे।

बौद्धसम्प्रदाय, हठयोग, कौलमार्ग इन तानों की तुलना करते हुए लेखक ने बिन्दुसिद्धि की समीक्षा की है। हठयोग की अपेक्षा से बौद्ध और कौल पद्धति की उच्चता का संकेत किया गया है। बौद्ध और कौल सम्प्रदाय में प्रत्यक्ष को महत्त्व नहीं दिया गया है, प्रत्युत करणेन्द्रियों को स्वरसवाहिनी संवित्शक्ति को उद्दीप्त कर पूर्णाहंभाव या शक्ति या प्रज्ञापारमिता की प्राप्ति का मार्ग निर्देशित किया गया है।

वस्तुतः वैदिकसिद्धान्त के ही मूलभूत तत्त्वों से प्रसृत होकर संसार की सभी साधनाएँ विभिन्न धाराओं में साधकों में यथासम्प्रदाय परिगृहीत हुई हैं। 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' सिद्धान्त के अनुसार शिव-शक्तिरूप जगत् साधना का केन्द्र रहा है, जगत् सिसृक्षा ही काम है, सिसृक्षा पदार्थ वन्ध्य है।

बिन्दु अविभागदशापन्न परमतत्त्व का प्रतीक है। क्रम, विषयभेद, स्थानभेद आदि के कारण 'बिन्दु' को सूक्ष्मतम से लेकर स्थूलतम दृष्टि से विभक्त किया जा सकता है। ग्राह्य-ग्राहकभाव समरसभाव से बिन्दु में व्यवस्थित रहता है, बिन्दु और त्रिकोण का अविनाभाव सम्बन्ध है। लेखक ने प्रस्तुत निबन्ध में शुक्र बिन्दु को व्यापक ओजःशक्ति में परिवर्तित करने के सम्बन्ध में लिखा है, परन्तु यह प्रक्रिया सर्वथा दुर्लभ है तथा—

'सहस्राणां सहस्रेषु' कोई कदाचित् इसके जानने या बताने में समर्थ होगा। अतः इस सम्बन्ध में गुरु के सम्यङ् निर्देश के अभाव में अधःपतन और उन्माद आदि अपाय ही हो सकते हैं।

रहस्य साधनाओं में अधिकारी का पूरा विचार आवश्यक होता है, अन्यथा 'व्यालीवदनचुम्बनम्' का परिणाम प्राप्त होगा। तन्त्रों का निर्देश भी है—

पारम्पर्यविहीना ये ज्ञानमात्रेण गर्विताः।
तेषां समयलोपेन विकुर्वन्ति मरीचयः॥

इस साधना के लिये मन और पवन के प्रयत्न द्वारा निरोध करने की स्थिति प्राप्त होनी चाहिए, वह गुरुकृपा बिना नहीं हो सकती। आचार्य जयरथ ने कुल प्रक्रिया को 'पराकाष्ठाप्राप्त निर्विकल्पदशाधिशायितया' कह कर अधिकारी का विश्लेषण कर दिया है।

स्वात्मानुभूतिसिद्ध्यै विषयस्पर्शी न लौल्यभावनया।
पशुभावनाविमुक्तः स ह्यभियुक्तो महामार्गे॥

इत्यादि उद्धरणों के द्वारा आचार्य जयरथ ने तन्त्रालोक टीका में विषय की गुरुता स्पष्ट की है।

कामकलाविलास आदि ग्रन्थों में इसी मूलतत्त्व की विशेष दार्शनिक समीक्षा की गई है, कि बहुना, मन्त्रमात्र शक्ति ही वर्तमान है, परन्तु उसकी ज्ञानभूमि ही साधक को प्राप्त होती है, अतः सम्प्रदाय के द्वारा भक्तिपरिपूत होकर ही साधक इस द्वार के अन्दर प्रवेश का अधिकारी होता है, यह सर्वदा स्मरणीय है। यद्यपि आपाततः विभिन्न धाराओं में साम्य प्रतिभासित होता है, किन्तु पद्धतिभेद से प्रत्येक साधना अपना अलग वैशिष्ट्य रखती है।

'अपत्नीको वा एष अयजमानः' इस वैदिक उक्ति के साथ ही 'आदाय योषितं कुर्यात् अर्चनं यजनं हुतम्' इस तान्त्रिक उक्ति का साम्य मालूम होने पर भी प्रक्रिया-गत भेद के कारण दोनों स्वतन्त्र हैं। अतः अधिकार तथा परम्परा को देखते हुए तत्त्व की सिद्धि भी अनेकधा शास्त्रों ने प्रदर्शित की है। प्रस्तुत निबन्धलेखक ने बिन्दुतत्त्व पर संक्षिप्त परन्तु व्यापक प्रकाश डालने का प्रयास किया है, अतः वे धन्यवाद के पात्र हैं।

• • •

बौद्धयोग और शैवयोग

डॉ० श्रीजयधारी सिंह

प्रस्तुत निबन्ध में 'योग' शब्द का प्रयोग योगदर्शन विशेष के अर्थ में न होकर गीता प्रतिपादित 'कर्मसु कौशलम्' अर्थ में ही किया गया है, जिसका तात्पर्य है सांख्य अर्थात् तत्त्वज्ञान का प्रयोगांश। किन्तु तत्त्वज्ञान और उसके प्रयोगों के बीच की सीमा-रेखा इतनी पतली है, विशेषतः भावनात्मक कर्म की भूमिका में, जो स्वयं भगवान् ने 'एकं सांख्यं च योगं च' कहकर दोनों को एक ही बतलाया। स्वतः व्यापक अर्थ में बौद्धयोग से लक्षित होता है वह साधना-मार्ग, जिस पर चलकर कोई बौद्ध यति निर्वाण-पद प्राप्त कर सकता है।

बौद्ध दर्शन में बहुत सी बातें ऐसी भी हैं, जिनका सम्बन्ध बौद्धयोग से अधिक न होकर बौद्ध तर्क अथवा बौद्ध तत्त्वमीमांसा से अधिक है। उन बातों की चर्चा यहाँ समीचीन नहीं जान पड़ती है।

दूसरी बात यह है कि कृशकाय निबन्ध के सिलसिले में 'शैवयोग' पद से लक्षित है वह योग अथवा कुशल कर्म जो साधक की आत्मा को निर्मल बनाकर उसे शिवसमाधि में अर्थात् परमशिवत्वपद-प्राप्ति में साक्षात् रूप में सहायता करता है। कहने की आवश्यकता नहीं, शैव उपासनाक्रम या साधनाक्रम में शक्ति की सत्ता निर्णीत है और शक्तिमान् (शिवरूप) बनने के लिए साधक को शक्ति का आविष्करण करना ही पड़ता है। वह्निरूप में आत्मा को ढालने के लिए तो दाहकता के साथ तादात्म्य अनिवार्य ही होगा; ऐसा कहा जा सकता है। वीर शैव मत, काश्मीरी शैव मत, दोनों से कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है। अतः जैसे म० म० श्रीकविराज जी का भी कहना है, शैव साधना और शक्ति साधना की सीमा-रेखा इतनी पतली है कि दोनों को एक मानने में कुछ भी क्षति नहीं। किन्तु, प्रस्तुत निबन्ध में 'शैव' ही शब्द प्रयुक्त हुआ है, कारण, शिव और बुद्ध दोनों को भावनाएँ समानान्तरप्राय हैं। शैव या शाक्त अपना अन्तिम लक्ष्य शिवत्वप्राप्ति मानता है अथवा शिव को अपना गुरु मानकर साधना करता है और इसी तरह बौद्ध अपना अन्तिम लक्ष्य बुद्धत्व प्राप्ति, अर्हत्त्वप्राप्ति मानता है और साथ-साथ बुद्ध को अपना गुरु मानता है। अतः बौद्धयोग के साथ शैवयोग शब्द ही समानान्तर रूप में प्रतिपादित करना समुचित माना गया है।

विषय में डूबने से पहले एक यह भी कथ्य निवेदनीय मालूम पड़ता है कि शैव योग की बहुत सी मान्यताएँ ऐसी हैं जो वैष्णव योग में भी अङ्गीकृत है, किन्तु यौगिक प्रक्रियाओं के विस्तृत अध्ययन से या 'प्राधान्येन व्यपदेशः' सूत्र के आधार पर उन्हें शैवयोग में ही स्थान दिया जाता है, जैसे कुण्डलिनी योग का, जिसको व्यापक रूप में लययोग भी माना जाता है।

अन्त में आमुख रूप में यह भी कहना आवश्यक है कि प्रस्तुत निबन्ध का उद्देश्य राजयोग, हठयोग, लययोग आदि योग के विभिन्न स्वरूपों का क्रम से विषय-प्रस्फुटीकरण न होकर केवल उन समानताओं का या कुछ ज्वलन्त असमानताओं का अनुसन्धान मात्र है, जो मुख्यतया बौद्ध और शैव योगक्रमों के बीच पाई जाती हैं। हाँ, विषय की रुचिकारिता की दृष्टि से ऐतिहासिक क्रम से ही बौद्ध-योग-विषयक मान्यताओं का उल्लेख करना उचित मालूम पड़ता है। परवर्ती बौद्धयोग पर, विशेषतः वज्रयानी योग-पटल पर विस्तृत विचार के लिए तो प्रस्तुत लेखक का शोध-प्रबन्ध (हाल ही में प्रकाशित), "बौद्ध गान में तान्त्रिक सिद्धान्त", उपलब्ध है ही। अतः ज्ञानार्जन की दृष्टि से लेखक ने प्रस्तुत निबन्ध में मौलिक्य बौद्धदर्शन में ही योग-सिद्धान्तों के अनुसन्धान को प्रधानतया सीमित रखा है और उत्तरकालीन विचारों का सारांश कुछ संक्षिप्त रूप में ही उन्होंने अपने शोध-प्रबन्ध से लेकर सन्तोष लाभ किया है।

मौलिक्य बौद्धयोग

मौलिक्य बौद्धयोग से अभिप्रेत है बुद्ध के जीवनकाल में उनसे अङ्गीकृत योग-प्रक्रिया अर्थात् चित्तवृत्ति के निरोध की प्रणाली अथवा उनके वचनों पर या उनके सम्बन्धी वृत्तान्तों पर अवलम्बित मुख्यतया स्थविरवादी दर्शन में और गौण रूप में कुछ अन्य दर्शनों में, बौद्ध मतों में प्रचलित योग-पद्धति।

स्वयं बुद्ध शब्दतः योग को अधिक मान्यता देते थे या नहीं, यह सन्दिग्ध है। एक प्रसङ्ग आया है तदनुसार उनको योग की परम्परागत प्रणाली से सन्तोष नहीं मिला—"आलार कालाम के पास गया। आलार कालाम ने मुझे योग की कुछ विधियाँ बतलाई,[1] फिर भी यह धर्म न निर्वेद के लिए है, न वैराग्य के लिए, न निरोध के लिए, न सम्बोधि के लिए और न निर्वाण के लिए। आकिञ्चन्यायतन तक उत्पन्न होने के लिए यह है, सो मैं राजकुमार उस धर्म को अपर्याप्त मान उस धर्म से उदास हो चल दिया।"[2]

१. ता० बौ० सा० सा० : पृ० १४–१५।

२. बौ० द० अ० भा० द० (१) : पृ० २६३।

यहाँ ध्येय हैं दो विषय—(१) भगवान् बुद्ध के मन में योग का लक्षण स्फुट था—'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', जिस दिशा में कम से कम आकिञ्चन्यायतन के स्तर तक की शिक्षा तो उन्हें अवश्य मिली थी और (२) उनके मुख से 'अभिज्ञा' शब्द के उच्चारण से हमें भावी प्रत्यभिज्ञादर्शन का अनुमान तो कम से कम अवश्य मिलता है और ऐसी कल्पना की जा सकती है कि शैवों की दार्शनिक परम्परा में समानान्तर रूप से शक्त्याविष्करणद्वारेण अथवा अन्य किसी माध्यम से आत्मज्ञान की प्रणाली अथवा सामरस्य की भावना प्रचलित अवश्य थी। यद्यपि औपनिषदिक परम्परा से अतिरिक्त बौद्धेतर भारतीय दर्शनों के प्राग्बुद्धकालीन प्रमाण स्फुट रूप में उपलब्ध नहीं है, लेकिन आलार कालाम का सांख्यवादी होना और साथ-साथ योगी होना, स्वतः उनकी अपनी पृष्ठभूमि का संकेत माना जा सकता है। कुछ भी हो, सामरस्य का मर्म तो है विमर्शमात्र, अहन्तापरामर्शमात्र, जो दूसरे शब्द में प्रत्यभिज्ञा या अभिज्ञा से लक्षित अगर नहीं तो कम से कम व्यञ्जित अवश्य है।

फिर रही बुद्ध की उद्दक रामपुत्त से शिक्षा की बात। उनसे बुद्ध को नैवसंज्ञानासंज्ञायतन की शिक्षा मिली। कहने की आवश्यकता नहीं, उक्त योग से भले ही उन्हें सन्तोष नहीं मिला हो, किन्तु इस योग की सूक्ष्मता असन्दिग्ध थी, कारण, इस दिशा में जगत् अल्पतर बनते-बनते समाप्त हो जाता है और इसी कारण से फिर उक्त योगायतन को संक्षेप में भवाग्र की स्थिति से अभिहित किया जाता है। इस सत्य से फिर हमें दो सत्यों का अनुमान मिलता है—(१) बुद्ध ने यौगिक प्रक्रिया की मदद से जागतिक प्रपञ्च की असारता को अनुभूत किया और (२) शैव योगियों का चिति-साक्षात्कार इसी क्रम से क्रमशः ऊपर उठता जाता है, चित्त विकसित हो चिति-पदारूढ़ हो जाता है अथवा चैत्य सङ्कुचित हो चित्त-पदारूढ़ हो जाता है, जैसा भी कहा जाए, चित्तविकास से नैसर्गिक रूप में जगत् की, बहिरङ्ग अनुभूतियों की सूक्ष्म-सूक्ष्मतर-सूक्ष्मतम दशा व्यञ्जित हो जाती है। शैव साधक समस्त जगत् को अपने शरीर में सिमेटकर उसका बाह्य अस्तित्व समाप्त कर उसे अपने सूक्ष्म शरीर में अन्तर्भुक्त सा कर देता है, यही तो है प्रत्यभिज्ञा की यौगिक प्रक्रिया का रहस्य।

बुद्ध की जीवनी में ऊरुविल्व की घटनाओं का बड़ा ही महत्त्व है। इसी स्थान पर उन्हें कौण्डिन्य आदि पाँच परिव्राजक मिले। गौतम ने कठिन तपस्याएँ प्रारम्भ कीं। त्रिपिटक में उनका रोमहर्षण वर्णन आया है। इतना ही नहीं, बुद्ध का कहना है, तब मुझे यों हुआ—"क्यों न मैं श्वासरहित ध्यान करूँ। सो मैंने राजकुमार, मुख और नासिका से श्वास का आना-जाना रोक दिया। तब राजकुमार, मेरे मुख और नासिका से आश्वास-प्रश्वास के रुक जाने पर कान के छिद्रों से निक-

लती हवाओं का बहुत अधिक शब्द होने लगा।" इस सन्दर्भ से एक ओर हमें प्राणायामयोग का प्रमाण मिलता है और दूसरी ओर फिर नादसाधन का अस्फुट संकेत भी और कहने को आवश्यकता नहीं, शेष योगी इन साधनों को निजी सम्पत्ति समझते हैं। आगे फिर उनके अल्पाहारादि के वर्णन मिलते हैं। जिनमें सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं वज्रसमाधि और उसके बल से मार को पहचानना। मार (काम) को पहचानना, इससे बढ़कर विमर्श का लक्षण क्या हो सकता है? माया के चक्र में पड़ कर प्राणी अपने वास्तविक रूप को, चिद्घन रूप को भूलकर ही तो मार के जाल में फँसता है, जिससे सत्य की स्मृति का, स्वतः बुद्धि-विवेक का विनाश हो जाता है, गीता के प्रसिद्ध श्लोक का भी यही मर्म है—

"सङ्गात् सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृति-विभ्रमः॥
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥"[1]

यहाँ ध्यान देने की बात है कि सभी वासनाओं के मूल में, विषय-सम्पर्क से उत्पन्न संस्कारों के मूल में काम की स्थिति है। इस काम को पहचानने से स्वतः कर्म-चक्र का विराम हो जाएगा। अतः जैसे ऊपर कहा गया है, विमर्शशक्ति का पहला लक्षण काम की पहचान होगा। यतः काम ही जगदुत्पत्तिस्थितिलय के मूल में है और अहन्तापरामर्श (विमर्श) से इस पर भी अधिकार हो जाता है। साधक यह सोचने लगता है कि मुझ पर किसी का अधिकार नहीं है, मैं कृत्रिम नहीं हूँ, अकृत्रिम हूँ, जैसा कि विमर्शपद से लक्षित है "जगदुत्पत्तिस्थितिलयहेतुभूताकृत्रिमाहंभाव-परामर्शो विमर्शः" समस्त सृष्टि का हेतुभूत मैं हूँ, मैं स्वयं अकृत्रिम हूँ, यही तो विमर्श-भावना हुई। ऊपर के वृत्तान्त से जो वज्र-समाधि की सूचना मिलती है, उसे हम शैव शब्दावली में कैसे प्रकट कर सकते हैं, वह वज्रयान के इतिहास से आगे स्पष्ट हो जाएगा।

वज्रसमाधि लगाकर बुद्ध ने चार ध्यानों का अनुभव किया। "मैं सवितर्क, सविचार, विवेक से उत्पन्न प्रीतिसुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगा। फिर वितर्क और विचार शान्त होने पर भीतरी शान्ति, चित्त की एकाग्रता, अवितर्क, अविचार, समाधि से उत्पन्न प्रीतिसुख वाले द्वितीय ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। प्रीति से भी विरक्त और उपेक्षक हो विहरता हुआ स्मृतिमान्, अनुभववान् हो काया से सुख को भी अनुभव करता हुआ, जिसको कि आर्य लोग उपेक्षक, स्मृतिमान्, सुख-

१. द्र०—श्रीमद्भगवद्गीता।

विहारी कहते हैं, वैसा ही तृतीय ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगा। फिर सुख और दुःख के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पहले ही अस्त हो जाने से, अदुःख, असुख, उपेक्षा-स्मृति की परिशुद्धतारूप चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर विहरने लगा।" गौतम के इस विवरण में न केवल हमें पातञ्जलयोग का उद्गम मिलता है, अपितु वे भी उसी को दुहराते है "संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः" अथवा "स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का" अथवा "एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याताः" इन सूत्रों से, साथ ही प्रीतिसुख तथा विहार की चर्चा से, हमें सुलभ रीति से शैव तान्त्रिक योग का संकेत भी मिल जाता है, जहाँ साधक 'परशक्त्यात्म-मिथुनसंयोगानन्दनिर्भर'[1] मात्र नहीं रहता है, प्रत्युत समस्त आणव मल का उत्सर्ग कर साक्षात् शिवरूपत्व लाभ करता है—बौद्ध-शैवों में अन्तर इतना ही है। अस्तु, बुद्ध का ध्यान-योग अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है और इस योग का भावनात्मक विश्लेषण आगे प्रतिपाद्य सिद्धान्तों से स्फुटतर हो जाएगा।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं, बुद्ध का लक्ष्य था प्राणी को दुःखों से उद्धृत करना। इस साधना में उन्हें बाधाओं का भी सामना करना पड़ा, कई प्रश्न उन्हें अप्रासङ्गिक करने के लिये पूछे जाते थे—कुछ बेढब प्रश्न पूछे जाते थे, जिन्हें वे स्थापनीय कहकर, उपेक्षित कर, मौनावलम्बन किया करते थे, बुद्ध अपने विचारों को समाज पर लादना नहीं चाहते थे, प्रत्युत वे सावधान थे, कहीं दृष्टिकोण का पूर्वाग्रह न रहने पाए। फिर भी वे उपदेश देना उचित समझते थे, कारण, 'इस जगत् में कुछ अल्प मल वाले प्राणी भी हैं, जो धर्म न सुनने के कारण विनष्ट हो जाएँगे। इस भावना से पहले उन्होंने चित्त के समाहित, परिशुद्ध, पर्यवदात, उपक्लेशरहित, मृदुभूत और स्थिर हो जाने पर, पूर्वजन्मों की स्मृति के ज्ञान के लिये चित्त को झुकाया, प्राणियों के जन्म-मरण के ज्ञान के लिये चित्त को झुकाया, आस्रवों के क्षयज्ञान के लिये चित्त को झुकाया और फिर अपने अनुभवों को, चिन्तनों को भिक्षुओं के हृदय में भर देने की कोशिश की, जो उपदेश त्रिपिटक के रूप में और पीछे के साहित्य में उद्धृत संदेश रूप में अभी भी सुरक्षित हैं। आगे उन्हीं उपदेशों के आधार पर सूचना तथा तुलना प्रस्तुत की जा रही है।

मध्यमा प्रतिपदा–बोधिपक्षीय धर्म

कहने की आवश्यकता नहीं, बुद्ध चित्त को मध्यस्थिति में रखना प्रयोजनीय समझते थे और वस्तुतः इसी कारण से उनके धर्म का सारांश था—'मध्यमा प्रतिपदा'

१. कुलार्णवतन्त्र—उल्लास ५ श्लोक ११२।

का सिद्धान्त तथा लक्ष्य था—दुःख-निरोध। स्वतः उन्हें दुःख के लक्षणों से तथा दुःख-समुदय के बीज से परिचित कराना था, फलतः ये चार सत्य उनके सिद्धान्तों की आधार-शिलाएँ बन गये—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख-निरोध तथा दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा।

दुःख का निरोध कैसे सम्भव है ? इस प्रश्न के समाधान में बुद्ध ने अनेक सूत्रों को ढूँढ़ निकाला, जिनमें कुछ प्रमुख सूत्र निम्नोक्त हैं।

(१) चार स्मृतिप्रस्थान—काया में कायानुपश्यना, चित्त में चित्तानुपश्यना, वेदना में वेदनानुपश्यना तथा धर्म में धर्मानुपश्यना। स्मृति को भी बुद्ध इसी अनुपश्यना या सम्प्रजन्य के रूप में उपात्त करते थे, जिसका तात्पर्य है–किसी वस्तु को उस वस्तुमात्र रूप में देखना, अधिक या कम नहीं समझना—काया को काया समझना, चित्त को चित्त समझना (सकल दुःखों का आश्रय), वेदना को वेदना समझना (सुख नहीं, मिथ्या अथवा स्वकल्पित सुख नहीं) तथा धर्म को धर्म समझना (अर्थात् सर्वत्र धारणीय तथा सकल निःश्रेयस-प्राप्ति का साधक)। यही अभिप्राय है उक्त अनुपश्यनाओं का।

कायानुपश्यना के लिए सबसे उपयुक्त भूमि है श्मशान, जहाँ दश अशुभों के (उद्धुमातक, विनीलक आदि शव रूपों के) दर्शन से स्वतः काय की असारता का बोध हो जाएगा और उसकी स्मृति सम्भावित है कि यही (तुच्छ) शरीर है। श्मशान की चर्चा से हमें शैव-शाक्त साधक के श्मशान-योग की याद आ जाती है, जिसका चरम लक्ष्य ठीक-ठीक यही स्मृति-जागरण है, जो विना अष्टपाशच्छेद[1] के कथमपि सम्भव नहीं। श्मशान में घृणा-शंका-भयादि का परिशमन स्वतः सिद्ध है और शवों के साथ खेलना, इससे अधिक अनुपश्यना सम्भव ही नहीं है। हाँ, उसके साथ-साथ चित्त को एकाग्र कर जपादि का विधान अवश्य है, लेकिन यह अन्तर तात्त्विक नहीं होकर विधानात्मक मात्र है। यह सर्वविदित सत्य है कि बुद्ध ने देवों की चर्चा में मौनावलम्बन ही करना उचित समझा। किन्तु साथ-साथ शैव साधकों के लिए भी उक्त अनुपश्यना स्मरणीय प्रक्रिया अवश्य है, जो श्मशान साधन का निषेधात्मक (negative) लक्ष्य है। विश्व मिथ्यामात्र है, आभासमात्र है, प्रतिबिम्ब मात्र है, बिम्ब जो है वह स्फुरत्ता सत्तामात्र, जिसमें चित्त को केन्द्रित करना है, 'चित्तं मन्त्रः।

१. घृणाशंकाभयलज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलशीलं तथा शक्तिरष्टौ पाशाः प्रकीर्त्तिताः ॥—पुर०, पृ० ४३।

चित्तानुपश्यना तो बौद्ध-शैव दोनों के लिए समान रूप से मान्य है, प्रत्युत तत्त्वज्ञान के लिए अनिवार्य भी है। बिना चित्त को चित्त समझे (उसकी व्यावहारिक सत्ता को, सांवृतिक सत्ता को महसूस किए बिना) चित्त-विनाश या चित्त-विकास (जैसा समझा जाए) सम्भव कैसे ? बौद्ध का लक्ष्य था चित्त को शून्यमात्र में परिणत करना, शैवों का लक्ष्य है चित्त को चेतन-पदारूढ़ कर चिति के साथ अन्तरङ्गता[1] स्थापित कर (अन्तरङ्गा शक्ति के आविष्करण द्वारा) अपने को शिवरूप में परिणत करना अथवा परमशिवत्व लाभ करना। दोनों के लिए चित्तानुपश्यना अनिवार्य ही है, वासनाओं के उच्छेद के लिए, निर्वाण के लिए अथवा मुक्ति के लिए।

लेकिन चित्तानुपश्यना का प्रयोजन बौद्धों की दृष्टि में, मूलतः वेदना-निरोध के लिए है, अतः वेदनानुपश्यना भी अनिवार्य रूप में उपस्थित होती रहती हैं (शैव योगियों के शब्दों में)। कहने की आवश्यकता नहीं, विकल्पक्षय दोनों वर्गों के साधकों के लिए अनिवार्य है। फिर बौद्धों के धर्मशास्त्र में जो पाँच नीवरणों का, पाँच उपादान-स्कन्धों का, बारह आयतनों का तथा सात बोध्यङ्गों का उल्लेख है, सभी केवल पारिभाषिक शब्दावली को दृष्टि से नवीन हैं, अन्यथा शैव योगसाधना में भी इन सभी तत्त्वों का अभिनिवेश हो ही जाता है।

(२) चार ऋद्धिपाद—छन्द, वीर्य, चित्त तथा विमर्श को ऋद्धिपाद माना गया है तथा उनकी समाधि को प्रधान मानकर उनके संस्कार से युक्त होने का आदेश दिया गया है। यहाँ हमें प्रथम दो तत्त्व अवश्य स्थूल दीख पड़ते हैं, लेकिन अवशिष्ट दो तत्त्व शब्दतः शैवदर्शन में भी पाये जाते हैं और तात्पर्य भी हूबहू यही है। 'आत्मा चित्तम्' जो शिवसूत्र है[2] अथवा विमर्श को जो प्रकाश से अभिन्न रूप में परिकल्पित किया गया है[3] और उसके साथ जो तन्मयता स्थापित करने का विधान है, सो क्या साधक को ऋद्धि के स्तर पर पहुँचाने का उद्देश्य नहीं रखता है ? आगे जाकर वज्रयान में इस विमर्श की सत्ता अधिक प्रकट हो गई, जब शून्यता को इसी अर्थ में (आलोक-दृष्टि के अर्थ में) परिगृहीत किया गया (आलोक कश्मीरी शैवमत के प्रकाश को, अनुत्तर को, छोड़कर और क्या ?), अस्तु, प्रस्तुत निबन्ध तो यौगिक अध्ययन मात्र में परिसीमित है, अतः विस्तृत विचार वाञ्छनीय नहीं।

१. तत्परिज्ञाने चित्तमेव अन्तर्मुखीभावेन चेतनपदाध्यारोहात् चितिः ॥
—प्रत्य० हृदयम् सू० १३

२. प्र० ३ सू० १।

३. कामकलाविलासः—उद्धृत पृ० १० (टीकांश में)।

(३) पाँच बल और त्रिरत्न-फिर अभिसम्बोधि के लिए बुद्ध ने साधक को पाँच बलों से जो युक्त होना बताया है, वे भी इसी मकसद से कि साधक पुनः-पुनः एक ही तत्त्व का श्रवण कर उसका अभ्यास करें। फिर भी श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा इन पाँच तत्त्वों में श्रद्धा और प्रज्ञातत्त्व कुछ अभिनव दीख पड़ते हैं, लेकिन जिन अध्येताओं को बुद्ध के त्रिरत्न सिद्धान्त से, शील-समाधि-प्रज्ञा से साक्षात्कार हुआ होगा, उन्हें स्पष्ट हो जाएगा कि बुद्ध ने समस्त साधना-पद्धति का लक्ष्य क्रमशः इन्हीं तीनों तत्त्वों का विकास माना है। श्रद्धातत्त्व ऐसा है जो किसी तर्क से प्राप्य नहीं है और अगर शील रहे तो फिर सुप्राप्य भी है, श्रद्धा से वीर्यलाभ स्वतः सिद्ध है, जो पुनः समाधि को स्थिर रखने में बल देता है और समाधि की सुस्थिरता से पुनः प्रज्ञोपलब्धि सहज हो जाती है। शैवयोग में समाधि का लक्ष्य अधिक स्पष्ट है—"स्वरूपशून्यं तद्ध्यानं समाधिरभिधीयते" अथवा "एवं शिवे विलीनात्मा समाधिस्थ इहोच्यते"।[1]

(४) सात बोध्यङ्ग—स्मृति, धर्मविचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि तथा उपेक्षा, ये सात बोध्यङ्ग हैं—"भिक्षुओं, इसे भावना-प्रयत्न कहते हैं" यह शास्ता का कथन है। भावना-प्रयत्न शैवों के लिए नयी चीज नहीं है। अत्यन्त नम्र रूप में इस सम्बन्ध में यह निवेदनीय है कि बुद्ध-प्रतिपादित अनेक तत्त्वों को अतिव्याप्ति हो गयी है, जैसे समाधि तथा प्रीति की, जिनके सम्बन्ध में ऊपर संकेत दे ही दिया गया है। रही उपेक्षा की बात, उसकी भी आवृत्ति चार विहारों में (मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा विहारों में) पायी जाती है। उपेक्षा की मनोवैज्ञानिक सत्ता अवश्य है, लेकिन शैवों की भावात्मक साधना में इस प्रयत्न की आवश्यता नहीं पड़ती है। पशु, वीर तथा दिव्य अवस्थाओं में इस क्रम से साधक ऊपर उठते जाते हैं कि प्रतिकूल विषयों का स्वतः विरेचन हो जाया करता है और चित्त क्रमशः अन्तर्मुख होता जाता है। प्रश्रब्धि की दशा भी साधनों से अनायास आ जाती है। वस्तुतः धर्मानुपश्यना में ही इन तत्त्वों की व्याप्ति हो जाती है, फिर भी पृथक् रूप से इनका जिक्र किया गया है।

(५) अष्टाङ्गिक मार्ग—बौद्ध योग का सबसे व्यावहारिक अंश है बुद्ध-प्रतिपादित अष्टाङ्ग मार्ग—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाणी, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् समाधि और सम्यक् स्मृति। इन योगाङ्गों में कुछ पुनरावृत्ति भी मिलती है, कुछ स्थल जीवन-यापन-प्रणाली मात्र

१. कुलार्णव तन्त्र : उल्लास ९, श्लोक ९, १४।

के लिए संगृहीत हैं, लेकिन सम्यक् दृष्टि और सम्यक् संकल्प वस्तुतः किसी योगी के लिए, विशेषतः राजयोगी, लययोगी और मन्त्रयोगी के लिए अत्यन्त अनिवार्य हैं। संकल्प दूषित होने से मन्त्र-बल तो व्यर्थ हो ही जाता है, साथ-साथ सिद्धि में स्वकृत बाधाएँ उपस्थित हो जाती हैं। विशेषतः ध्यान की स्थिति में संकल्प की दृढ़ता अगर टूट गई तो समस्त साधना क्षत-विक्षत होकर गिर पड़ती है, आगे बढ़ने की, नादानुसन्धान की या विन्दुक्षोभ-प्रलय की अथवा सामरस्य की तो बात ही क्या? आगे षट्चक्र-साधनाक्रम में तो सम्यक् व्यायाम का भी प्रयोजन प्रतीत होगा।

मौलिक्य बौद्धयोग के कुछ परिगणित साधनों की चर्चा करके पुनः उत्तर बौद्ध दर्शन के चमत्कारों पर विहङ्गम दृष्टि डालना समुचित मालूम पड़ता है।

उत्तर बौद्धयोग

सम्राट् अशोक से पहले ही बौद्ध धर्म का रूप परिवर्तन होने लगा था, उसके सत्रह सम्प्रदायों के निराकरण का प्रयास इसी ओर संकेतित करता है, किन्तु वस्तुतः हीनयानोत्तर महायान को बल मिला महासांघिकों से। साथ ही दार्शनिक क्षेत्र में माध्यमिकों ने एक अपूर्व मोड़ ला दिया, जो फिर आगे चलकर विज्ञानवादियों से अथवा योगाचारियों से परास्त हो गया। इन विषयों का बृहत् विचार प्रस्तुत लेखक के शोध-प्रबन्ध में है। यहाँ हमें यौगिक प्रवृत्तियों की चर्चा करनी है। यौगिक प्रवृत्तियों के प्रगल्भ विकास के लिए द्रष्टव्य है उक्त शोध-प्रबन्ध के वे अंश जो स्फुट रूप में, साथ-साथ भावात्मक रूप में, शून्यता-करुणा, महासुख, सामरस्य, महामुद्रा-साधन तथा चक्र-नाड़ी साधन सम्बन्धी विचारों से सम्बद्ध हैं। यहाँ उस प्रबन्ध के कुछ अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं।

बौद्ध धर्म के क्रमिक इतिहास के पर्य्यालोचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि महायान में क्रमशः तान्त्रिक देवता-मण्डल-धारणी-मन्त्रादि के विधान प्रविष्ट होने लगे और आगे जाकर इस यान का स्वरूप मन्त्रयान और फिर क्रमशः वज्रयान और सहजयान हो गया। अपने शोध-प्रबन्ध में विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर, यथा तक्षणादि कलाओं के आधार पर, राजनीतिक-सामाजिक इतिहास के आधार पर तथा मुख्यतया प्रसिद्ध शैव-शाक्त ग्रन्थों के आधार पर ख्यातनामा पुसिन् की इस उक्ति की जाँच-पड़ताल कर लेखक ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि 'तथाकथित तान्त्रिक बौद्ध धर्म की मान्यताएँ हूबहू तान्त्रिक शैव-शाक्त धर्म की मान्यताओं के अनुरूप हैं, बौद्धतन्त्र कलेवर में बौद्ध है, किन्तु अन्तस्तल से शैव-तन्त्र ही है, ऐसा कहा जा सकता है।' उस शोध-प्रबन्ध में तान्त्रिक बौद्ध धर्म (विशेषतः वज्रयान सहजयान और अंशतः कालचक्रयान) के (१) तत्त्वों पर यथा अनुत्तर तत्त्व, बोधि-

चित्त (शून्यता-करुणा के अभेद की स्थिति में पारमार्थिक चित्त अथवा सोपानारूढ़ संवृत चित्त), सामरस्य, महासुख, निर्वाण तथा सहज तत्त्व पर और (२) साधनों पर यथा चित्तशोधन अथवा विकल्पक्षय पर, शक्तिसाधन पर अर्थात् (क) बाह्य (मन्त्र) साधन और (ख) अन्तः चण्डाली-जागरण पर और अन्त में गुरुतत्त्व पर समग्र विचार कर इसे सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है कि अनुत्तर तत्त्व शैव दर्शन का ही अनुत्तर तत्त्व है, बोधिचित्त पारमार्थिक दशा में, शक्ति-शिव की अभेद दशा में (यतः शून्यता = शक्ति, करुणा = शिव) परमशिव ही हुए, स्वतः सामरस्य का भी वही अर्थ है और शैव योग के लक्षणों के आधार पर देखा गया है कि महासुख, सहज-भावना तथा निर्वाण (वज्रयानियों का निर्वाण) शिवत्व प्राप्ति ही है अथवा तज्जनित आनन्दमात्र ही है। इसी तरह वज्रयान के साधनों पर विचार किया गया है।

प्रस्तुत निबन्ध उत्तर बौद्ध दर्शन की यौगिक प्रक्रियामात्र से सम्बद्ध है, अतः उपर्युक्त तत्त्व-साधनों में कुछ को चुनकर सहृदय पाठकों की सुरुचि की दृष्टि से प्रतिपादित किया जा रहा है।

सामरस्य-योग

सामरस्य योग वह योग है, जिसमें प्रज्ञोपाय के बीच कुछ भी भेद-भावना नहीं रहती है ऐसा बौद्ध लक्षण है और इधर हम शाक्ततन्त्रोक्त लक्षण पाते हैं[1] — 'विमर्शशक्ति परमशिव के साथ सामरस्य (मय) विश्व का सर्जन करती है' अथवा 'सामरस्य शब्द से अभिप्रेत है स्त्री-पुरुष के संयोग से समुद्भूत आनन्द। यह सबसे अधिक तीव्र शारीरिक सुख है तथा जो आध्यात्मिक स्तर के शिव-शक्ति-संयोग-समुद्भूत परमानन्द को सांसारिक स्तर पर उतार कर उसे प्रतिनिधित करता है।' इतना ही नहीं, इस आध्यात्मिक अनुभूति का पुनः लययौगिक वर्णन भी हमें मिलता है— "पूर्वोक्त तत्तद्ध्यानानन्तर शिवशक्ति-सामरस्य-भावना कर सामरस्यानन्द से परशिव से उत्पन्न परमामृत से कुण्डलिनी का तर्पण करें।'

निर्वाण

बौद्धतन्त्रानुसार निर्वाण को बोधिचित्त अथवा शुद्धचैतन्यस्वभाव माना गया है, लेकिन बोधिचित्त शक्तिशिव के सामरस्य की अवस्था है (अर्थात् परमार्थ दशा में उस स्थिति में चित्त रहता है) (द्रष्टव्य बो० गा० ता० सि० (१) पृ० २३), अतः निर्वाण शक्तिशिव के सामरस्य की स्थिति अर्थात् परमशिवत्व की स्थितिमात्र है।

१. बौ० गा० ता० सि० में ये सभी उद्धरण हैं (पृ० २९, खण्ड–१) आगे के विषयों के लिए भी प्रमाण तत्रैव द्रष्टव्य हैं।

चित्तशोधन अथवा विकल्पक्षय

वज्रयान के प्रामाणिक ग्रन्थ 'बौद्धगान औ दोहा' में भावाभाव, जन्ममरण, भव-मुक्ति प्रभृति अनेक तत्त्वों को अथवा घटनाओं को विकल्प मानकर चित्त-(मल) विनाश का आदेश दिया गया है। लेकिन इस तरह का संकेत तो हमें प्रत्यभिज्ञाहृदय (शैवग्रन्थ) में भी मिलता है—'विकल्पक्षय-शक्तिसंकोच-विकासदाहच्छेदाद्यन्तकोटि-निभालनादय इहोपायाः', विकल्प का लक्षण भी हमें 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' में मिलता है—

ननु स्वलक्षणाभासं ज्ञानमेकं परं पुनः।
साभिलापं विकल्पाख्यं बहुधा नापि तद्द्वयम्॥ (प्रत्यभिज्ञा०)

शक्तिसाधन

वज्रयान में शैव साधना के समान ही शक्तिसाधन के दो रूप मिलते हैं— (१) बहिर्याग—जिसमें एक नारी में प्रज्ञा को प्रतिरूपित माना जाता है और (२) अन्तर्याग—जिसमें चण्डाली रूप में प्रज्ञा को प्रतिरूपित माना जाता है। यह हम जानते हैं कि प्रज्ञा शक्ति का ही पर्याय है, जिससे बहिर्याग का अर्थ हुआ शक्तिसाधन (दूतीयागादि) और अन्तर्याग का क्या मतलब है, यह आगे द्रष्टव्य है।

चण्डालीयोग

कहने का प्रयोजन नहीं है, प्रज्ञा को बौद्धतन्त्र में शून्यतामात्र माना जाता है और अद्वयवज्रसंग्रह के आधार पर शून्यता आखिर शक्ति ही का पर्याय है। दूसरी बात है, चण्डाली-जागरण का जो विधान है, उसपर गम्भीर अध्ययन को लगाने से यह स्पष्ट हो जाएगा कि चण्डाली कुण्डलिनी का ही नामान्तर है। कैसे ? विशेष विचार के लिए लेखक के 'बौद्धगान में तान्त्रिक सिद्धान्त' के 'अन्तरङ्गसाधन' शीर्षक में 'शक्ति स्वरूप' (पृ० ८० खण्ड १) प्रकरण द्रष्टव्य है। यहाँ इतना ही कहकर सन्तोष करना पड़ता है कि हम दोनों तन्त्रों के प्रतिपादित दोनों तत्त्वों के लक्षण को मिलाएँ—

"चण्डाली नाभिस्थल में ज्वलित हो गई, पञ्च तथागतों को दग्ध कर रही है, लोचनादि दग्ध होने पर 'हूँ' मन्त्र से चन्द्रमा से (अमृत) स्राव हो रहा है।"

क्या कुण्डलिनी योग की भूमिका में ऐसी परिस्थिति घटती नहीं है ? कुण्डलिनी को भी प्रज्वलिता, तप्तचामीकरप्रभा, विद्युल्लताकारापरदेवता अथवा प्रज्वलद्-भुजगाकारा माना गया है। शैव-शक्ति योग में। पञ्च तथागतों का दहन एक प्रतीक मानना चाहिए, तात्पर्य है सभी भूतों का, विग्रहों का दहन जो शाक्तयोग में भूतशुद्धि

का मर्म है। कूर्च-बीज-प्रयोग, अमृतस्राव भी घट रहे हैं। तब रही बात आधार-चक्र की। आधार-चक्र बौद्धयोग में सामान्यतया नाभिस्थलस्थित माना गया है अवश्य और इधर मूलाधार स्थित माना गया है। लेकिन बौद्धों के हेवज्रतन्त्र के अनुसार तो यह भी असमानता दूर हो जाती है, यतः वहाँ योनि ही को कुण्डलिनी का आधार माना गया है और षट्चक्रनिरूपण के अनुसार योनि गुद-मेढ्र-मध्यस्थिता मानी गई है और फिर वही तो है मूलाधारस्थल।

चक्रनिरूपण-प्रसङ्ग में सूक्ष्म अन्तर अवश्य मिलते हैं, जैसे—बौद्धयोग में चार चक्रमात्र हैं—निर्माणचक्र (नाभिस्थित अथवा योनिस्थित), धर्मचक्र (हृदयस्थित), सम्भोगचक्र (कण्ठस्थित) तथा महासुखचक्र (मस्तकस्थित) और शैवयोग में सात चक्र आधार चक्र (मूलाधारस्थित अथवा योनिस्थित) स्वाधिष्ठानचक्र (लिङ्गमूलस्थित), मणिपूरचक्र (नाभिस्थित), अनाहतचक्र (हृदयस्थित) विशुद्धचक्र (कण्ठस्थित), आज्ञा-चक्र (भ्रूमध्यस्थित) और अन्त में मस्तकस्थ सहस्रार पद्म (या लक्षणानुसारी केन्द्र अथवा चक्र जैसे म० म० कविराज जी मानते हैं)। बौद्धों के चक्रनाम चार कायों पर ही अवलम्बित हैं, अन्यथा तात्त्विक अन्तर नहीं है।

इसी तरह नाड़ी-व्यवस्था में भी विस्तार में जाने से अन्तर रहने पर भी ललना, रसना और अवधूती नाड़ियों को क्रमशः इडा-पिङ्गला-सुषुम्ना मानने में कोई क्षति नहीं दीख पड़ती है, लक्षण तथा शरीरस्थान की दृष्टि से।

मध्य विकास

बौद्धयोगी 'मध्य' शब्द को जिस अर्थ में प्रयोग करते पाए जाते हैं, उसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग शैवयोग में भी मिलता है—"मध्यविकासाच्चिदानन्दलाभः" एवमादि द्रष्टव्य।

प्राणायाम

प्राणायाम का विधान बुद्ध के समय से गुह्यसमाज, प्रत्युत कालचक्रयोग तक सभी मतों में पाया जाता है (बुद्ध का 'अनापानसति' द्रष्टव्य)। लेकिन शैवयोग के लिए यह कोई अभिनव चीज नहीं है—कुण्डलिनीयोग में वातस्तम्भ (कुम्भक) की चर्चा तथा अन्यत्र स्फुट विधान के लिए दक्षिणामूर्त्तितन्त्र तथा विश्वसारतन्त्र द्रष्टव्य हैं।

पीठ का अनुसन्धान

इसी तरह पीठ की चर्चा देश के शाक्त केन्द्रों के अर्थ में अथवा 'देहो देवालयः प्रोक्तः' (कुलार्णव) मानकर शरीर स्थित केन्द्र के अर्थ में समान रूप से दोनों योगों में मिलती है। प्रस्तुत निबन्ध की सीमा की दृष्टि से यह विषय कुछ गहन है, लेकिन दोनों योगों के नाद-बिन्दु साधनों में पीठ का प्रमुख स्थान है।

उपसंहार

बौद्धयोग का अध्ययन प्रस्तुत लेखक की योग्यता तथा सौविध्य की सीमा में असम्भव ही दीख पड़ता है, यतः यौगिक प्रक्रियाओं का परिचय बिना योगी के सम्पर्क के हो ही नहीं सकता। फिर यत्किञ्चित् सामग्रियों के आधार पर एक रेखा-चित्र मात्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। आशा है अग्रिम अवसरों पर प्रस्तुत विषय के लेखक को इससे अधिक साङ्गोपाङ्ग तथा प्रगल्भ विचार के विनिमय में भाग लेने का सौभाग्य प्राप्त होगा। लेखक अपने को गुरुतुल्य व्यापक विद्वद्वरों की गोष्ठी में सम्मिलित पाकर गौरव का अनुभव कर रहा है।

• • •

बौद्ध योग पर आधुनिक विज्ञान तथा मनोविज्ञान का प्रकाश

उद्धव आ० आसरानी

दुनिया भर की जितनी भारतीय तथा विदेशी योग पद्धतियाँ हैं, उन सबमें से बौद्ध योग के साथ ही आधुनिक मनोविज्ञान का अधिक निकट सम्बन्ध जुड़ सकता है। बौद्ध योग में मूर्तिमान् ईश्वर का कोई स्थान नहीं और अदृष्ट सर्वव्यापी ब्रह्म का भी नहीं। भगवान् बुद्ध ने केवल यह मनोवैज्ञानिक तथ्य निरूपित किया कि 'दुःख है' और दुःख का अर्थ केवल शरीर की पीड़ा अथवा व्याधि नहीं, अपितु चित्त की चिन्ताएँ, भय, निराशाएँ, कुण्ठा इत्यादि भी उसी के अन्तर्गत आ जाती हैं। उन्होंने यह भी बताया कि दुःख का कारण तृष्णा मिटाने पर दुःख विलीन हो सकता है। इससे यह प्रतीत होता है कि बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार योगपद्धति मनुष्य जाति ने अपने दुःख की निवृत्ति के लिए टटोलते-टटोलते उपलब्ध की।

पातञ्जल अष्टाङ्ग योग ने भी यह साहस किया है कि उसने योग को ईश्वर या ब्रह्म में विलीन होने की अपेक्षा केवल चित्तवृत्ति-निरोध कहा है। परन्तु उसने ईश्वर-प्रणिधान को एक विशेष साधना के रूप में माना है और फिर प्रमाणों का वर्णन करते हुए प्रत्यक्ष प्रमाण और अनुमान प्रमाण के साथ आप्त पुरुषों के वचन को भी प्रमाण माना है। आप्त पुरुष वे हैं, जिनको प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका है। भगवान् बुद्ध में यह साहस था कि इस तीसरे प्रमाण को भी उन्होंने आवश्यक न समझा। उन्होंने कहा कि कोई भी बात या कार्य तुम्हारे लिए केवल इस कारण से मान्य नहीं कि किसी शास्त्र में लिखा है या बुद्ध स्वयं भी कह गये हैं। प्रत्येक बात या कार्य की अपने मनोवैज्ञानिक अनुभव से स्वयं परीक्षा करो।

आधुनिक परा भौतिक विज्ञान में भी ऐसा उदाहरण मिलता है। सबसे हल्के अणु का भी लगभग दो हजारवाँ भाग, जिसको इलेक्ट्रॉन कहते हैं, वह बहुत ही आश्चर्यजनक बहुरूपी पाया गया, भौतिक वस्तु भी और साथ-साथ शक्ति की लहर भी, स्थिर भी और गतिमान भी; उसी प्रकार शक्ति की लहरें भी भौतिक वस्तु का रूप धारण करती हैं। यह बहुरूपिया-पन समझ में नहीं आ सकता था। हाइसिन बर्ग महोदय ने उसको समझने के लिए एक अद्भुत उपाय सोच निकाला। उसने कहा कि इलेक्ट्रॉन इत्यादि को हमने देखा तो है नहीं और न शक्ति की लहरों को—यह दोनों

हमारे बिना प्रमाण माने हुए चित्र हैं, जो हमने उन पर आरोपित किये हैं। हाइसिन बर्ग महोदय ने कहा कि इन दोनों चित्रों को भुला कर केवल प्रयोग-प्रमाणित तथ्य और उनकी नाप लिख लो। उन पर उन्होंने एक नई गणित की पद्धति, जिसको उन्होंने 'क्वान्टम मिकैनिक्स' कहा, उसका प्रयोग कर यह सिद्ध किया कि वह बहु-रूपिया चाल ही प्रकृति की चाल है। ठीक उसी प्रकार महात्मा बुद्ध ने भी कहा कि वेदान्त का एक सर्वव्यापी ब्रह्म तथा सांख्य के पुरुष और प्रकृति इत्यादि दार्शनिक आरोपित चित्रों को भुला दो। केवल मनोवैज्ञानिक तथ्य कि 'दुःख है' और उसका उपचार सम्भव है—ध्यान में रखो।

महात्मा बुद्ध पृथ्वी पर २५०० वर्ष पहले आ गये। उनकी महानता का पूरा मूल्य आधुनिक वैज्ञानिक युग में ही प्रतीत होता है, जब हर बात को तर्क, प्रयोग और तात्कालिक लाभ की तुला पर तौला जाता है। रूणे जॉहनसन महोदय ने एक पुस्तक हाल में लिखी है, जिसमें न केवल बौद्धयोग की मनोवैज्ञानिक छानबीन की है, अपितु बौद्ध योग के गन्तव्य स्थान अर्थात् निर्वाण की भी।

प्रायः विद्वान् यह आपत्ति करते हैं कि विज्ञान तथा मनोविज्ञान केवल बाह्य-स्थिति का निरूपण कर सकते हैं। योग के अन्तर तथा सूक्ष्म अनुभव में उनका प्रवेश कैसे हो सकता है? परन्तु पहले तो यह बता दें कि आधुनिक मनोविज्ञान पिछले बीस साल में केवल बाहरी स्थिति तथा मानसिक रोगों के उपचार से बहुत आगे बढ़ गया है। विश्वविख्यात मैस्लो महोदय, मर्फी महोदय तथा एसग्योली महोदय इत्यादि ने मनोविज्ञान के नये भागों की योजना बनाई, जिसमें यह जाँचा जाता है कि साधारण मनुष्य को कैसे देवता बनाया जाए। मैस्लो महोदय ने समाधियों तथा सहज अवस्था का भी मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया है। ऐसे मनोवैज्ञानिकों का आग्रह है कि मनोविज्ञान के इन नये अनुसन्धानों के लिए बाहर की स्थितियों के साथ-साथ आन्तरिक अनुभवों के विवरण को भी ध्यान में रखना होगा।

फिर यह न भूलना है कि प्रत्येक आन्तरिक अवस्था के बाह्य लक्षण भी होते हैं। अब स्थित-प्रज्ञ अवस्था से योग की कौन सी ऊँची अवस्था हो सकती है—जीवन-मुक्त अवस्था तथा सहज अवस्था भी वही है। विद्वानों का मत है कि अष्टाङ्ग योग की धर्ममेघ समाधि तथा बौद्ध योग को बोधिसत्वों की महायानभूमियों की अवस्था भी लगभग उसी अवस्था के पर्याय हैं। ऐसी ऊँची अवस्था पर प्रश्न करते हुए गीता में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से पूछा–कि स्थित-प्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है, चलता-फिरता है? इत्यादि। और श्रीकृष्ण ने यह कहकर उन प्रश्नों को नहीं टाला कि यह तो बाह्य बातें हैं और स्थित-प्रज्ञ अवस्था आन्तरिक है; अपितु उन्होंने बहुत प्रकार के मनोवैज्ञानिक रूप स्थितप्रज्ञ अवस्था के गीता में बतलाए हैं। आन्तरिक अवस्था चाहे वाणी से परे

हो, परन्तु उससे सम्बन्धित बाह्य मनोवैज्ञानिक तथा शारीरिक लक्षण वाणी से व्यक्त किए जा सकते हैं।

यह भी आपत्ति प्रायः उठाई जाती है कि विज्ञान, मनोविज्ञान इत्यादि प्रत्येक बात का विश्लेषण करते हैं। पृथक्-पृथक् भाग पर अलग-अलग ध्यान देते हैं। हाथी व पाँच अन्धों वाली प्राचीन कहानी की भाँति ऐसे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण से पूरा हाथी अर्थात् योगी का पूरा आन्तरिक अनुभव मनोवैज्ञानिक के हाथ में नहीं आ सकता। विश्लेषणों की इस त्रुटि को वैज्ञानिक लोग जानते हैं, इसलिए गेस्टॉल्ट की मनोविज्ञान तथा स्मट्स महोदय की पुस्तक "Holism" आदि पुस्तकें लिखी गईं हैं। परन्तु फिर भी यह मानना पड़ता है कि योगी के आन्तरिक अनुभव का मनोवैज्ञानिक सम्यक् ज्ञान केवल एक योगी को हो सकता है, जिसको अपने भी उस प्रकार के अनुभव हैं। एक कवि का पूरा मूल्य वही आँक सकता है, जो स्वयं कवि है। सौभाग्यवश लेखक को कतिपय यौगिक अनुभूतियाँ भी हुई हैं।

ज्ञान-योग की लगभग पैंतीस साल की साधना के बाद सन् १९४३ में उसको किन्हीं विशेष कारणों से ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे स्थितप्रज्ञ अवस्था उसके ऊपर आ गई हो। वह अनुभव तो केवल दो दिन रहा, परन्तु तदुपरान्त उसकी झलक कई बार मिलती रही है, कभी कुछ क्षणों के लिए और कभी कई घण्टों के लिए। कुछ पूर्ण महात्माओं के सम्पर्क से लेखक को यह आश्वासन भी मिला है कि उसके अनुभव केवल भ्रामक नहीं, वरन् सत्य पर आश्रित हैं। यह अवश्य है कि उसके अनुभव स्थिर नहीं, परन्तु गीता में कहे हुए गुणातीत महात्मा तथा बौद्ध ग्रन्थों की अर्हत्-अवस्था में भी स्थिरता की कमी रहती है।

लेखक ने अपने अनुभवों के विवरण भारतीय तथा अमरीकी मनोवैज्ञानिक अथवा यौगिक पत्रिकाओं में प्रकाशित करवाए हैं। उनके शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव भी वर्णित किये हैं। उन सबके आधार पर जिन परिणामों पर पहुँचे हैं, वे निम्नाङ्कित हैं—

(१) विभिन्न प्रकार की जितनी योग पद्धतियाँ हैं, उन सबका गन्तव्य स्थान चरम सीमा एक ही है, जिसको जीवन-मुक्त अवस्था कहते हैं। कैवल्य, निर्वाण इत्यादि भी वही है। इस मत की विद्वान् लोग भी पर्याप्त पुष्टि कर रहे हैं। एस० एन० दासगुप्ता महोदय, जिन्होंने भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास लिखा है, उनकी और चटर्जी तथा दत्त महोदय की भारतीय दर्शनशास्त्र का परिचय आदि पुस्तकों से भी सिद्ध होता है कि जीवन-मुक्त अवस्था का आदर्श लगभग सब योग पद्धतियों ने माना है, बौद्धयोग ने भी। भक्ति-पक्ष वालों में से भी कई सम्प्रदायों ने उसको माना है। केवल कुछ सम्प्रदायों ने ऐसे माना है कि जीवनमुक्त अवस्था से भी ऊँची

एक अवस्था है, जिसमें भक्त सर्वदा ईश्वर में मग्न रहता है। फिर कुछ भक्त ऐसे भी हुए हैं, जैसे भक्त कबीर, तुकाराम आदि, जिन्होंने ईश्वर के साथ एकता या सहज-अवस्था का दावा किया है। अर्थ यह कि जीवन-मुक्त अवस्था को योग की चरमसीमा मानने में योग-सम्प्रदायों की अत्यधिक सहमति है।

(२) जीवनमुक्त अवस्था को मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर यह प्रतीत होता है कि वह केवल एक अदभुत् सर्वोत्तम मानसिक स्वास्थ्य है। यह उसका मनोवैज्ञानिक पहलू है। साधारण मनुष्य जानता नहीं कि मानसिक दिशा में वह अस्वस्थ और बद्ध है। उसके अचेतन अन्तःकरण में बचपन के समय से अनेकों बाँधने वाली और रोकने वाली मान्यताएँ, संस्कार और हृदय की गाँठें दबी हुई हैं, जिनको आधुनिक मनोवैज्ञानिक Inihibitions and Complexes कहते हैं। उसके प्रायः सभी विचार तथा कार्य उन हृदय की गाँठों, संस्कारों इत्यादि से उत्पन्न होती हुई तीव्र भावनाओं के सर्वदा अधीन रहते हैं। जीवन-मुक्त अवस्था में ही केवल वे हृदय की गाँठें खुलती हैं और पिछली सब मान्यताओं तथा संस्कारों के बन्धन से मनुष्य को मुक्ति मिलती है। यही जीवन-मुक्त अवस्था का मनोवैज्ञानिक रूप है। रूने जॉन्सन ने भी निर्वाण पद में होने वाली मानसिक स्वास्थ्य की वृद्धि पर अपनी पुस्तक में पूरा एक खण्ड लिखा है।

(३) उस अनुभव में एक आश्चर्यजनक नया रहस्य खुला। जितने दार्शनिक प्रश्नों पर मैं तब तक गहरा विचार करता था, वे सब प्रश्न पता नहीं कहाँ विलुप्त हो गये। यह नहीं कि कोई उनके उत्तर मिल गये हों, वह दार्शनिक प्रश्न करने की वृत्ति उस अनुभव के आनन्द और उल्लास में आ ही नहीं सकती थी। अजीब अवस्था थी वह, यह नहीं कि उसमें इच्छाएँ नहीं थीं, वरन् कोई ऐसी तीव्र इच्छा न थी, जो चित्त में तनाव या मानसिक बन्धन हो जाए। ठीक उसी प्रकार एक जीवनमुक्त पुरुष के मस्तिष्क में प्रकृति के अद्भुत रहस्यों को समझने की जिज्ञासा अवश्य रहती है, परन्तु वह केवल एक वैज्ञानिक की जिज्ञासा की भाँति रहती है। यह नहीं कि यदि उस रहस्य का कोई समाधान अन्वीक्षण तथा प्रयोग से न मिल सके तो केवल नई कुछ मान्यताएँ बनाकर के तर्क के साथ बुद्धि से घन्टों तक प्रयास करते रहें।

ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध का चित्त भी जीवनमुक्त होने के कारण ऐसी दार्शनिक समस्याओं पर विवाद करने लिये कभी भी राजी नहीं होता था। इन रहस्यों तथा समस्याओं के सम्बन्ध में उनके चित्त में कोई बाँधने वाला तनाव न था। वे उससे भी मुक्त थे।

(४) मुझे यह भी अनुभव हुआ कि वह योग की चरम-सीमा जीवनमुक्त अवस्था—मनुष्य की नैसर्गिक अवस्था है। हम लोगों की साधारण अवस्था ही

अप्राकृतिक है, मानों अर्ध-पागल अवस्था है। बचपन से हम लोग माया के द्वन्द्वों को सीखते चले आए और उनको सच्चा मानकर उस नाम-रूप के शाब्दिक जाल में फँसते चले आए। यह अच्छा है, यह बुरा है, यह हिन्दू है, यह मुस्लिम है—इत्यादि अप्राकृतिक भावनाएँ हमारे हृदय में ऐसा पक्का घर करके बैठ जाती हैं कि अर्ध-पागल की भाँति सत्य के बदले असत्य दिखने लगता है। एक जीवन-मुक्त पुरुष इन द्वन्द्वों को जानते हुए भी उनके तनाव से मुक्त रहता है। उसकी दृष्टि में कोई बिना विचारे अभिमत या पक्षपात घर नहीं कर बैठता।

आश्चर्य की बात यह है कि जब यह अवस्था किसी मनुष्य को अल्प काल के लिए भी प्राप्त होती है तो यह अनुभव होता है कि इसकी प्राप्ति अत्यन्त सरल है, तभी तो इसको सहज अवस्था भी कहते हैं। प्राकृतिक अवस्था यही है। बचपन में प्रत्येक मनुष्य को वह स्वतः सिद्ध थी, तत्पश्चात् द्वन्द्वों के माया जाल में फँसकर साधारण मनुष्य ने खो डाली। अब भी यदि वह हर समय केवल वर्तमान कार्य पर ध्यान दे और भूत पर विचार तथा भविष्य की चिन्ता में समय नष्ट न करे तथा जीवन के कर्मों को एक खेल तथा लीला के समान निर्लिप्त होकर करता रहे तो जीवन-मुक्त पुनः हो ही गया। वयस्क होते हुए भी एक बच्चे के समान निर्दोष और निर्द्वन्द्व हो जाना बड़ी उल्लासपूर्ण अवस्था होती है, जिसमें हर कार्य एकाग्रता, सन्तुलन और क्षमता से सम्पन्न होता है। जीवन के सब तनाव समाप्त हो जाते हैं; न कोई तृष्णा, न जल्दबाजी और न कोई चिन्ता।

(५) उपर्युक्त चार अनुभव लेखक के थे, परन्तु योग शास्त्रों से तथा मनोवैज्ञानिकों से उनकी जितनी पुष्टि मिली, उसका भी विवरण ऊपर दिया गया है। कतिपय जीवित जीवनमुक्त पुरुषों के सम्पर्क से भी पुष्टि मिलती रही है। वैज्ञानिक दृष्टि से इस अनुसन्धान को और पुख्ता करने को आवश्यकता अवश्य है, परन्तु अब भी यह आभास होता है कि मेरे अनुभवों के उपर्युक्त चार परिणाम भ्रामक नहीं, वरन् सत्य ही होंगे। यदि भावी किसी अनुसन्धान ने ऐसा सिद्ध कर दिया तो एक बड़ी भारी बात हो जाएगी। योग की पराविद्या का मानसिक स्वास्थ्यरूपी अपराविद्या के साथ तथा आधुनिक मनोविज्ञान के साथ एक सम्बन्ध जुड़ जाएगा।

ऐसे सम्बन्ध के आधार पर लेखक अब यह साहस करता है कि आधुनिक मनोविज्ञान बौद्ध योग पर और योग पद्धतियों की तुलना में क्या प्रकाश डालता है, उसका इस विद्वत्-मण्डली के सामने विवेचन करे। बौद्ध योग का बड़ा लम्बा इतिहास है, उसकी कई शाखाएँ हैं। ऐसे विषय का सम्पूर्ण विवेचन एक दीर्घ अनुसन्धान का विषय हो सकता है। लेखक इस छोटे लेख में केवल थोड़ी झलकियों को ही दिखाने का प्रयास करेगा।

(१) लेखक ने अपने प्रकाशित लेखों में ज्ञान-योग की मनोवैज्ञानिक व्याख्या की है। ज्ञान-योग का साधक वेद के महावाक्यों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है और ऐसे मनन इत्यादि से वह शरीर-भावना से ऊँचा उठकर अपने आपको ब्रह्म मानकर मानों अपने चित्तशक्ति को शरीर की संकुचित सीमाओं से मुक्त कर अत्यन्त विस्तृत कर देता है। इसीका मनोवैज्ञानिक परिणाम यह होता है कि देह तथा प्रकृति सम्बन्धी विचार और भावनाएँ शान्त हो जाती हैं। इसे विचार तथा भावनाओं के शिथिलीकरण (Relaxation) को ही निर्विकल्प समाधि कहते हैं। अहं-भाव भी मिट जाता है। ऐसी समाधि से साधक को प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है कि नाम-रूप रूपी माया तथा जीवन या प्रकृति सत्य नहीं। जैसे किसी मानचित्र को हम लपेट सकते हैं, उसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में मनुष्य सारी दुनिया को लपेट सकता है। माया दिखते हुए कि सत्य है, विश्लेषण से असत्य भी सिद्ध हो जाती है। इसीसे उसको अनिर्वचनीय कहा गया है।

गार्डनर मर्फी महोदय ने अपनी एक पुस्तक 'व्यक्तित्व' में यह लिखा है कि पागल लोग अपनी रक्षा के लिये ऐसी मान्यता बना लेते हैं, जिनसे वे अपने आपको खतरे से ऊँचा समझ सकें। ऐसी मान्यताओं को वैज्ञानिक 'मानसिक रक्षा' तथा 'मानसिक तरकीब' कहते हैं। मर्फी महोदय का कहना है कि प्रत्येक साधारण मनुष्य भी अपने मन में इसी प्रकार 'रक्षा' तथा 'तरकीब' रूपी मान्यताएँ बनाता है। भेद केवल इतना है कि साधारण मनुष्य को ये मान्यताएँ सूक्ष्म और समाज-सम्मत रहती हैं। पागल को मान्यताएँ अवास्तविक तथा मूर्खता पर आधारित होती हैं। मर्फी महोदय के इस मनोवैज्ञानिक वर्णन से यह प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग के महावाक्य भी एक प्रकार के 'मानसिक रक्षा' या 'तरकीब' रूप हैं। 'मैं ब्रह्म हूँ' और 'यह सब माया है' इस तरकीब से साधक स्वयं को जीवन के हर्ष, शोक, निराशा, चिन्ता आदि से ऊँचा उठा लेता है। सत्य वस्तु तो अद्वैत तथा द्वैत दोनों से ऊपर 'नेति-नेति' के शब्दों से वेद ने प्रतिपादित की है; परन्तु अद्वैत वेदान्त ज्ञानयोग के साधक को एक बहुत अच्छी तरकीब प्रदान करता है।

(२) बौद्ध दर्शन के शास्त्रों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि बौद्ध दर्शन में जीव तथा प्रकृति को सत्य नहीं, अपितु केवल क्षण-क्षण बदलती हुई अवस्थाओं के समूह को सत्य माना गय। परन्तु जार्जग्रिम महोदय का कहना है कि भगवान् बुद्ध को उस महान विश्व-शक्ति से इन्कार नहीं था, जिसको वेदान्त ब्रह्म कहता है; फिर भी जब जीव स्वयं कोई वस्तु ही नहीं मानी गई (बौद्ध-दर्शन का 'अनत्ता' सिद्धान्त) तब उसकी ब्रह्म के साथ एकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये वेदान्त के

महावाक्यों के मनन, निदिध्यासन का बौद्ध-योग में कोई स्थान नहीं। उसके बदले वहाँ ध्यान (ज्ञान) से पहले सातवीं भूमिका 'सम्यक् स्मृति' आती है। इसमें जीवन का हर कार्य ध्यान देकर किया जाता है, परन्तु एक निर्लिप्त द्रष्टा की भावना से। यहाँ देखिए वेदान्त की मान्यता के बदले पातञ्जलि के अष्टाङ्ग-योग और सांख्य-दर्शन की मान्यता आ गई। 'मैं पुरुष हूँ और प्रकृति से भिन्न निर्लिप्त हूँ' तो यहाँ भी दार्शनिक मान्यता एक मनोवैज्ञानिक 'रक्षा' या 'तरकीब' प्रतीत होती है, जो साधक को जीवन के राग-द्वेष इत्यादि से ऊँचा उठने में बहुत सहायता करती है।

हार्टमन महोदय का कहना है कि शिशु हर कार्य को पूर्ण ध्यानपूर्वक करता है, परन्तु जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे कई मांस-पेशियों के कार्य तथा इन्द्रियों के अनुभव स्वतः सिद्ध होते रहते हैं। उनके प्रति ध्यान की आवश्यकता नहीं रहती। जैसे संकल्प उठता है कि उठूँ तो ध्यान देने के बिना ही उठ गए। उठने वाली समस्त मांस-पेशियों ने अपने-अपने कार्य कर दिए। गिन और ब्रेनमन महोदय ने यह मत प्रतिपादित किया है कि यदि हमको बाल्यावस्था की निर्द्वन्द्व व निर्दोष मानसिक वृत्ति फिर से लानी है तो हमको Deautomatige करना चाहिए अर्थात् हर कार्य को ध्यानपूर्वक करना चाहिए, यही तो बौद्ध योग की सम्यक् स्मृति है।

(३) बौद्ध समाधि को शून्य-समाधि कहते हैं। यह ज्ञानयोग की निर्विकल्प समाधि भी हो सकती है या अष्टाङ्ग योग की ऐसी किसी समाधि के समान भी हो सकती है, जिसमें शरीर बिलकुल शव की भाँति थोड़े काल के लिये बेहोश हो जाता है। सूई चुभाओ तो भी नहीं लगती। बौद्ध साधनाओं के शास्त्रों में अष्टाङ्ग योग के साधन भी कहीं-कहीं मिलते हैं, परन्तु इस शिथिलता का, चाहे केवल मानसिक हो या मानसिक और शारीरिक दोनों हो, मनोवैज्ञानिक परिणाम एक ही हो सकता है। जब यह भावना उत्पन्न होती है तब यह संसार एक चित्रपट की भाँति अपनी इच्छानुसार लपेटा जा सकता है।

(४) बौद्ध योगशास्त्रों ने चेतना के तीन लोक माने हैं—(१) कामलोक अर्थात् साधारण इच्छाओं का संसार, (२) रूपलोक—वक्र-चित्त, जिसमें ज्ञानयोग के समान सम्भवतः सविकल्प समाधि होगी, उसकी अन्तिम भूमिका एकाग्रता और 'उपेक्षा' है। यह साधक को तीसरे लोक के लिये तैयार करती है, जिसको (३) अरूप लोक—वक्र-चित्त-लोक कहते हैं। इसमें साधक देश (Space) को तथा चेतनता को सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त जानकर ध्यान करता है, जिससे उसको शून्यता प्राप्त हो जाती है। देखिए यहाँ भी ज्ञानयोग की ब्रह्माकारवृत्ति अन्तिम भूमिका में आ गई। मनो-

वैज्ञानिक इसको Cosmic consciousness कहते हैं। इससे देह-अध्यास सरलता से निवृत्त हो जाता है।

(५) सर्वाधिक महत्वशालिनी बात यह है कि बौद्धयोग का जो गन्तव्य स्थान या उच्च कोटि की स्थिति है, जिसको बोधिसत्त्व-अवस्था कहते हैं, उसके वर्णन जीवन-मुक्त अवस्था के वर्णन से मिलते-जुलते हैं।

(६) वेदान्त जीव को ब्रह्म के साथ एक मानता है। सांख्य उसको पुरुष और प्रकृति से निर्लिप्त घोषित करता है। बौद्ध दर्शन उसको केवल क्षण-क्षण परिवर्तित अवस्थाओं का समूह ही स्वीकार करता है। तीनों इस प्रकार उसको असत्य मानकर देह-अध्यास और देहाभिमान को निवृत्त करने में बहुत सहायता देते हैं।

• • •

वज्रयानी साधना और उसका परवर्ती योगसाधना पर प्रभाव

डॉ० द्विजराम यादव

गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त बौद्ध-धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन और परिवर्द्धन होने लगे। बौद्ध-धर्म के कठिन और सुनियोजित नियमों का पालन सहज नहीं था। आचार-विचार में सुविधानुसार परिवर्तन के साथ उसमें तन्त्र-मन्त्र का मिश्रण भी होता गया, क्योंकि जब ये साधक अपने मूल पथ से च्युत हो गये तब उनका सम्बन्ध सामान्य जन-जीवन से घनिष्ठ होता गया; फलस्वरूप इस साधना में लोक-जीवन के लौकिक आचार-विचार तथा रूढ़िगत मान्यताएँ भी सम्मिलित होती गईं। वैसे तो तन्त्र-मन्त्र का उदय मानव-सभ्यता के साथ ही हुआ, इसलिए तान्त्रिक प्रवृत्तियाँ उतनी ही पुरानी हैं, जितनी मानवीय सभ्यता है। महासाङ्घिक सम्प्रदाय से ही तान्त्रिक बौद्धधर्म का उन्मेष माना जाना चाहिए। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के अनुसार मन्त्र की परम्परा लगभग तीन सौ वर्षों तक गुप्त रही और धर्मकीर्ति के पश्चात् पालयुग में सर्वप्रथम पुनः उसने जोर मारा। विशेषरूप से पालयुग में ही इसका विकास और प्रचार हुआ। अनुमान लगाया जाता है कि गुह्यसमाज की तान्त्रिक परम्परा का उद्भव तीसरी शताब्दी में हुआ था, छठी शताब्दी तक उसका गुप्तरूप से प्रचार होता रहा, तत्पश्चात् गुह्यसमाज की प्रसिद्धि हुई। महासाङ्घिकों की ही आन्ध्रक और वैतुल्यक नामक शाखाओं में आभिप्रायिक मिथुन-चर्चा को अध्यात्मोपयोगी सिद्ध किया गया था। इसी प्रकार जप-साधना में मन्त्रों की प्रधानता होती गई तथा उनका सम्बन्ध किसी देवी या देवता से जोड़ा जाने लगा। तान्त्रिक देवी-देवताओं के सम्बन्ध में इतनी सरलता से कुछ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनकी प्राप्ति उसी समय होती थी, जब साधक पूर्णरूपेण उसमें ध्यान लगा देता था। इस प्रकार मन्त्रों के साथ ही देवताओं की कल्पना बौद्धधर्म में आई। मन्त्रों के साथ ही देवताओं के नाम भी रखे गये। तान्त्रिक बौद्ध साधना में मद्य, मांस और मुद्रा का प्रयोग होने लगा। मन्त्र, मद्य, मांस और मैथुन का प्रवेश बौद्ध-धर्म साधना या योगाभ्यास में सहायता पहुँचाने

के लिए ही हुआ था। इस प्रकार की प्रवृत्तियों के साथ वज्रयान का विकास हुआ। सातवीं से बारहवीं शताब्दी तक उत्तर-पूर्व भारत, नेपाल और तिब्बत में वज्रयान का उत्कर्षकाल रहा।

वज्रयान के स्वरूप का उल्लेख करते हुए योगरत्नमाला में कहा गया है—

दृढं सारमसौषीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणं।
अदाही अविनाशी च शून्यता वज्र उच्यते ॥ (चर्या० बागची, पृ० १०)

अर्थात् यह दृढ़, सार, अपरिवर्तनशील, अच्छेद्य, अभेद्य, अविनाशी तथा न जलने योग्य है, अर्थात् इसे कोई विनष्ट नहीं कर सकता। विद्वान् यह मानने के पक्ष में हैं कि वज्रयान का अभ्युदय ईसा की आठवीं शताब्दी से माना जाना चाहिए, जब बौद्ध सिद्धाचार्यों ने लोक भाषा में दोहे और चर्यागीति लिखे। महायान में तन्त्र-मन्त्र तथा गुह्य-साधनाओं का प्रवेश छठी शताब्दी में ही हो गया था। उस समय आन्ध्र देश के श्रीपर्वत का तान्त्रिक साधनाओं के लिए प्रमुख स्थान था। धीरे-धीरे ये सभी साधनाएँ सारे भारत में फैल गयीं, परन्तु कुछ दिनों तक इसका प्रचार और प्रसार गुप्तरूप से होता रहा। लगभग आठवीं शताब्दी के आस-पास चौरासी सिद्धों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से इसको प्रचलित किया। वज्रयानी साधना की परम्परा लगभग पाँच सौ वर्षों तक विकसित होती रही और यह समय आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक माना जाता है। वज्रयानी सिद्धों के समय वज्रयान का चरम विकास हुआ। इन सिद्धों ने अपने गीतों तथा दोहों के माध्यम से वज्रयान सम्बन्धी गुह्यसाधनाओं की अभिव्यक्ति की। वज्रयानी सिद्ध अपनी साधना तथा साधना-प्रणाली को गुह्य रखते थे। इसका प्रमाण उनकी रचनाओं में ही मिल जाता है। अपनी साधना-प्रणाली को ये लोग गुह्य इसलिए रखते थे कि 'मूढ़' इसे समझ न सकें। प्रायः यह देखा जाता है कि सिद्धों ने यह स्पष्ट रूप से कह दिया है—

"अइसन चर्या कुक्कुरी पास गाइड़।
कोड़ि माझें एकु हिअँहि समाइड़॥" (चर्या० २।४)

वज्रयानी सिद्धों की रचनाओं में ऐसे स्थल प्रायः मिलते हैं, जो सामान्यरूप से समाज की मान्यताओं का उल्लङ्घन करते हैं। वास्तव में ऐसा सिद्धों ने इसलिए किया कि उनकी साधनात्मक अनुभूतियाँ अत्यन्त गूढ़ तथा अबोध थीं, इसलिए सिद्धों ने उन्हें सरल और बोधगम्य बनाने के लिए लौकिक रूपकों का तथा लोक-प्रचलित रीति-रिवाजों को माध्यम बनाया। स्त्री-पुरुष के संयोग, युगनद्धावस्था आदि का वर्णन लौकिक अर्थ में न होकर प्रतीकात्मक रूप में हुआ था।

वज्रयानी सिद्धाचार्य और साधक अपनी साधना को गुप्त रखते थे। अपनी साधना के सम्बन्ध में ये किसी अन्य व्यक्ति से कुछ स्पष्ट नहीं कहते थे, दीक्षित व्यक्ति ही इनकी साधना को समझने या प्राप्त करने का अधिकारी हो सकता था। हिन्दू और बौद्ध दोनों धर्मों में तन्त्र अतिगुह्य अर्थात् 'मिस्टिक डाक्ट्रीन' के नाम से अभिहित किया जाता है। वे सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्ति के अतिरिक्त अन्य किसी से भी इसके रहस्य को बताना उचित नहीं समझते थे। 'कुलार्णवतन्त्र' में तो यहाँ तक लिखा है कि 'धन देना, स्त्री देना, अपनी जान तक दे देना, लेकिन इस गुह्य शास्त्र को किसी अपर व्यक्ति के सामने अभिव्यक्त मत करना।'

ऐसा कहा जाता है कि वज्रयान में बहुत कुछ शाक्यमुनिकृत है, परन्तु वास्तव में यदि देखा जाए तो वज्रयान या तन्त्रयान में व्यक्त अनुभवों में से बहुत ही कम शाक्यमुनिकृत कहे जा सकते हैं अथवा बौद्धमत के प्राचीन रूपों से साम्य रखते हैं। लेकिन इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि इस मत में व्यक्त गूढ़ाभिव्यक्तियाँ तथा गुह्य-तत्त्व प्राचीन भारतीय धर्म में छिपे हुए मिलते हैं। प्राचीन लोकविश्वासों का उदय नवीन अभिप्रायों के रूप में वज्रयान में हुआ। पुरानी परम्परा में आने वाले लोक-विश्वासों आदि की नये ढंग से नयी अभिव्यक्ति की गयी। इन प्राचीन अनुभूतियों को नये मूल्य प्रदान किये गये तथा नये प्रतीकों में उन्हें परिणत कर दिया गया। भारतीय साधना की गूढ़ता और रहस्यवादी भावधारा वज्रयान की जड़ में मिलती है। बौद्धमत तथा ब्राह्मणमत के बीच की कड़ी के रूप में वज्रयान विकसित हुआ। तन्त्र को भारतीय रहस्यवाद या ज्ञान की अनुभूति कहा जाता है। अन्य ईश्वरीय अनुभूतियों के मार्गों के समान तन्त्रयान में भी ज्ञान की प्रत्यक्षानुभूति को सर्वश्रेष्ठ स्थान दिया गया है। वास्तव में तन्त्र तर्कपूर्ण ज्ञान की भर्त्सना भी करता है। 'प्रज्ञा' उसकी साधना का केन्द्र है। शास्त्र-ज्ञान उसके सामने कुछ भी नहीं है। उसका कोई महत्त्व ही नहीं रह जाता। अनुभूति ज्ञान को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया है। इस सम्बन्ध में वज्रयानी सिद्धों में यह मत प्रचलित है—

पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणअ, देहहि मढ़ जइ णिच्चल ट्ठाअ।
अमणागमण ण एक्क वि खण्डिअ, तउ णिलज्ज भणइ हउं पण्डिअ॥

जब तक साधक साधना पथ पर अग्रसर नहीं होता तब तक उसे आत्मानुभूति नहीं होती। आत्मानुभूति के बिना वह इस भवसागर में भटकता रहता है। इसीलिये शास्त्रीय ज्ञान की अपेक्षा अनुभूति ज्ञान अर्थात् प्रज्ञा को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यही प्रज्ञा वज्रयान में एक प्रतीक रूप में परिणत हो गयी है। इसको बाद में चलकर देवी, दैवीमाता या दैवीशक्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया।

तान्त्रिकों का यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य अज्ञान के कारण ही अन्धकार में पड़ा रहता है। उसके भीतर पञ्चभूतों से निर्मित शरीर का तत्त्व स्वयं दैवी शक्ति या प्रकृति में छिपा हुआ है। यह आत्मतत्त्व स्वयं दैवी शक्ति है, विशुद्ध प्रकाश है। इसी को प्रकृति प्रभास्वर बोधिचित्त कहा गया है। मनुष्य को अज्ञानरूपी अन्धकार से बाहर निकालने के लिये गूढ़तर प्रज्ञानुभूति की प्राप्ति के लिये अभिषेक की आवश्यकता होती है, जिसके फलस्वरूप शिष्य प्रकाशित-पथ पर अग्रसर होता है।

रहस्यवादी भावधारा के समान तन्त्र में भी स्त्री-पुरुष के मिलन की शब्दावली प्रतीकरूप में वज्रयान में स्वीकार की गई। इसी को "युगनद्ध साधना" कहा गया। सिद्धों में इसका प्राय: उल्लेख मिलता है—

तिअड्डा चापि जोइणि दे अंकवाली।
कमल कुलिश घाण्ट करहुँ विआली॥ (चर्या, ४।१)

उपनिषदों में कहा गया है कि आत्मा ज्योतिर्मय है और साथ ही अज्ञानरूपी अन्धकार का भी उल्लेख किया गया है। साधना विषयक अभिव्यक्ति को वहाँ भी गोपनीय रखने का उल्लेख किया गया है। साधना और अनुभूति का महत्त्व भी प्राचीन काल से प्रतिपादित होता आया है। वह अपने ही चरम सत्य की अनुभूति स्वीकार करता है। प्रत्यात्मसंवेदनीय या वज्रयान या तन्त्रयान में इस प्रकार के तत्त्वों का समन्वय बहुत ही सुन्दर ढंग से किया गया है। कुछ विचारकों का मत है कि बौद्धतन्त्र पर कुछ प्रभाव भारतेतर साधनाओं का भी हो सकता है, क्योंकि यह कहा जाता है कि इन्द्रभूति ने गुह्यसमाज का उड्डीयान में प्रचार किया था।[1] उड्डीयान में विभिन्न देशों के काफिले आया जाया करते थे, अतः उनके साथ उनकी संस्कृति और धर्म भी अपना प्रभाव डालते रहे होंगे। इस प्रकार के प्रभाव का यथोचित मूल्यांकन करने लिये हमें तिब्बती त्रिपिटक का सहारा लेना पड़ेगा। तिब्बती भाषा में इस प्रकार की सामग्री अनूदित है, लेकिन उसमें कितना भारतीय और कितना विदेशी, यह खोज निकालना कठिन कार्य है।

वज्रयानी बौद्ध देव-देवियों की समता शैव देवी-देवताओं से की जा सकती है। इस साधना में ज्यों-ज्यों मन्त्र-धारा का प्रभाव बढ़ता गया, त्यों-त्यों देवी-देवताओं का महत्त्व बढ़ता गया। विशेषरूप से इन देवी-देवताओं की उपासना की मण्डल-कल्पना या रचना की गई, जो वास्तव में सृष्टि की कल्पना है। आदि सिद्ध सरहपाद की रचनाओं में जहाँ मण्डल रचना की चर्चा गई है, वहाँ सभी देवी-

१. साधनमाला, भाग–१, विनयतोष भट्टाचार्य, भूमिका, पृष्ठ–२८।

देवताओं को मण्डल में निर्दिष्ट स्थान पर बैठाया गया है। डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य का मत है कि वज्रयान देवसंघ में गौतम-बुद्ध का स्थान नहीं के बराबर है। यदि उनका वर्णन नहीं किया जाता तो वे अक्षोभ्य जैसे लगते और उनका नाम वज्रासन रहता।

मन्त्र, देवी-देवता, चक्र-मण्डल आदि का समावेश मन्त्रयान या तन्त्रयान में धीरे-धीरे हुआ। उनके अर्थ में भी धीरे-धीरे गूढ़ता आने लगी। कुछ साधारण वस्तुओं में भी इस गूढ़ता को खोजने या ढूढ़ने का प्रयत्न किया जाने लगा, फलस्वरूप गम्भीर वस्तुओं के साथ अन्य सामान्य चीजें मिलती गईं और महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की अवहेलना की जाने लगी। महायान में जो विभिन्न प्रवृत्तियाँ प्रवेश कर गयीं थीं, उनको नागार्जुन ने सङ्गत रूप दिया। नागार्जुन की शून्य की कल्पना ने सारे भेदों को मिटा दिया। इसके बाद वज्रयानी सिद्धाचार्यों ने इसे एक व्यवस्थित रूप देने का प्रयास किया। शून्यावस्था में देव या अन्य किसी का अस्तित्व नहीं रह जाता। देव-देवी हमारी कर्मप्रेरित कल्पनाओं की उपज मात्र हैं। इस प्रकार के इन विश्वासों और सिद्धान्तों ने मिलकर एक नये यान की उत्पत्ति की और उसी को नाम दिया गया—वज्रयान, मन्त्रयान, फलयान, गुह्यतन्त्रयान।

तन्त्रों का स्वरूप महायान से कुछ भिन्न है। वज्रयान के अनुयायियों ने तन्त्र को भी चार उपवर्गों में विभाजित किया है—(१) क्रियातन्त्र, (२) चर्यातन्त्र, (३) योगतन्त्र और (४) अनुत्तरतन्त्र। क्रियातन्त्र में बाह्याचार को प्रधानता रहती है तथा साधक पट पर अङ्कित देवता का ध्यान करता है। बाह्याचार और देवताओं का सन्तुलित रूप चर्यातन्त्र है। प्रज्ञा और उपाय को योगतन्त्र तथा अनुत्तर-तन्त्र उपाय और प्रज्ञा की "एकता" है।

वज्रयानी सिद्धों ने भी बहुत पहले ही न केवल कविता वरन् कला के समस्त रूप, चित्र, स्थापत्य, सङ्गीत, नृत्य आदि को धार्मिक साधनापद्धति के रूप में अनिवार्य स्वीकार कर लिया था। बौद्ध तन्त्रों और वज्रयानी साधनाओं में भी काव्यशास्त्र, भाषा, शब्द और उनके अर्थों की स्थिति बीज, नाद, और बिन्दु सम्बन्धी धारणाएँ लगभग वहीं थीं, जो हिन्दू तन्त्रों में मिलती हैं। महा अक्षर बीज के रूप में समस्त बौद्ध तान्त्रिक देवताओं को उत्पन्न करने वाला है। यह "महा अक्षर" काव्य की शैली है, जो "सन्ध्यावचन" कहलाता हैं। इसी को सिद्ध सरह ने इस प्रकार कहा है—

अक्खर वाड़ा असल जगु, नाहिं णिरक्खर कोइ।
ताव से अक्षर घोलिअइ, जाब णिरक्खर होइ॥

साधनापरक वज्रयानी भावधारा का सूत्रपात बहुत पहले ही हो चुका था। "गुह्यसमाजतन्त्र" में ही मद्य, मांस, मैथुन, मत्स्य की खुली छूट मिलती है। साधना के लिये हयमांस, हस्तिमांस, श्वानमांस भी विहित था[1]। साधकों के साथ एक-एक शक्ति की आवश्यकता गुह्यसमाजतन्त्र में स्वीकार कर ली गई। उसी का नाम शक्ति या प्रज्ञा रखा गया। उसके रूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि वह सर्वगुणसम्पन्न और सुन्दर हो। बिना इसके बुद्धत्व की प्राप्ति असम्भव है[2]। योगी के लिये सामाजिक नियमों का पालन आवश्यक नहीं है, वह उनका उल्लङ्घन कर सकता है, असत्य भाषण, जीवहिंसा, परद्रव्यहरण, नारी सेवनादि की उसे छूट दी गई[3]। किन्तु इसके साथ ही विनय के पालन पर भी जोर दिया गया है। इन दोनों का सन्तुलन वज्रयान की विशेषता है।

सिद्धों ने इसी भावधारा को अपनाया तथा अपनी साधनाओं में इसका समावेश कर लिया। आदिसिद्ध सरहपाद ने वज्रयान की परम्परा को व्यवस्थित रूप दिया तथा उसकी साधनाप्रणालियों और सिद्धान्तों को क्रमबद्ध रूप दिया। सहज और शून्य-साधना की परवर्ती परम्परा सिद्धों, नाथों और सन्तों में देखो जा सकती है, जिस पर हम आगे चलकर विचार करेंगे।

वज्रयान की साधना-विषयक प्रणालियों की चर्चा करते समय सिद्धाचार्यों की गीतियों और दोहाकोशों का सहारा लेना आवश्यक है। सिद्धों की रचनाओं में नाना प्रकार के पूजा-पाठ, क्रिया-कलाप, योग-ध्यान आदि के वर्णन मिलते हैं। ये वर्णन तान्त्रिक परम्पराओं पर आधारित हैं। इस प्रकार की साधनाप्रणाली को वज्रयानी सिद्धों की रचनाओं में सहज ही देखा जा सकता है। सिद्धों ने नित्यानन्द की प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम यही कहा है कि चित्त को दृढ़ और स्थिर करो, तत्पश्चात् उसकी आशा करो। यह कार्य उसी समय पूरा होगा, जब उसका उपाय गुरु से पूछा जाए।

सांसारिक वासनाओं तथा इच्छाओं की तृप्ति की आशा करने के कारण ही जीव दुःखी रहता है। वासना और इन्द्रिय-क्षुधा से मुक्त हुए बिना महासुख की प्राप्ति असम्भव है। सिद्ध कुक्कुरिपा ने तो कुम्भकयोग द्वारा सहजानन्द की प्राप्ति का वर्णन करते हुए कहा है—

दुलि दुहि पिटा धरण न जाअ।
रुखेर तेन्तलि कुम्भीरे खाअ॥

१. गुह्यसमाजतन्त्र—सं० विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० २६। २. वही, पृ० १६१।
३. गुह्यसमाज तन्त्र—सं० विनयतोष भट्टाचार्य, पृ० १२०।

अनभिज्ञ लोग चित्त को निर्वाण-मार्ग पर स्थिर कर वज्रपाणि रूप को निर्वाण मार्ग पर स्थिर नहीं कर सकते, क्योंकि चित्त की अस्थिरता उन्हें वहाँ पर स्थिर नहीं रहने देती। फलस्वरूप उन्हें सहजानन्द का उपभोग करने में सफलता नहीं मिलती। परन्तु यदि सांसारिक मायामोह का त्याग कर सद्-गुरु के उपदेशों के अनुसार कुम्भक-समाधि द्वारा देह और चित्त को स्वभावहीन कर लिया जाए और देह-रूपी घर के पास उष्णीषकमल में महासुख के निवास-स्थान को जान लिया जाए तो सांसारिक बन्धन से मुक्ति हो सकती है। गुरुनिर्दिष्ट विधि के अनुसार अर्ध-रात्रि में अर्थात् प्रज्ञा-ज्ञानाभिषेक दान के समय पूरक-रेचक आदि वर्जित कुम्भक द्वारा साधक स्थिर भाव से वायु धारण कर "सहजानन्द" का उपभोग कर सकता है। इसी प्रकार की गूढ़ाभिव्यक्तियों के वर्णन चौरासी सिद्धाचार्यों की रचनाओं में मिलते हैं।

वज्रयानी साधना में कुछ विशेष बातों पर जोर दिया जाता है, जो इस प्रकार हैं—शून्य, सहज, महासुख, परमपद, मुक्ति, चन्द्र-सूर्य, गङ्गा-यमुना और सरस्वती, करुणा-शून्यता, प्रज्ञोपाय, निर्वाण, पञ्चस्कन्ध, मुद्रा, खसम, समाधि, सुरति, निरति, अनाहत नाद, मण्डल आदि। इन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या दीर्घ हो जाएगी, अतः इस सम्बन्ध में इतना हो कहना चाहूँगा कि ये शब्द वज्रयानियों की साधनात्मक प्रणाली और क्रियाओं से सम्बन्धित हैं, जिनको व्याख्या इस लेख में सम्भव नहीं है। नागार्जुन ने "पञ्चक्रम" में चार प्रकार के शून्य का उल्लेख किया है—शून्य, अतिशून्य, महाशून्य तथा सर्वशून्य—

शून्यञ्चातिशून्यं च महाशून्यं तृतीयकम्।
चतुर्थकं सर्वशून्यञ्च फलहेतुप्रभेदतः॥

उपर्युक्त चारो शून्यों को कमल के या मृणाल के चार दलों से संयुक्त किया जाता है[1]। यही सर्वशून्य का आधार है, उसी का नाम उष्णीषकमल है, यहीं जालात्मक जालन्धर गिरि नामक महामेरुगिरि का शिखर है, यहीं महासुख का आवास है। इसी गिरिशिखर पर पहुँचने पर योगी स्वयं वज्रधर कहा जाता है, यहीं वह सहजानन्द रूप "महासुख" का अनुभव करता है। इस शून्य की प्राप्ति के लिये घोर साधना आवश्यक है, जिसमें विभिन्न अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। प्रत्येक स्थिति में साधक को अलग-अलग अनुभूति होती है। शून्य को पद्म भी माना गया है। उसमें चौंसठ दल होते हैं। उसी कमल का वर्णन सिद्धों ने इस प्रकार किया है—

१. नाथ सम्प्रदाय—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ९१-९२।
२. बौद्ध गान औ दोहा, पृ० १२४।

एक सो पदुमा चौषठि पाखुड़ी।
तहिं चढ़ि नाचअ डोम्बि बापुड़ी॥

गोरखनाथ ने तो शून्य को बिना माँ-बाप का कहा है—

सुंनि ज माई सुंनि ज बाप। सुंनि निरञ्जन आपै आप।
सूंनि के परचै भया सधीर। निहचल योगी गहर गंभीर॥

तान्त्रिक और यौगिक साधनाओं में चन्द्र-सूर्य का उल्लेख बार-बार किया जाता है। इन दोनों के संयोग को ही "योग" की संज्ञा दी जाती है। तान्त्रिक और यौगिक साधनाओं में चन्द्र-सूर्य का दो नाड़ियों से अभिप्राय है। गोरक्षरचित "सिद्ध सिद्धान्त पद्धति" में मिलता है कि भौतिक शरीर पञ्च तत्त्वों से निर्मित या समन्वित है। ये पाँच तत्त्व इस प्रकार हैं—कर्म, काम, चन्द्र, सूर्य और अग्नि (**कर्मकामाश्चन्द्रः सूर्योऽग्निरिति प्रत्यक्षकारणं पञ्चकम्**)। स्थूल अर्थ में चन्द्र और सूर्य दो नक्षत्र या ग्रह-विशेष हैं, लेकिन तान्त्रिक साधना में चन्द्र-सूर्य का अर्थ क्रमशः माता के रज और पिता के शुक्र से है और उन दोनों के संयोग से ही इस शरीर की रचना हुई है—

किं च सूर्याग्निरूपं पितुः शुक्रं सोमरूपञ्च मातृरजः। उभयो संयोगे पिण्डोत्पत्तिर्भवति॥

चन्द्र सूर्य की गुह्यसाधना बौद्ध सिद्धाचार्यों में भी मिलती है, जिसकी अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

चन्द सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ, सो आणुत्तर सत्थु पअट्ठइ।
एव्वंहि सअल जाण णिमूढ़ो, सहज सहावेण जाणिअ मूढ़ो॥

तान्त्रिक साधना में प्रज्ञा-उपाय की युगनद्ध साधना पर पर्याप्त बल दिया गया है। वज्रयानी साधना में प्रज्ञा-उपाय का विशेष महत्त्व है। ऐसे प्रज्ञा का अर्थ बुद्धिवादिता है। यह आध्यात्मिक विकास की शक्ति है। श्रद्धा द्वारा जो साधना आरम्भ होती है, वह अन्त में प्रज्ञा के रूप में परिणत हो जाती है। बौद्धधर्म की सबसे बड़ी विशेषता श्रद्धा और प्रज्ञा के समन्वय की है। ठीक इसी को वज्रायान ने भी अपनाया—

सुण्ण करुण जइ जोउण सक्कइ।
णउ भवे णिव्वाणं थक्कइ॥

बौद्धधर्म में "युगनद्ध" की अनुभूति या कल्पना बहुत अधिक की गई है। इसका प्रभाव तत्कालीन भावधारा पर इतना अधिक पड़ा कि उसे सर्वत्र देखा जा सकता है। युगनद्ध की मूर्तियाँ आज भी हमें मिलती हैं। वज्रयान में प्रज्ञा और उपाय के युगनद्ध रूप को ही युगनद्ध कहा जाता है। प्रज्ञा धर्मधातु और उपाय वज्रधातु के मिश्रण से मण्डलचक्र का निर्माण होता है। इस प्रज्ञोपाय की शुरुआत

महायानी बौद्धों ने की थी और उसी की परिणति तथा विकास वज्रयानी सिद्धों में हुआ। महायानियों ने सम्भोगकाय, निर्माणकाय तथा धर्मकाय के साथ ही प्रज्ञोपाय की भी प्रतिष्ठा नए ढङ्ग से की है और उसे स्वभावकाय, वज्रकाय, सहजकाय या महासुख कहा है। प्रज्ञोपाय तान्त्रिक साधना के दो पक्ष हैं परन्तु दोनों एक ही परमतत्त्व में निहित हैं। प्रज्ञा और उपाय का अभिन्न रूप ही बोधिचित्त है। प्रज्ञा और उपाय के संयोग से सिद्ध अपनी सारी अशुद्ध प्रवृत्तियों को त्यागकर "अद्वयता" में लीन हो जाता है या उससे पूर्ण परिचित हो जाता है। इस प्रकार जब जीव "अद्वय" में द्वयता का तिरोधान करता है, तब प्रज्ञोपाय का मिलन होता है, अतः वही अवस्था "युगनद्ध" कहलाती है। इसीलिये गुन्थर महोदय ने कहा है कि युगनद्ध मानव के यथार्थ जीवन में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का मानसिक समाधान देता है।

इस प्रकार वज्रयानी साधना के स्वरूप पर हमने सामान्य रूप से विवेचन किया। अब हम इस साधना का परवर्ती साधना के साथ कुछ संयोगों का उल्लेख करना चाहेंगे। वज्रयान जिस समय भारत के उत्तरी भाग में विशेषरूप से पल्लवित और पुष्पित हुआ, वह उस भाग की परवर्ती साधना पर भी अपनी अमिट छाप छोड़ गया। सिद्ध, नाथ और सन्त ही नहीं, बल्कि अन्य साधक भी इस भावधारा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। सिद्धों, नाथों और सन्तों की भावधारा, साधन-प्रणाली तथा दार्शनिक सिद्धान्तों का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इनकी साधनात्मक क्रियाएँ, योगप्रणाली, नाड़ी-साधना, साधनापरक अनुभूतियाँ प्रायः मिलती-जुलती हैं। अन्तर इतना ही है कि यह साधना-प्रणाली सन्त कबीर तक पहुँच कर अपने चरम उत्कर्ष पर परिष्कृत रूप में पहुँच गई। इसके अतिरिक्त बंगाल के बाउल भी इस गुह्यसाधना से कुछ सीमा तक प्रभावित हैं। वे भी अपनी साधना के गूढ़ रहस्य को पराये व्यक्ति को नहीं बताते।

वज्रयानी साधना का नाथों, सन्तों तथा अन्य योग-साधकों पर कितना प्रभाव पड़ा, यह विवेचन-सापेक्ष है, तथापि साधकों की शब्दावली, वर्णनशैली में बहुत समानता पाई जाती है, इसे स्पष्ट ही देखा जा सकता है। नाड़ी-साधना और चक्रसाधना की समानता तो है ही, उसकी क्रिया में भी समानता पाई जाती है। जहाँ तक विचारों और भावों का सम्बन्ध है, वहाँ कुछ बातों के अतिरिक्त समानता ही अधिक है। प्रत्येक साधक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, इसलिये उसकी अपनी अनुभूतियाँ भी अलग होती हैं, अतः वह कभी-कभी प्राचीन मान्यताओं से अलग होता हुआ दीखता है। अतः परवर्ती साधना पर कहीं स्पष्ट और कहीं अस्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है।

• • •

बौद्ध एवं अन्य भारतीय योग साधना

Meditation in Buddhism and Other Indian Systems

अंगरेजी निबन्ध

ENGLISH ARTICLES

इदं पुरे चित्तमचारि चारिकं,
येनिच्छकं यत्थकामं यथासुखं ।
तदज्जहं निग्गहेस्सामि योनिसो,
हत्थिप्पभिन्नं विय अङ्कुसग्गहो ॥
(धम्म. २३ : ७)

झाय भिक्खु मा पमादो,
मा ते कामगुणेसु रमेस्सु चित्तं ।
मा लोहगुळं गिली पमत्तो;
मा कन्दि दुक्खमिदं ति डय्हमानो ॥
(धम्म. २५ : १२)

THE ESSENCE OF THE YOGA-SĀDHANĀ AS GIVEN IN THE TA-CHIH-TU-LUN

BY Dr. BISWADEB MUKHERJEE

I

The main aim of the Buddhist *yoga-sādhanā* as propounded in the Ta-chih-tu-lun of Nāgārjuna is to attain the Buddhahood, the perfection in personality, through the realisation of the *advaya-dharma*, the undivided integral reality. To realise the undivided reality is to perceive the falsity in the experience that uphold the dichotomy of the determinate and the indeterminate, the conditioned and the unconditioned as absolute. Such a falsity conceived absoluteness will lead one only to experience the ultimacy of the non-substantiality of the determinate. Or cannot go beyond this uniqueness of the mundane and thereby loses sight of the "true nature" that underlies the unique nature of both the determinate and the indeterminate. The deeper truth that the conditionedness of the conditioned is also conditioned, *(śūnyatā-śūnyatā)* that the determinate is but the manifestation of the indeterminate, eludes his grasp and he falsely ascribes absoluteness to the non-substantiality characterising the determinate. If one, on the other hand, experiences only the reality of the indeterminate in its utter unrelatedness to the determinate, and creates a gulf between the two never to be bridged, then again he is commiting the error of seizing the relatively distinct as absolutely separate.

The reality which is undivided, integral brooks no absolute division. It stands for the harmony between the determinate and indeterminate, between the caused and the uncaused, in short between the forces that appear to be irreconcievably opposed to each other from the standpoint of *vyavahāra*, the mundane truth. It is a negation of the sense of ultimacy falsely attributed to the different entities and categories, but not of the entities and categories themselves, which are nothing but the determinate expressions of the unconditioned.

It is the exclusive priviledge of the Buddhas to have a fully developed, all-inclusive understanding of this integral reality. This is the *sarvākāraj-ñatā* of the Buddha, which has been explained by Nāgārjuna as follows :

ākāra is the method of the way to comprehension; by means of the knowledge of all forms one enters into, comprehends, all things in all the ways. This is the unimpeded, undistorted functioning of the sense of the real on the plane of intellect of the wise.

A clear comprehension of the concept of *sarvākārajñatā* reveals another characteristic of the Buddha-consciousness, viz, the skillfulness of non-clinging *(anupalambha)*. In right understanding there is perceived not only the determinate as the determinate and the indeterminate as the indeterminate, but also the indeterminate reality as the ground of determinate entities; it is only the ultimate nature of the latter, and not another entity apart from them. With such a realisation the tendency to cling to the indeterminate as absolutely indeterminate or to cling to the determinate as absolutely determinate comes to an end and the skillfulness of non-clinging henceforth characterises very judgement.

This enables the Buddha to reconcile the seemingly opposite forces and to live a life of harmony. To be satuarated with the sense of the indeterminate reality and yet not to reject the determinate, to live in this world and yet be free from the defilements, to retain the individuality and yet be free from the false sense of self, to work for the world and yet be free from passion-this is the skillfulness of the Buddha,

The sense of the integral reality and the resultant skillfulness of non-clinging has a profound significance for the question of individuality. Due to the realisation of the *advaya-dharma* the Buddha sees clearly that the individuality of a being cannot be absolutely non-substantial *(śūnya)* and conditioned but must have its basis in the unconditioned reality. The sense of self or the sense of 'I' according to Nāgārjuna is the reflection of the unconditioned reality in the conitioned self conscious intellect; it is the sense of the real in man. "The moon is really in the sky of *tathatā, dharmadhātu, bhūta-koṭi*, while (its reflection, the sense of) 'I' and 'mine' appears in the water of the minds of men and gods."

The sense of "I" in its true form is the sense of the real immanent in man; the true import of "I" is self-being, unconditionedness. But the mind, the self-conscious intellect under the influence of ignorance, comes to apply wrongly this sense of unconditionedness to itself in its mundane, i. e. conditioned nature, as well as to that with which it identifies itself and through that all things it lights upon. Consequently every particular entity comes to be endowed with underivedness and substantiality of which it is actually devoid. The false sense of 'I' and 'mine' imply by contrast

'not-I' and 'not-mine'. Thus there arises the distinction of self and others and consequently the greed and anger, the bonds of passion born out of ignorance. These are the root of all sufferings. Thus to destroy the sufferings, it is necessary to annihilate the ignorance and the resultant false sense of 'I' and 'mine'. But the sense of the real 'I' is not destroyed thereby. The destruction of ignorance is not synonymous with the destruction of individuality. Rather it is with the destruction of *avidyā* that the real 'I' shines forth as the individualised manifestation of the integral reality. The Buddha does not stand for anything impersonal, but is the very perfection impersonality unsoiled by ignorance and passion.

The Buddha due to *sarvākārajñatā* knows the true nature of all things to be the same ultimate reality. It is on this knowledge that the true, universal compassion (*karuṇā)* of the Buddha is based. Due to his sense of sameness (*samatā*) he feels strongly and naturally his kinship, his bound-up-ness with the rest of the universe. *Sarvākārajñatā* ripens into the deep sympathy which he had for other from the very beginning of his way-faring, into universal compassion, and he even refuses to enter *nirvāṇa* in order to help others. Wisdom and compassion constitute the two-fold way in which the sense of undivided reality functions in the perfect one; while the one constitutes insight, knowledge, understanding, the other constitutes feeling, emotion, action.

II

Thus we find that *prajñā*, *anupalambha* and *karuṇā* constitute the very essence of the Buddhahood, the ultimate goal of the *yoga-sādhanā*. But these are also the very factors that characterise the entire journey towards this goal. They characterise the *yoga-sādhanā* not only as means through which the spiritual endeavour is successfully carried on to fruition but also in their capacity of being the very end for the sake of which the spiritual life is lived.

So naturally the crux of the wayfaring, the *yoga-sādhanā* also lies in the cultivation of *prajñā*, *karuṇā* and *anupalambha*. From the very begining it is *prajñā*. however undeveloped it may be, that sets in motion and guides the wayfaring. Whatever spiritual exercise may be done, whatever other *pāramitās* may be strived for, it is done under guidance of *prajñā* with the help of *anupalambha* and *karuṇā*, This is an intcgral process. The exercise of one is accompanied by the exercise of others, the development of one leads to the development of others, and as a result all are simultaneously developed into the staff of which the Buddhahood

is made. It is a process of transformatiom through which the imperfect personlity is gradually perfected into the Buddha nature. This will be clear as we discuss the wayfaring with special reference to *prajñā-pāramitā*, the foremost of all the *pāramitās*.

The wayfaring starts with the vow of the *Bodhisattva* to attain the Buddhahood for the salvation of others. If we analyse this very act we will find that all the silent features of the Buddhahood were at work behind this momentous moment. He must have some sense of *advaya-dharma*, however dim it may be, in order to aspire for the Buddhahood. But he has no clinging for the highest ideal, he wants to realise it for sake of others, and consequently his noble aspiration is saturated through and through with some feeling of compassion and some sense of non-clinging. Again it is as an individual that the *Bodhisattva* would like to exercise his feeling of compassion, and so the retention of individuality in the final stage is shadowed forth even in this first act of him.

The same characteristics continue to act as a bicon light leading the wayfarer to still greater heights of realisation. Whatever he does during his journey, whether it is act of charity (*dānā*) or an act of morality (*śīla*) or anything else, he always does it non-clingingly in the light of the *advaya dharma*, and out of compassion. When the sixth stage is reached the *Bodhisattva* reaches a crucial point in wayfaring. In this stage he has already realised the non-substantiality of all things and consequently he faces the temptation to efface his personality and to enter *nirvāṇa* straight-way. Here he is comparable to an *arhat* who after destruction of *avidyā* patiently abides his time to enter *nirvāṇa*. But the *Bodhisattva* can not be fully equated with an *Arhat*, as the realisation of the non-substantiality forms only a part of his total vision which is undivided reality. Indeed this vision is not quite clear as this stage of development yet in him the sense of the undivided reality as well as the skillfullness of non-clinging is developed enough to inducing to reject the absoluteness falsely attached to non-substantiality; he realises that there is a reality even underlying this non-substantiality and this realisation strikes at the very root of the tendency to give up the individuality. Moreover he feels the positive urge to retain individuality out of compassion which is also nurished by *prajñā*. And the individuality he retains in non-clinging manner. He does not give up his individuality because of his clinging to the real self he retains it out of compassion so that he can be of help to others who are still toiling under ignorance.

We know that at the very outset of his journey the *Bodhisattva* out of deep sympathy resolved not to enter *nirvāṇa* without first helping others to attain the truth. It is this sympathy that has now developed into great compassion under the influence of ripened *prajñā*. *Karuṇā* has been made dependent on *prajñā* as it is held to be springing out of the latter. But *karuṇā* is at the same time a complement to *prajñā*. For this supreme act of compassion by which the *Bodhisattva* retained his individuality is also the final test of his unshakable faith in *advaya-dharma*. He feels kinship and bound-up-ness with others and is ready to undergo any ardous task unclingingly to help them. Thus we find all these three factors namely, *prajñā*, *anupalambha* and *karuṇā* give a decisive turn to the wayfaring and *Bodhisattva* retains the individuality never to give it up afterwards.

It is needless to add that the individuality that is retained, is free from passion and ignorance and means a step forward towards a goal, the Buddhahood, the perfection in personality. As a result he now attains that mature stage in the cultivation of *prajñā* which is called *anutpattika-dharma-kṣānti*. The *anutpattika-dharma-kṣānti* refers to the *kṣānti* in relation to the ultimate reality, i. e. the capacity to sustain the comprehension of the ultimate truth of things, the *dharma* devoid of birth. This is the *nyama* (*ni*+*ama*, not unripe), the true status of the *Bodhisattva*. He is now permanently free from falling back into the way of *arhats* and *pratyekabuddhas*, and gains the title of *avaivarta*, the irreversible.

Here he has become free from all immaturities and has attained maturity in *prajñā*, *karuṇā*, and *anupalambha*. This is the stage where the *Bodhisattva* is completely free from *kleśas*, though not from *vāsanās*, the residul impression of *kleśas*.

From now on the further cultivation of the way is almost an act of spontaneity on the part of the *Bodhisattva*. He flows on to his final goal, the Buddhahood, unerringly. But here again he resumes the final phase of journey unclingingly. He attains the Buddhahood only when he finds that his unbounded compassion can not be effectively translated into action universally, unless he attains the Buddhahood. In the tenth stage with the destruction of even the *vāsanās*, he attains the Buddhahood, the ultimate perfection in individuality *prajñā*, *karuṇā* and *anupalambha*.

●

WHERE PĀTAÑJALA YOGA ENDS BOUDDHA YOGA BEGINS

by SHRI P. V. DESHPANDE

I. Introductory

By Pātañjala *Yoga* I mean the Vedic *Yoga* as summerised by PATAÑJALI in his superb *Yoga Sūtras*. The tradition of What is conveyed by the word *Yoga* goes back to the *Vedas* and as such it is indisputably pre-Buddhist.

The most noteworthy thing about *Yoga* is that it lies at the bottom of all the great religions of the world. Religion without a religious mind is like a body without life. The religious mind is not the ordinary mind caught up in the whirl of the phenomenal world. It is a mind born of meditation *('Dhyānaja Chitta')*. And meditation, or the meditational approach to the understanding of one self and one's relationship with the world, is the very essence of Yoga. Meditation is not thinking or indulging in any form of ideation. Thinking and ideation must cease for meditation to be. It is only when one is in a state of being in which the ideational movement of the mind has come to a standstill, and one remains in a state of choiceless awareness, that one is in a position to see 'what is' within and without, in its existential authenticity. *Yoga* is a discipline *(Anuśāsanam)* which helps man to place himself in such a state of being, which is the Yogic state of being. It is a state of being in which alone the creative movement of truth, God or Reality can be perceived. A way of life that moves in harmony with such pure perception *(Drushimatra)* is the Yogic way of life. It is the foundation of all religious or mystic experiencing.

Yoga is not, therefore, a system of thought or an ideology. It is the negation of all thought and all ideologies. It is a negation *(Sūnyatā)* which alone brings man face to face with 'what is' in its existential authenticity. It is, therefore, not a matter of 'knowing' through thinking or ideation, but a matter of 'seeing' and 'being'. It is a matter of discovering one's own real identity in its dynamic relationship with existence as a whole.

To understand existence as a whole is to understand the nature of three things : (i) the nature of the seer (Dṛṣṭā); (ii) the nature of

the seen (Dṛśya), or the entire objective world; and (iii) the nature of the interaction that constantly goes on between the two and which involves the two in an existential relationship (which has nothing whatever to do with any ideationally or intellectually conceived, or emotionally imagined relationship.

All these three terms are precisely defined in the *Yoga Sūtras*.

II. The Nature and Structure of Pātañjala Yoga

The peoblem of man is basically a problem of the mind through which he functions. The five outgoing senses bring within the being of man five kinds of data to which the mind of man reacts in the form of knowledge, desire and action *(Jñāna, Icchā Krti)*. If the mind were to remain ever free, fresh and pure, its response to the challenges of life and the objective world would always be fresh, pure and adequate. But we find that the human mind gets conditioned by past experiences and environmental pressures to such an extent that its responses get coloured and distorted by the past, the *saṁskāras*, to the total neglect of what actually is in the living present. This process of conditioning brings into being various patterns of culture into which humanity gets caught up and divided. The attachment to and identification with a historically determined cultural and habitual pattern of living is so strong that individual human beings tend to think, feel and act, not freely and intelligently, but in accordance with the dictaters of their cultural conditioning. Their thoughts, feelings and actions are not, therefore, existential but ideational. And whatever the variations in these ideational responses of men and societies, they bring about no more than superficial modifications in the established cultural patterns. They never bring about total freedom from the built-in tendencies, the built-in likes and dislikes, the built-in preferences and prejudices, beliefs and commitments. Because of such psychological conditioning, men tend to see things not directly but only through the memories and impregnations of past experiences determined by the patterns of conditioning. Men as though wear contact lenses of the past on their eyes to look at the present. And so what they see is not 'what is' but 'what is' as coloured, clouded or distorted by the nature of the contact lenses of which most men remain unaware.

Men, therefore, are born in unawareness (*Avidyā*), and they live and die without ever becoming aware of this unawareness. The history of man and human society is predominantly a history of the doings of men within the prison-house of unawareness (*Avidyā*). It is a history of temporal

conditionings which have nothing whatever to do with the existential reality. It is a history of slaves in misery, always aspiring to be free and happy, but never getting anywhere near their heart's desire.

The question with which *Yoga* concerns itself is the question of the human condition, the question of the temporality of the human being and of the bondages of temporal conditioning which hold the human mind captive. It is a question which stimulates inquiry into the possibility of freedom from all the bondages born of temporal conditionings. It makes man aware of the fact that without such freedom all human endeavour reduces itself to an exercise in utter futility, rendering man and human destiny a mere victim of entropy-a process that inevitably culminates in the degradation of energy and dead uniformity,

It is exhilerating to find that this basic theme of *Yoga* is now receiving some serious study at the hands of the Western philosophical enquiry. For example, this is what Mircea Eliade says in his great work on Yoga, entitled :" Yoga-Immortality and Freedom" :--

"It is the human condition, and above all the temporality of the human being, that constitutes the object of the most recent Western philosophy. It is this temporality that makes all other 'conditionings' possible and that, in the last analysis, makes man a 'conditioned being' an indefinite and evanascent series of 'conditions'. Now, this problem of the 'conditioning' of man (and its corollary, rather neglected in the West, his 'deconditioning') constitutes the central problem of Indian thought. From the *Upanisads* onward, India has been seriously preoccupied with but one great problem-the structure of the human condition. (Hence it has been said, and not without reason, that all Indian philosophy has been and still is, 'existentialist).

"With a rigour unknown elsewhere, India has applied itself to analysing the various conditionings of the human being. They had found that man's psychological, social, cultural, and religious conditionings were comparatively easy to delimit and master; the great obstacle to the ascetic and contemplative life arose from the activity of the unconscious, from the *saṁskāras* and *vāsanās*-"imregnations", "residues", "latencies"-that constitute what depth psychology calls the contents and the structure of the unconscious. It is not, however, this pragmatic anticipation of certain modern psychological techniques that is valuable; it is its employment for the 'deconditioning' of man. Because, for India, knowledge of the systems of 'conditioning' could not be an end in itself, it was not knowing them

that mattered, but mastering them; if the contents of the unconscious were worked upon, it was in order to "burn them"...."

With a view to achieving this great objective the Pātañjala Yoga dives deep into the inner being of man and discovers :

(i) that it is *vṛtti-sārūpya* (identification with the choicemaking ideational movement of the mind) which inevitably results in the varied forms of temporal conditionings;

(ii) that *vṛtti-sārūpys*, and the conditioning it brings about, lands man into the field of *Avidyā* (unawareness of the existential situation);

(iii) that *Avidyā* is the basic inner tension which topsyturvies. Man's comprehension of himself and the world around him; it makes man assume what in fact is ephemeral as permanent; what in fact is impure as pure; and what in fact is sorrowful as pleasurable.

(iv) that *Avidyā* is the field in which all other inner tensions *(Kleśa)* take root and prosper, keeping man a slave of temporal conditionings. *Asmitā*, *Rāga*, Dveṣa and *Abhiniveśa* are the other main tensions that are born of *Avidyā*.

(v) that the way to liquidate all inner tensions is the way of *Prati-prasava* (counter creativity-a process of perceiving and moving backward from *Abhiniveśa*, step by step, to *Avidyā*, and thus by liquidating *Avidyā* through awareness, stand face to face with the existential situation and look and inquire into it with choiceless awareness.

(vi) that freedom from *Avidyā* and other tensions of itself flowers into *Viveka-Khyāti* (existential intelligence capable of seeing 'what is' with critical discrimination);

(vii) that *Viveka-Khyāti* generates knowledge or understanding which is self-luminous, not derived from any external source or authority (*Tarakam*); which is non-temporal (*Akrama*); which is capable of grasping and understanding all objects in all manner of ways, (*Sarvaviṣagam, Sarvathāvaśayam*); and which results in total liberation of the mind from all bondages (*Kaivalya*).

The way of *Prati-prasava* and *Vivekaja-Jñāna* brings into being a way of life which may be called the Yogic way of life. It is described as the *Aṣṭāṅga Yoga*. It flowers into a wondrous state of being, called *Samādhi*, in which the sense of self-hood is as though negated (*Svarūpa śūnyaniva*) and resplendet objectivity unviels the mystery that is Life and Creation.

The Pātañjala Yoga ends with the following *Sūtra* which may be rendered in English as follows :—

"The threefold energies (*Guṇas*) of Nature *(Prakṛti)*, the 'raisorsd 'etre' for whose existence is to benefit the *Puruṣa* (man as the seer) by offering him experiences of pain and pleasure, become functionless (*Puruṣārtha-śūnya)* when they fulfil their objective and so become meaningless to the *Puruaṣa* On their thus becoming functionless and meaningless, they get charged with a new energy (the pure seeing-awareness of the seer) and begin to move into an altogether new dimension of counter-creativity *(Pratiprasava)*. This counter-creativity is named as *Kaivalya, Svarūpa-pratiṣṭhā* or *citi Śakti*."

III The Bouddha Yoga :

The Bouddha Yoga begins where Pātañjala Yoga ends. The latter ends in *Svarūpa-Śūnyatā* and *Arthamartra Nirbhasata*, which is Samādhi. The Boudha Yoga dives deeper still into the inner being of man and discovers evernew and ever expanding horizons of Reality.

There is naturally a lot of common ground in both these disciplines, so far as the emphasis on the liquidation of inner tensions and the negation of 'I-am-ness' are concerned as conditions precedent to the perception of truth or realtty. But whereas the analysis of inner tensions and their liquidation through the process of *Prati-prasava* and dealt with in the *Pātañjala-Yoga*, this latter does not throw any light on *Śūnyatā*. And here lies not only the new and specific contribution of *Bouddha-Yoga* but also the further development of *Yoga* as an existential vision of the ever expanding and ever renewing Reality.

Even in the matter of liquidating inner tensions, which inevitably land man in an unending cycles of sorrow, the *Bouddha-Yoga* has something more to say. And it says this in a manner which is so simple and direct that any man disillusioned with the conditioned worldly ways of living can easily see how to cross the ever turbulent river of sorrow. It holds up a clear picture of human life based on the actual constitution of the human organism.

It tells us that existentially, human organism is a fourfold reality—an integration of four aspects which must be kept constantly in mind. These are :

1. The material or physical body (*Kāya)*;

2. The language as the existential correlate of man, which distinguishes him from the rest of the animate world (*Vāk)*;

3. The Mind (along with its ideational activity) through which man functions (*Citta)*.

4. Knowledge (Jñāna) or understanding that comes through a bare awareness of all the movements of the first three constituents, from moment to moment. All other kinds of knowledge are not Jñāna or Prajñā but ideational illusions.

Having thus stated the factual position, the *Bouddha-Yoga* tells us that the only way in which it is possible for man to be free from sorrow for all time is the three fold discipline *(Triśikṣā)*, namely,

(i) The discipline of goodness *(Adhi-śila)*.

(ii) The discipline of mind (*Adhi-Citta*).

(iii) The discipline of Prajñā *(Adhi-Prajñā)*.

Every individual human being knows, as a result of cultural conditioning based on religion, what is goodness or virtue *(Puṇya)* and what is evil or sin *(pāpa)*. He must therefore make it a point of firm discipline that in his everyday life he will not compromise good with evil, whatever the consequences he may have to face. This means denial or rejection of evil from all the affairs of temporal living. Without this discipline worldly life must continue to be a fertile ground for unending misery, whatever be the achievements of man in science and technology, or in the so-called field of religion. This discipline of goodness is the first existential imperative for the perception of truth or reality and a way of life in harmony with it.

Secondly, as soon as man opts for this first stage of a disciplined life, he will find himself face to face with a variety of tensions in the mind. To do this or that ? What is good and what is evil. Who can be sure of their real nature ? Who will decide ? Can I decide ? How may I be sure that what I decide is consistent with reality ?

These questionings stimulate self-inquiry which brings man into the second stage of self-discipline *(Adhi-Citta)*. This second stage demands total self-reliance with all its risks. Man must be and remain a light unto himself, whatever the consequences. In fact it is these consequences themselves that will reveal to him what is right and what is wrong. But the point is to take the plunge and find out for oneself.

It is this self-inquiry, and the discipline that naturally goes with it, that leads man to a state of being, called *Samādhi*. And it is *Samādhi* that

naturally flowers into existential intelligence or *Prajñā* which enables man to respond freely and adequataly to the challenges of life as they confront him from time to time. The man so redeemed is the authentic human being in terms of the existential reality.

Man thus becomes an authentic human being because through *Adhi-Śīla* he becomes free from evil and sin; through *Adhi-Citta* he becomes free from the bondages of *Vāsanās*: and through *Adhi-Prajñā* or existential intelligence, he becomes free from all the pressures of the environmental world. It is this total freedom which is aptly named as '*Nirvāṇa*'.

It is, however, to be constantly borne in mind that it is not the destruction, deliberate of otherwise, of desire that is advocated in this *Yoga*. Not destruction, which is existentially impossible in any way, but purification this is insisted upon. Hence this *Yoga* is rightly called *Viśuddhi-Yoga*.

IV. Viśuddhi Yoga

What is purification ? The answer is quite simple. You see with your eyes. But if the eyes develop a defect or disease your vision is bound to be distorted. It will not be true to facts. So, removal of everything that distorts one's view of life is purification. And in as much as the human organism is an integral whole of four constituents, namely, body, language faculty, mind and intelligence, all these constitutents must function together in perfect harmony to enable man to see 'what is' in its existential authenticity. This, in fact, in the existential state of being. But man distorts this pure state of being because he remains unaware of what is good and healthy for his body, his language faculty, his mind and his intelligence. Therefore to inquire, observe and be aware of all the operations of these four constituents, is the only way open to man to discover what is needed to remain in a pure, existential state of being. This self-inquiry, this free observation and this choiceless awareness unveils the mystery that is life and existence as a hole. All fragmentary views are just bad and confounding distortions of reality.

Viśuddhi-Yoga, therefore, dives deep into the problem of impurity and helps man to discover for himself the way of purification. In this voyage of self-discovery and self-purification the Buddhists have made astounding discoveries which men all over the world will have to attend to and understand, if they are serious about a new world order which is

free from suicidal or murderous conflicts and which, because of this freedom from conflict, is copable of ushering in an era of creative cooperation between man and man, and nation and nation.

These new discoveries made by the Buddhists may be summarised as follows :

(*i*) *Śūnyatā*

What is *śūnyatā* (total emptiness of the mind) ?

The *Pātañjala-Yoga* throws no light on this point. But the *Viśuddhi-Yoga* tells us that *Śūnyatā* is the negation of the movement of mind either towards objects experienced in the past or towards objects hoped to be attained in the future. *Śūnyatā* is therefore not mere word or a concept or an idea but intensely alert awareness which enables man to watch the movement of the mind going toward either the past or the future. It is this alert awareness that of itself slows down the movement of the mind in either direction. And the mind thus come to a stand-still finds itself totally empty of all drives towards the object of desire This is *Śūnyatā*. It is a state of timelessness which of itself flowers into freedom from all temporal conditionings. And we are told that one who finds himself in this state of *Śūnayatā* is capable of actually seeing directly the whole matrix of temporality together with its pattern of past-present-future of the phenomenal world. This comprehension of the phenomenal world in its totality is called *Śūnyatā Vimokṣa*. It is this vision that articulated itself in the Buddha, the Enlightened One, as "*Sarvaṁ Śūnyam*". And we are further told that it is this vision that purifies the state of being, called the fourth or the *Turiya* state. Man lives in four states of being, namely, the wakeful state, the dreaming state, the deep sleep state and the *Turiya* state. Each one of these gets mixed up with the other and results in confusion and misery. But the moment one finds himself in *Śūnyatā* all that results in confusion and misery vanishes from the view and the radiant dawn of eternal happiness *(Mahā-sukha)* appears on the horizon of one's inner sky. And then one's heart melts in compassion *(Karuṇā)* for all beings.

(ii) This leads up to a tendency to cling to the great Buddha as an anchorage. One can not yet discard the inspiring memory of the Enlightened One and the sense of gratefulness to him, but for whose Teachings one may never have embarked on this wonderous voyage of self-discovery. But this tendency to cling to an anchorage obstructs the creative movement of freedom. One has, therefore, to see this fact of

bondage-making tendency and discard it by the very energy of awareness. This discarding of an anchorage *(Nimitta)* flowers into a wider freedom called *Animitta-Vimokṣa*. The mind now becomes free from all anchorages and gets charged with energy which explodes into an action of abiding good to the whole world. This wider freedom fills the mind with friendliness for all beings and the material body gets transformed into *Jñāna-Kāya*, a body dissolved into the energy of awareness. In the state of *Sūnaytā* the material body gets dissolved into an existential naturalness *(Sahaja-Kāya)*.

(iii) In this new state of being brought on by the *Animitta-Vimokṣa* one tends to identify oneself with the Great Buddha and declare that 'I am the Buddha'. But this identification obstructs the ever onward march of freedom. It has, therefore, to be seen and discarded. This discarding unfolds a yet wider domain of creative freedom. This new freedom with wider horizons is called *Apranihita-Vimakṣa*. It frees one from the impurities attached to the dreaming state, just as the *Animitta-Vimokṣa* frees one from the impurities attached to the deep sleep state. This new state of being enables one to hear the frictionless music of the spheres which gladdens the heart. This cosmic music is the very life breath of *Mantra* which has the power to penetrate into the sound-making (speachmaking) faculty of all beings and bring joy to their hearts. This is called *Muditā*. It transforms the body into a body of blissfulness *(Saṁbhoga-Kāya)*.

(iv) Even tarrying in this blissful state of being obstructs the creative flow of freedom. This tendency to tarry has, therefore, to be seen and transcended. This transcendence flowers into yet wider and ever expanding freedom called *Anabhisaṁskāra-Vimokṣa* This wondrous state of total freedom negates all the impurities attached to the biological organism. The information-carrying elements, such as, the R N A or D N A, which perform the function of carrying on the impregnations of the past, are liquidated in this wondrous state of being which flowers into total freedom which was at the beginning of all Creation.

This is the end of word and articulation and the beginning of endless Silence pregnant with cosmic creative energy.

These discoveries, the seeds of which lie hidden in every human being, have cosmic significance more revolutionary then all the discoveries that modern science is capable of. Science and technology can operate only on the level of utility and may bring astounding aids to comfort and automation. But life is not confined to utility. The ever increasing emphasis

on utility resulting in the senseless exploitation of Nature and Man has already brought into being a global imbalance in the form of massive pollution of the environment, which now threatens the very survival of man and other forms of life on this planet. Actually this massive pollution is only the outward projection of the inward pollution that still lingers in human organisms as a dead-weight of the animal heritage. The ecological imbalance now threatening this world can not be put right unless and until the impurities lingering in the human organism, material and mental, are liquidated with the help of the wondrous discoveries made by *Yoga* both Vedic and Buddhist in the field of the psychological structure of the human being, If man fails to learn from Yoga, and especially the *Viśuddhi-Yoga*, it may mean a failure of the Creator himself and an ignoble end to all creation. But this will not happen. There will be men, howsoever few, who will dare to pass through the doors of perception opened for all by the great pioneers of *Yoga* And then, like the atomic explosion, there will be the *Ātmic* explosion which will bring resplandent clarity to the confused mind of man. Man will then begin to walk in the light of his own being towards the land of freedom, peace and blissful creativity.

Comments by Dr. R. K. Tripathi

It was a pleasure to go through the paper of Sri Deshpande as I like and accept many points that he makes about *Pātañjala-Yoga* and *Buddhist-Yoga*. While this is so, I find that the title of the paper is rather intriguing and I cannot help making some observations if only to indicate my difficulties in accepting his thesis.

There is a sense in which Yoga may he regarded as indispensable in all forms of spiritual discipline. This is because a certain purity and stability of mind is necessary in every path. In this sense Yoga may be regarded as *Yoga-Vahir* (an ayurvedic term) meaning what enhances; Yoga or meditetion enhances everything to which it is added. In this broad sense. Yoga has two main aspects, namely, the control of mind and the direction of mind. The flow of the *Citta-nadī* which bends towards both *pāpam* and *puṇyama* has to be restricted and redirected. The two processes, controlling and directing, imply each other but are not the same. If *Yoga* is understood only in this sense, there can be no such distinction as Bddhist-*Yoga* or Pātañjala *Yoga* or *Jaina-Yoga* or any other *Yoga*. And yet the distinction is there very much, but that is because Yoga is not more meditation but also a system of philosophy having a well developed

metaphysics and epistemology. Every *Yoga* is backed up and sustained by a philosophy and so I do not quite agree with Sri Despande that "*Yoga* is the negation of all thought and idologies". I would rather say that *Yoga* is a fulfillment of a certain ideology. The very birth of Yoga is traceable to a certain ideology; it is a kind of knowing which depends on thought (*viveka-khyāti*) though not only on thought. That man is condi tioned and that *Yoga* can bring about de-conditioning or freedom from *Avidyā* is itself a part of philosophy and not something self evident or universally accepted.

When I turn to Sri Deshpande's observations about *Pātañjala-Yoga* I find certain statements difficult to accept. To quote only one on page *4* when he says that *vṛtti-sārūphya* lands man into the field of *Avidyā*." I feel like saying that it is just the other way about, that is *Avidyā* brings about *vṛtti-sārūphya,* because *Avidyā* is the root-cause of everything.

As regards the relation between *Pātañjala-Yoga* and *Buddhist-Yoga,* it seems to me that Sri Deshpande does not distinguish between *yoga* and its metaphysics. He complains on page 6, 9) that *Pātañjala-Yoga* does not throw any light on the philosophy of *Śūnyatā.* If Pātañjala Yoga does not accept the philosophy of Yoga can we complain that it does not throw any light on *Śūnyatā*? Some body may equally complain that Buddhist Yoga does not throw any light on the nature of self, We should try to appreciate the peculiarity of each system rather than under rate one in the light of the other. More-over, the conception of *Samādhi* in *Pātañjala-Yoga* may be regarded as some kind of *Śūnyatā.* There seems to be not much to distinguish.

Shri Deshpande points out on page *8* that in *Viśuddhi-yoga,* it is not the destruction of desire that advocated but rather the purification of it. May I ask whether in the process of purification something is destroyed or not? Does purification mean mere readjustment? There can be no purification without destruction. Even if A and B are not destroyed, at least the relation between A and B has to be destroyed. So we have to be very clear as to what we mean by purification. In *yoga* too *Prakṛti* is not destroyed but it is distinguished from the *Puruṣa,* but *Avidyā* is destroyed.

I would heartly agree with Sri Deshpande that Buddhists made great discoveries concerning the psyche and the psychic life and also developed beautiful techniques to tackle the problems of the psyche. For me even *nairātmyavāda* which was developed into a kind of metaphysics may be understood as a Yogic technique. But I fear that Sri Deshpande has not succeded in establishing his thesis that the *Buddhist Yoga* begins where *Pātañjala-Yoga* ends. We must not forget that every *Yoga* is linked up with certain metaphysics which requires, it to express its view in its own terminology, but that must not mislead us into thinking that one Yoga is superior to the other. The only criterion of judgement should be whether a particular *Yoga* succeeds or not in removing what it considers to be *Avidyā* or the source of suffering. Judged in this manner, *Pātañjala-Yoga* would appear to laybehind none purely as a spiritual discipline. The distinction of various stages does not prove anything as that can be shown in some form or the other to be present in *Pātañjala* too. I may also point out that there is much in *Pātañjala-Yoga* as also in other *Yogas* which is not on the surface and which can be discussed only by and after entering the path. *Pātañjala-Yog* ends in *nirvikalpa-samādhi* and it is difficult to imagine how *Yoga* would begin with *Nirvikalpa-Samādhi.*

●

SOME NOTABLE SIMILARITIES AND DIFFERENCES IN THE BUDDHIST AND THE ORTHODOX YOGA SYSTEMS

by M. G. DHADPHALE

The exact historical relation between Buddhism and the *Yoga* System as represented by PATAÑJALI is very difficult to settle. What is certain is that the ancient Pali texts have preserved innumerable references to *Jhāna*, *Samādhi* and such other Yogic subjects which have got a striking resemblance with the similar accounts in the *Yoga* of PATAÑJALI.

This paper attempts to study some notable Yogic conceptions which are preserved commonly in Buddhism and *Pātañjala-Yoga* indicating at the same time their differences.

The difference in the presentation of the Yogic concepts attracts our attention first. For while PATAÑJALI was interested in giving a systematic and consise presentation of the Yogic practices available in his time, BUDDHA was interested more in the direct spiritual experience rather than concerning himself with a theoretical and schematic structure of his way to salvation. It is therefore true that although we find in the Pali *Nikāyas* the counterparts of almost all the eight members of the classical *Yoga*, they are discussed there not in the same orderly way in which they are discussed in the YS. BUDDHA in the course of his explanation of the path of liberation had occasions to refer to these practices. It is better for our purpose if we collect all the Yogic practices in Buddhism and arrange in the order in which they are stated in tha YS.

It is important to note that both Buddhism and *Yoga* have the same starting point. Both the systems lay stress on the moral requirements of the practicant (*Sādhaka* or *Yogāvacara*, to use a late Buddhist term). It is the Buddhist *Śīla*, which corresponds to the *Yama* in the YS. (*Ahiṃsā-Satyā-steyā-brahmacaryā-parigrahā Yamāḥ* Y. S. II. 30 FF.) In both the systems *Ahiṃsā* (non-injury) is directed as much to thoughts and feelings as to the physical acts. Every inimical thought, every inimical action and every unfriendly word is considered as an offence according to the first Commandment (*Pānātipāta-Veramaṇī*). The second Buddhist

Commandment viz. '*Adattādāna-Vermaṇi*' corresponds to the third *Yama* requirement, namely *Asteya*. The wording *Adattādāna* of course is more comprehensive than *Asteya*. One should avoid taking that which was not intended to be given also seems to be the interpretation of the term especially in the *suttas* like the famous *Kasibhāradvāja-Sutta*. The third Buddhist Commandment, '*Abrahmacariyā-Vermaṇi*' corresponds to one of the *Yama*-items similarly worded i. e. *Brahmacarya*. A perfect continence in sexual matters has been looked upon as utmost essential for success in absorption. Both the systems emphasize unconditional truthfulness, *voca*, actual and mentai. (*Sacca*. SK. *Satya*). The fifth *Yama* item namely '*Aparigraha*' is not looked upon in Buddhism as so pronounced a command but the concept is sufficiently stressed in many of the sermons of rhe Buddha (cf. '*Upādhī hi narassa socana*'—etc. from the *Dhaniya-Sutta* of the Sn.)

The second member of the yogic path, *Niyama*, is met with in detail in the Buddhist texts, not however in the same orderly way as in the *Yoga* system. *Śauchā*, the external and internal purity is incessantly praised in the BUDDHA's sermons. More stress is laid on the internal purity, the purity of mind. This can be clearly seen in the sermons like the *Vatthūpama-Sutta* (M. etc.) In the same way *Sannitosa* (corresponding to '*Santoṣa*' in the YS.) or *Appichata*, having only a few wishes, contentedness, is one of the virtues praised very often (A. X. 181-190). *Svādhyāya*, being a typical Brahmanic requirement is not prominently stated in the Buddhist Suttas although learning and remembering the advice of the Buddha is recommended time and again and at least at one place *Dhammapada* does refer to '*Asajjhayamalā mantā*' (Dh.).

As the Buddhism was purely atheistic, the *Īśvarapraṇidhāna* or devotion to the god, could not find any place in the Buddhist Yoga. However it can be maintained to some extent that in Buddhism '*Buddha Bhagavā*' has taken the place that is accorded to God in the *Yoga* system. Especially when we remember that in *Yoga* system itself God has not been given any creative function but is simply regarded as one of the innumerable sources, who happens unlike all others, never in contact with matter and defilements, and who can be used beneficially as an object of meditation, we can see that the position of BUDDHA is not very different from this. BUDDHA remains as much an ideal to the :—striving to gain *Nibbāna*, as the *Īśvara* is to the *Yoga* practicants seeking liberation. Even without implying any, disparaging attitude towards the *Īśvara* in the *Yoga* it can be said that in a sense at least BUDDHA appears as a better model to the

seekers of *Nibbāna* than is *Īśvara* to the emancipating—thirsty *Yoga* students. *Īśvara* was never contaminated by the *Kleśas* but BUDDHA was an ordinary human being who with the utmost efforts has cleansed and freed himself of all the difilements and unskilled dhammas. He thus provides a glowing ideal to be followed by the suffering mankind. In *Yoga* also God does not liberate the souls in bondage but only helps them to liberate themselves by merely being an ideal to them. It is the faith in such an ever-uncontaminated being that frees the migrating souls. If, therefore, it is the faith in that there can be such a person which matters more than the person himself, we have ample glorification of faith in Buddhism. Indeed it is the faith which helps one to cross the 'terrible floods' (*Sāddhāya tarati ogham, appamādena annavam*). *Saddhā* is considered as a very important means and faculty (*Indriya* and *bala,* to which there is an exact parallel in YS). It is the *Saddhā* which goads one to strenuous efforts very necessary to free oneself. It is this importance of *Saddha* and the role of the BUDDHA in helping the men to achieve their own liberation which must be properly under-stood (BUDDHA is so many times styled as the bearer of torch '*Ukkādhāro manussānaṃ*' and the guide, *Maggakkhāyī*). It is only the proper under-standing of this that will solve the riddle of the seemingly contradictory statements in the *Nikāya*. '*Tiṇṇo taresimam pajaṃ* and *Nāham gacchāmi pamocanāya, kathamkatathim dhotaka* etc. Even the last words of the BUDDHA were '*appamadena sampa dethati* and '*Attadipā Bhikkhave Viharatha*'. Buddha meant to say 'help yourselves oh monks and achieve the *Nibbāna,* as I have helped myself and have achieved it., It is this enlightened belief (*Aveccappasāda*) in the BUDDHA, that he has attained to the highest, which is valued the most in Buddhism. BUDDHA thus deviates from *Patañjali,* in his re-interpretation of the *Īśvarapraṇidhāna*' as he drops out the second prefix from the word '*praṇidhāna*' and glorifies the '*Pradhāna*'. (= exertion essential to stabilize the mind).

Just as Buddha modified the idea of *Praṇidhāna,* so also he modified the idea of '*tapas*' (asceticism). A number of the Pali *Suttas* (M. 26 etc) tell us that BUDDHA did not reach goal by severest practices of, *Tapas*'; he therefore disregarded such forms of taps as unfruitful and unworthy of practice. BUDDHA tells us that 'If a person practises *tapas,* by which his evil raits are multiplied and good traits diminished, I declare such *tapas* as useless and *vice versa,* i. e. I declare as fruitful and worthy of practice, that *tapas,* which when followed multiplies the good qualities and diminishes the unwholesome qualities." In defining the *tapas* in this way BUDDHA has really followed the idea of *tapas* as implied in the *Taitti-*

rīya Brāhmaṇa 11.2.91 where as the commentator explains that *tapas* means not the asceticism, expiating for the sins etc. but the devoted meditation upon the particular objects which are to be created. With this we can compare the exhortations like the following *Tumkhehi kiccamatappam akkhataro tatahagata* and '*Ten hatappam karohiti* etc. The *Nikāyas* so many times use the expression '*atappam*' synonymously with '*padhāna*' etc. *Ātappamanvāya, padhānamanvāya anuyoanvāya, appamadamanvāya, sammāmanasikaramanvāya.*

The discussion of the *Yama* items '*Īsvarapraṇidhāna*' and '*tapas*' itself has brought us to the discussion of *Samādhi* and the bodily postures (*Āsanas*) which are held important in the *yoga* as the external means of *Samādhi*.

'*Ujuṃ kāyaṃ paṇidhāya*' holding the body erect and '*pallañkam ābhujitvā*' having sat in a cross legged posture, are usual phrases in Pali in the context of the bodily postures (*Āsanas*). The Brahmanic parallels to the Pali '*Ujuṃ kāyaṃ paṇidhāya*' are the *Śveta.* up. II.8 (*trirunnataṃ sthāpya samaṃ śariam*) and the B. G. "*Samakāyaśirogrīvaḥ*.

Scholars complain that the aphorism '*sthirasukhamāsnam*' is wrongly translated as Āsana is that which is easy and stable' for this would mean that one could adopt any posture that would be easy to attain and stable to maintain. The correct translation of the aphorism should be '*Āsana* is that which contributes to stability and sense of well-being". The idea underlying the aphorism is expressed in a different way in the usual Pali description of the preconditions of absorption.

"*Tassime pancanivarne pahine attani samanupassato pamujjam Jayati, pamuditassa piti Jayati, pitimanassa kaye passambhati, passadhakayo sukham vedeti, sukhino cittam samadhiyati.*—D. I. 73". (Translation—"When the five impediments are eliminated he looks within himself and gladness arises in him and with gladness, joy; with his mind overjoyed his body becomes at ease, and with his body at ease, he experiences happiness; being happy his mind becomes concentrated"). Here we find a clear parallel to the idea implied in the aphorism (—) i. e. the bodily well-being and stability following it both of which are essential for concentrating the mind. The YS further speaks about *Prāṇāyāma* or holding the breath '*Tasmin sati svāsaprāsvāsayor gativicchedah prāṇāyāmaḥ.*' The holding of breath has received a prominent place in the Buddhist yogic practices also; but there is marked difference between the two systems with regard to inspiration and expiration. For in Buddhism we do not get any description of the regulation of respiration with respect

to its *puraka, recaka* or *kumbhaka* functions. Instead we find the regulation of respiration extolled in the course of *Ānāpānasati'* (Mindfulness with regard to respiration). Here being mindful of the process of in-breathing and out-breathing forms and important exercise for reaching mental concentration and the four types of absorption. The respiratory control is detailed in connection with the exercise of Insight *(vipassanā)* (Fully explained in M. 62, 118). "With attentive mind he breathes in, with attentive mind he breathes out". The M. 118 even goes on to specify how the sixteen breathing exercises are connected with the four Applications of Mindfulness (1-4 to *Kāyagata Sati*, 5-8 to *Vedana Sati*, 9-12 to the contemplation of the mind and 13-16 to the contemplation of mind-objects). The Pali texts also refer to the '*Appāṇaka Jhānā*' (=absorption depending upon the complete cessation of respiration) and GOTAMA before his attainment of *Bodhi* is said to have practised all these practices concerning the violent control of respiration and the terrific results of which are described vividly in M. II. 35. There seems to be no justification in comparing these violent practices with the *Prāṇāyāma* in the *Pātañjala-Yoga*. Some of these practices are found in the later degenerated *Haṭha-Yoga*, and probably *Buddha-Carita* XII. 87. ff is rightly suggesting that BUDDHA got these violent breath-control practices from a certain school of *Yoga* of his times. If *Ānāpāna* is the Buddhist *Prāṇāyāma*, it is certain that it has been made wholly subservien to the concentration of mind and emancipatory consciousness. It is this practice of the Buddhists to utilize the physical function of respiration to master the mind and sharpen the concentration which is implied in the Y. S. I. 34. '*Pracchardan-Vidharanabhyāṃ vā prānasya'* as the means of '*cittaprasādana* (or calming the mind). The S. V. 321 describes the calming effect of such a breath-control where BUDDHA applauds such a practice as good (*wanta*), excellent (*Panīta*), pure (*asecanaka*) and comfortable (*Suka*).

The next item of the systematic *Yoga* is *Pratyāhāra* (YS. II. 28 ff.) or the withdrawal of the senses from the external objects). (YS. II. 54,55). The Pali texts do not make use of the word '*Pratyāhāra*' although the idea is elaborated in many passages which deal with the guarding of the senses (*Indriya Saṃvara*). Like a doorkeeper, the practicant guards the doors of his senses not allowing them to run after their respective objects. The *MahāparinibbānaSuttanta* (D. 16) narrates to what degree BUDDHA himself has attained to sense control so that in the village Atuma, in a hurricane, amidst the rain pouring down with flashes and lightning and crashes of thunder, he did not notice that in his proximity to peasants and four oxen were killed.

The Y. S. (II.53) points out that the withdrawal of the senses from their respective objects leads to *dhāranā* (concentration) and *dhyāna* (absorption). Now *dhāranā* is not mentioned in the pali texts with this name but in many of the *Suttas* the description occurs that the monk dwells in his own body as conscious of that body *(Kāye kāyānu passi viharati, etc.)* and he dwells in another body as conscious of that body He concentrates his attention on the thirty-two constituents of the body. and becomes conscious of these, etc. In all these practices, the concepts *dhāraṇā, dhyāna* and *Samādhi* get intermixed. *Patañjali*, because he was interested in theoretical distinctions, distinguished and named these three processes separately. BUDDHA being more interested in the actual practice of these modes did not indulge in the theoretical distinctions. In this connection the YS. III. 4 should be carefully marked. It clearly states that all the three (i. e. *dhyāna, dhāraṇā* and *Samādhi*) are together called '*Saṃyama*'—a technical term difficult to translate '*Trayamekatra Saṃyamaḥ*'.

Now along with the four *Jhānas* or absorptions the Buddhist texts also mention four '*Arūpajhānas*' (formless absorptions). These in fact are merely the extraordinary *dhāraṇā* and *dhyāna* practices. The first of the *Ārūpajhānas* is '*Akāsānañcāyatana*' where the meditator gets rid of all objective notions and reaches the condition of Spaceinfinity'. Then he frees himself of the notion of spaceinflnity' and reaches the plane of 'consciousness-infinity' (*Viññāṇānañcayatana*). Then freeing himself of this also, he reaches the sphere of 'Nothingness' (*Ākiñcānyāyatana*). Then he frees himself from every notion in general and reaches the plane of 'neither consciousness nor un-consciousness' and finally he reaches the plane where all consciousness and feeling is stopped. It is stated in the Pali texts that GOTAMA learnt the Attainment of the state of nothingness under *Alārakatama* and the Attainment of the state of neither consciousness nor non:conciouness under UDDAKA RĀMAPUTTA. Being not satisfied with these practices he rejected them as not leading to real mental peace, It is also important to note that although previous to his *Nirvāṇa*, BUDDHA has passed through all the *Āruppa-samāpattis* he actually entered the *Nibbāna* only through passing the Fourth *Jhāna*. This will show that the four *Āruppas* were not originally an integral part of the Buddhist meditation but as Hailer maintains were perhaps taken over by the Buddhists from some ascetices as these abstract absorptions weve considered usefull in birnging about perfect conciousness.

Besides the four *Jhānas* and the *Arūpa-Samāpattis* there is another

method of absorption which is almost identical in *Yoga* and Buddhism. It is the development of the four sublime states (*Brahmavihāra*). These are also called the immeasurables (*Appamāṇas*). I shall merely mention the four without elaborating them.

These four are *Mettā* (friendliness or love), *Karuṇā* (compassion), *Muditā* (sympathethetic joy) and *Upekkhā* (Indifference or equanimity). I shall only make two observations about these *Vihāras*.

(a) The process of *Jhāna* and the cultivation of *Appamāṇas* work exactly in opposite directions. The absorptions aim at emptying the mind of all its contents while the *Appamāṇas* aim at a positive cultivation (*Pharati*-suffuses all the directions with all these emotions). Of the four emotions, love, compassion, delight and equanimity. Thus while *Jhānas* aim at denouncing the *Appamāṇas* aim at pronouncing.

(b) Secondly whatever may be the original implication of the practice of '*Appamāṇas*' whether they were originally nothing more than mere mental exercises, mere states of mind (*vihāra*) or whether the emotions were meant to be translated into action and realized in society, history has proved that in *Mahāyāna* Buddhism, the *Brahma Vihāras* especially the first two, which have more positive contents are realized in the social context while in the *Yoga* of *Patañjali*, they could not find this social expression. It may also be noted that each one of these four emotional practices finds its proper place in the *Jaina-Yoga* and the *Bhagavad-gītā*. In the *Gītā* we have such scattered references to these as '*Maitraḥ karuṇa eva ca*'.

Very probably the four *vihāras* belong to the Pan-Indian origin as the *Makhādeva-Sutta* also seems to suggest. Here it is stated that the four sublime states were practised by a long chain of kings.

I need not dwell much on the attainment of the miraculous powers, described in both the systems in different words with the same signification. Buddhism uses the word '*Iddhi*' while *Pātañjala-Yoga* speaks of '*Siddhis*' or '*Vibhūtis*'. A whole Chapter (III) is devoted to the description of the *vibhūtis* on account of which it is regarded as belonging to a later stratum. The Pali accounts also refer to the 'six supernormal powers' (*Abhiñña*). The six are :

(1) Psychokinesis (*Iddhividha*).

(2) Clairaudience (*Dibbasota*).

(3) Telepathic knowledge (*Cetopariññāṇa*).

(4) Retrocognitive knowledge (*Pubbenivāsānu-Satiññāṇa*).

(5) Clairvoyance (*Dibbacakkhu*).

(3) Knowledge of the destruction of defiling impulses (*Āsavakkhaya-ññāṇā*).

I now turn to a few cases of similarity between Buddhist and *Pātañjala-Yoga* which are of such a nature that Haner thinks that they lead us to suppose a historical relationship of these two traditions. It is the identity of certain technical terms in the scheme of the Four *Jhānas*. The usual Pitakan formula of the first absorption is '*so viviccheva kāmehi vivicca a kusalehi dhammehi*', etc. The monk having isolated himself from all the sensuous objects all the lustful desires, reaches the first stage of absorption, where there remain initial and sustained thoughts, which is born of discrimination (*vivekajaṃ*) and is related to delight and pleasure. Now this tallies well with the '*samprajñātasamādhi*' described in the Y. S. I. 17 as '*vitarka-vicāra-ānanda-asmitāanurāgat samprajñataḥ*'. The *Ānanda* corresponds to the Pali *Pīti-sukha* and *asmita* is self-evident from the conscious nature of the *Samādhi*.

The Fourth stage of *Jhāna* is described as "*Bhikkhu Sukhassa ca pahānā, dukkhassa ca pahānā, pubbeva somanassadomanassanaṃ atthaṃ-gamā, adukkhamasukhaṃ upekkhā-sati-parisuddhaṃ catutthaṃ Jhānaṃ upasampajja viharati*". A monk when he has left behind the pleasure and pain, when all the earlier pleasurable and painful feelings are completely extingiushed reaches sorrow-free and pleasurefree fourth grade of absorption, marked by equanimity and mindfulness'. Now this description answers to the '*Nirvikalpa-samādhi*' as defined in Y. S. I. 18 and I. 51. About the fair resemblance of the first *Jhāna* with the *Samprajñāta Samādhi* and of the fourth *Jhāna* with *Nirvikalpa* type of *Samādhi* there will be no difference of opinion. But when Haner goes so far as to assert that because *viveka* (discrimination) is a typical *Yoga*-word meaning the distinction between *Puruṣa* and *Prakṛti*, the use of it in the Pali description of the *Jahānas* should be considered as a case of borrowing from the *Yoga*, he will find few adherents. A mere similarits of the word is unsufficient to prove the point, expecially, when we know that the Pali commentories satisfactorily explain the first *viveka* as referring to the '*Vatthu-kāmas*' and the second *viveka* as referring to the *kilesakāmas*.

Again when we remember that the succeeding stages of the *Jhāna* are no-where hinted at in the *Yoga-sūtras* and that the meanings of *vitarka* and *vicāra* differ in both the systems (In the *yoga Vitarka* refers to the grosser thought' and *vicāra* refers to the finer thought' by *vitarka* and 'sustained thought' by *vicāra*) there seems to be no justification to hold the view that Buddhism borrowed the *Jhāna* practices from *Yoga*. Better to say that there were many types of Yogic practices current at the time of Buddha and that he chose only those which suited well with his scheme of getting rid of craving (*Taṇhā-kkhaya*).

•

A STUDY ON SAMATHA AND VIPASSANĀ IN BUDDHISM

by A. C. BANERJEE

Buddhism like other religions, always emphasises on the complete control over the *citta* (mind). Mental discipline thus forms an essential part of Buddhism. It prescribes various meditational practices for controlling the mind. A few verses in the *Dhammapada* as also some passages in the *Nikāyas* point out the difficulty of controlling the mind. They further mention that by attaining control over the mind one can progress in his spiritual life which ultimately leads him to *Nibbāna*, the cherished goal of life of the Buddhists. Its importance, therefore, is supreme in Buddhism. as it is a gateway to *Nibbāna*.

Buddhism recognises two types of meditation through the practices of which mind becomes steady and is not affected by the worldly will and woes. They are *Samatha* and *Vipassanā*[1]. In this Compendium of Philosophy, Shwe Zan Aung writes[2] that "*Samatha* is so called because it puts to sleep, as it were, or lulls, the Five Hindrances for the time being". Elsewhere in the same work[3] he has written "*Kilese samathetīti samatho*"- "called calm because it lulls the passion". As to *Vipassanā*, F. L. Woodward writes[4] that "Insight of the real is gained by realising 'as they are' the dreadfulness and disgusting nature of all conditioned things, to which the unenlightened man is absolutely blind". Through *Samatha-bhāvanā* (the practice of the calm) a yogācāra (a meditating person) can supress Kāmachanda (sensuality). Vyāpāda (ill-will), Thīnamiddha (torpor of mind), Uddhaccakukkucca (worries) and Vicikicchā (wavering) which are hindrances to the path of meditation. Samatha is a mundane Jhāna (loukika). It can lead to the attainment of sīla (morality) and samādhi (meditation). But it can not release one from the worldly miseries. But through Vipassanā (practice of insight) a meditating person can completely

1. Buddhaghosa in his well-known work *Visuddhimagga* has given us a full account of these two kinds of meditation.
2. P. 57
3. P. 202, f. n. 2
4. *The Manual of a Mystic*, p. 129, f. n. 1.

destroy the above hindrances by comprehending the true nature of all things. Vipassanā is a Lokuttara Jhāna (supramundane meditation). It also leads to the attainment of sīla (morality), samādhi (meditation), and paññā (wisdom) and removes worldly miseries of the beings.

The objects suitable for the *Samatha bhāvanā* (the practice of the calm) are usually forty in number. They are called *Samatha Kammaṭṭhānas* which are ten *Kasiṇas*, ten *Asubhas*, ten *Anussatis*, four *Brahmavihāras*, four *Āruppas*, one *Saññā* and one *Vavatthāna*.

Here is given a brief account of the forty *Kammaṭṭhānas* mentioned above :—

Ten *Kasiṇas*—According to Dr. N. Dutta[1] the word '*Kasiṇa*' is very probably a Prakrit form of the Sanskrit word '*Kṛtsna*' meaning 'entire'. In the Buddhist meditational practices the term is applied to those subjects of meditation, which occupy the 'entire' mind, as such does not give scope to the rising of any other thought". *Pathavī Kasiṇa* (Earth as an object of meditation).—It comes first in the list of the ten *Kasiṇas*. In order to concentrate his mind a monk is to fix his attention on a piece of earth of reddish colour in a secluded place. He is to take his seat near it and look at it cogitating the evils of sense desire. *Āpo kasiṇa* (water as the object of meditation)—It may be done with water of a tank, or a lake or water of a bowl. *Tejo Kasiṇa* (Fire as the object of meditation)—Fire may be the flame of a lamp or in an oven or in a place for baking bowls or in a forest conflagration. *Vāyo kasiṇa* (wind as the object of meditation)—This is done by wind either by sight or by touch. *Nīla Kasiṇa* (Blue colour as the object of meditation)—It is done with the blue colour of a flower, cloth or a gem. *Pīta kasiṇa*, *Lohita Kasiṇa* and *Odāta Kasiṇa* (Yellow, red and white colours as objects of meditation)—These are done like *Nīla Kasiṇa* above. *Āloko Kasiṇa* (Light as the object of meditation)—It is done by light coming through a chink in the wall or the key hole or the opening of the windows. *Paricchinnākāsa Kasiṇa* (Limited space as the object of meditation)—It is done with an opening in a wall, or in a key hole or in a window.

Ten *Asubhas* (Ten impurities as objects of meditation) : Through these objects of *bhāvanā* (meditation) one realises the loathsomeness of the body. There are ten stages through which a dead body passes before it is utterly annihilated. These are :—*Uddhumātaka* (bloated), *vinīlaka*,

1. *Early Monastic Buddhism*, Vol. 1, 2. 218.

(discoloured), *vipubbaka*, (festering), *vicchiddaka*, (fissured), *vikkhāyitaka*, (gnawed), *vikkhittaka*, (scattered), *hatavikkhitaka*, (injured and scattered), *lohitaka* (bloody), *puḷavaka*, (worm-infested), and *aṭṭhika* (bones).

Ten *Anassatis* (Ten recollections as objects of meditation):—Unlike the previous twenty *Kammaṭṭhānas* which are actual objects upon which a meditating monk concentrates his mind and converts them into concept, these are but matters of cognition only. They are on the *Buddha* (Buddha), the *Dhamma* (Doctrine), the *Saṅgha* (Order), *Sīla* (Morality), *Cāga* or *tyāga* (Liberality), *Devatā* (Gods), *Maraṇa* (Death), *Kāya* (Body), *Anapānasati* (Regulation of inspiration and expiration) and *Upasama* (Quietude).

Four *Brahmavihāras* (Four illimitables as objects of meditation) :—They are so-called because they are spread over the infinite beings of the world. "They are so-called because they make the minds of the adepts pure like those of Brahma *Kāyikā* gods and after death they are reborn in the highest plane".[1] The four *Brahmavihāras* are Metta (benevolence); *Karuṇā* (compassion); *Muditā* (cheerfulness); and *Upekṣā* (indifference). E. J. Thomas observes : "The four *Brahma-vihāras* (Brahma-abodes) show direct connection with brahminical practices, as they occur in the *Yoga sūtras* (i, 33). This does not necessarily prove borrowing on the part of the Buddhists, but the Scriptures do recognize them as a non-Buddhist practice, and give a legend of *Makhādeva*, an ancient king of *Mithilā*, who practised them and who in consequence was reborn in the Brahmaworld".[2]

Four *Āruppas* (Four formless states as objects of meditation :—The four objects of meditation are :—*ākāsānañcāyatana* (the realm of the infinity of space); *viññāṇanañcāyatana* (the realm of the infinity of consciousness); *ākiñcaññāyatana* (the realm of nothingness); and *nevasaññānāsaññāyatana* (the realm of neither consciousness nor unconsciousness). These four subjects of meditation are the last four of the eight attainments and belong to the *Arupaloka*.

One *Saññā* (Offensiveness of material food as object of meditation) :-A meditating monk is enjoined to contemplate the repulsiveness of material food consisting of things to eat, drink and the like. By meditating thus he becomes free from the greed for all kinds of food and progresses on the road to his spiritual path.

1. N. Dutta, *Early Monastic Buddhism*, vol. I, p. 228.
2. *The History of Buddhist Thought*, p. 50.

One *Vavatthāna* (Four elements of the body as objects of meditation) :—They are *Pathavī* (earth); *Āpo* (water); *Tejo* (fire) and *Vāyu* (air) which are the four primary elements with which bodies are composed. Through the meditation of these objects one understands the emptiness of his self and the world and thus attains true knowledge.

We have seen before that there are forty *Kammaṭṭhānas* (objects of meditation). An aspirant for a *bhāvanā* (meditation) is recommended by his preceptor one of these objects for meditation according to his mental leanings which are ascertained by examining closely his *Iriyāpatha* (modes of movements), *kicca* (services), *bhojana* (meals), *darśana* (appearance) and the like. The mental leanings are of six types, namely, viz., *rāgacarita* (passionate behaviour), *dosacarita* (feeling of hatred), *mohacarita* (feeling of infatuation), *sadhācarita* (trusting habit of mind), *Buddhicarita* (understanding habit of mind), and *vitakkacarita* (discursive habit of mind). The ten *Asubhas* (impurities) and *Kāyagatāsati* (mindfulness about the body) are prescribed as subjects of meditation for *rāgacarita* (passionate behaviour). The four *Appamayas* (illimitables), otherwise known as the four *Brahmavihāras* and four colours—*nīla* (blue), *pīta* (yellow), *lohita* (red) and *odāta* (white) are suitable for *dosacarita* (a mind having a strong feeling of hatred). *Ānāpānasati* (mindfulness about respiration) is suited for *mohacarita* (infatuated person) and *vitakkacarita* (a person of discursive habit of mind). The six *Anussatis* (recollections)—the *Buddha* (Buddha), *Dhamma* (Doctrine), *Saṅgha* (Order), *Sīla* (morality), *Cāgo* (liberality) and *Devatā* (Gods) are meant for *saddhācarita* (a trusting habit of mind). *Maraṇasati* (recollection of death), *upasamānusati* (recollection of quietude), *catudhātouvavatthāna* (four elements of the body) and *āhārepaṭikulasaññā* (offensiveness of material food) are suited for *Buddhicarita* (an understanding habit of mind). The remaining objects of meditation—*Pathavī* (earth), *Āpo* (water), *Tejo* (fire), *Vāyu* (air), *Ākāśa* (space), *Āloko* (light) and the four *Aruppas* (formless states)—*ākascaññāyatana* (the realm of the infinity of space), *viññānnanañcā yatana* (the realm of the infinity of consciousness), *ākiññcannayatana* (the realm of nothingness) and *nevasaññā-nāsaññāyatana* (the realm of neither consciousness nor unconsciousness) are suitable for every aspirant for *bhāvanā* (meditation). It is to be noted here that a *Kasiṇa* (wide circle) is suitable for *mohacarita* (a person having a strong feeling of delusion) and a small one for *vitakkacarita*[1] (a person having discursive habit of mind).

1. 'Ledi Sadaw, probably following earlier authorities, prescribes the size of a threshing-floor (*Khala-mandalādi-pamāṇaṃ*) for the

As already observed, there are various objects of meditation on which a meditating monk fixes his attention to have a clear and distinct concept of the object before him. There are further successive stages in the practice of meditation. They are *Parikamma* (preliminary), *Upacāra* (accessory) and *Appanā* (ecstasy), *Parikamma* (preliminary) is the primary stage in which a beginner tries to fix his mind on the *Kammaṭṭhānas* (objects of meditation). *Upacāra* (accessory) is the next higher stage in which his mind is fully concentrated on the *Kammaṭṭhāna* (object of meditation). Herein a meditating monk suppresses his hindrances thoroughly but the constituents of *Jhāna* (meditation)—*vitakka* (reflection), *vicāra* (investigation), *pīti* (belight), *sukha* (agreeableness) and *ekaggatā* (concentration) do not reach perfection. *Appanā* (ecstasy) is the highest stage in which the mind of a meditating monk is fully concentrated on the *Kammaṭṭhāna* (object of meditation). All the hindrances are completely overcome and the above five constituents of *Jhāna* (meditation) are fully developed.

Lastly, there are three types of *nimitta* (symbol) which a candidate for *samatha bhāvanā* (the practice of the calm) employs for the attainment of *Jhāna* (meditation). They are *Parikamma* (objective), *Uggaha* (the imaga) and *Paṭibhāga* (the transformed after-image). "*Parikamma* is merely the perfection of the object in the mind when looking at it. *Uggaha* is the taking up of the image into the mind so that it is retained there even if the eyes are averted. *Paṭibhāga* is a more refined and polished reflection of the object produced in the mind by a deeper and a longer contemplation".

Let us now turn to *Vipassanā Kammaṭṭhānas* (objects of insight). A meditating monk carefully examines the workings of the body and mind in their minute details with a mind fully concentrated, and attains full realisation of the *trith. Vipassanā* (insight) 'is the wisdom which in its own-being is the comprehension of reality as it truly is'. It is possible only in the state of *Lokuttara Jhāna* (supramundane meditation). In order to practise *Vipassanā bhāvanā* (insight-meditation) a meditating monk must go through a few methods to realise *Nibbāna*, the long cherished goal of his life. They are The seven *Visuddhis* (purifications)—(i) *sīlavisuddhi* (purity of the moral) consisting in *Pātimokkhasaṁvarasīla* (the observance of the 227 *Pātimokkha* rules), *Indriyasaṁvarasīla* (control over the

muddle-headed, and a diameter of a span and four inches (*vidatthi-caturaṅgula-pamāṇaṃ*) for the imaginative'-Shwe Zan Aung, *Compendium of Philosophy*, p. 205, f. n. 2.

mental and bodily faculties), *Ājīvapārisuddhisīla* (giving up all improper means of livelihood), *Paccasannissitasīla* (utilising the four necessaries of life, i. e., clothing, food, lodging and medicine), (ii) *Cittavisuddhi* (purification of consciousness) is the attainment of two kinds of *samādhi* (concentration) called *Upacāra* (accessory) and *Appanā* (ecstasy), (iii) *Diṭṭhivisuddhi* (purification of views) is a clear and complete understanding of the *lakkhaṇa* (characteristics), *rasa* (functions), *paccupaṭṭhāna* (manifestations) and *padaṭṭhāna* (proximate cause) of both the mental and material states, (iv) *Kaṅkhāvitaraṇavisuddhi* (purification through destroying doubts) is a proper understanding of the casual relation of *nāmarūpa* (mind and matter), (v) *Maggāmaggañāṇadassanavisuddhi* (purification of knowledge and vision of the right and wrong path) is the discrimination of what possesses the peculiarities of path-consciousness and what does not. It is done by a full understanding of the ten inimical influenes[1] which vitiate insight, (vi) *Patipadāñāṇadassanavisuddhi* (purification of knowledge and vision of the way) is the realisation of the eight kinds of knowledge along with the knowledge inconsistent with the truth as the ninth,[2] (vii) *Ñaṇadassanavisuddhi* (purification by knowledge and vision) is the *gotrabhuñāṇa* (maturity of knowledge) having *Nibbāna* as its object. It arises after *anulomañāṇa* (knowledge in conformity with truth). It is so called as the meditating monk herein gives up the *puthujjanagotta* (lineage of the worldling) and attains that of *ariyagotta* (noble one). It is an intermediary between purification by knowledge and vision

1. They are : *obhāsa* (a supernatural light, by which he is able to see most clearly every corner of the universe), *pīti* (a strong thrill of pleasant sensation), *passaddhi* (composure), *adhimokkha* (firm faith), *paggaho* (effort), *sukkha* (ease), *ñāṇa* (deep insight), *upaṭṭhāna* (mindfulness), *upekkhā* (equanimity) and *nikkhanti* (desire of the heart).
2. *Udayabbayānupassanāñāṇa* (knowledge of contemplation of rise and fall), *bhaṅgānupassanāñāṇa* (knowledge of contemplation of dissolution), *bhayānupassanāñāṇa* (knowledge of appearance as fear), *adinavānupassanāñāṇa* (knowledge of contemplation of danger), *nibbidānupassanāñāṇa* (knowledge of contemplation of dispassion), *muñcitukamyatāñāṇa* (knowledge of desire for deliverance), *patisaṅkhānupassanāñāṇa* (knowledge of the contemplation of reflection), *saṅkhārupekkhāñāṇa* (knowledge of equanimity about formations) and *anulomañāṇa* (knowledge in comformity with truth).

of the path and purification of knowledge and vision. It is yet known as *Vipassanā* (insight) as it is in line with it. *Ñāṇadassanavisuddhi* (purification by knowledge and vision) is the knowledge of the fourfold path—*sotāpattimagga* (path of stream attainment), *sakadāgāmimagga* (path of once returning), *anāgāmimagga* (path of never returning) and *Arhattamagga* (path of Arhathood). Immediately after the *gotrabhuñāṇa* (maturity of knowledge) there arises the *sotāpattimaggañāṇa* (knowledge of the path of stream attainment). It is but the knowledge of the first stage of sainthood one has attained in one's course towards *Nibbāna*. It is followed by *sotāpattiphalañāṇa* (fruition knowledge).

A meditating monk who has reached the first stage of sainthood (i. e. first supramundane state) is called the *sotāpanna* (stream attainment). He has got rid of *sakkāyadiṭṭhi* (false views regarding the existence of self), *vicikicchā* (doubts) and *sīlavataparāmāsa* (rules and rituals). He can not be reborn in any of the lower planes of existence and is to attain Arhathood within seven births. Following the same method of meditation he attains the second stage of sainthood called *sakadāgāmi* (once returning) by attenuating his *rāga* (attachment), *dosa* (hatred) and *moha* (delusion). He comes once more to this world and then attains Arhathood (final emancipation). Following the same method of meditation further he attains the third stage of sainthood, i. e., *anāgāmi* (never returning) by removing completely *rāga* (attachment), *dosa* (hatred) and *moha* (delusion). He is not to return to this world but is reborn only once in one of the heavens where he attains Arhathood, i. e., final emancipation. Following the same method of meditation again he attains the fourth stage of sainthood, i. e., Arhathood with the complete removal of all the remaining fetters. He is no more subject to rebirth and attains Nibbāna, the long yearned-for goal in this very life.

Throughout its long career Buddhism has tried to devise a large number of processes for meditation. They have served to promote the spiritual development of its followers. Their main object is to open the eyes of the followers to the true facts of existence. Meditational practices thus form the very core of the Buddhist approach to life. We find in the discourses of the Buddha and his followers various methods of meditation which were handed down from the teachers to the taught throughout the ages. They were later on collected and worked out into treatises for the guidance and benefit of those interested in meditational practices. They are still in vogue in the Buddhist world. Burma holds a very unique

position in this regard. *Samatha* (calm) and *Vipassanā* (insight) are widely practised there. In China, there is a sect called *Jhāna* (Skt. *dhyāna*) sect known as *Chan-tsung* in Chinese. It emphasises on the practice of *Yoga* (meditation) for attaining complete control over *Citta* (Mind). According to this sect *Jhāna* (meditation) leads to the attainment of true enlightenment, the essence of Buddhism. In Japan we have also a sect known as Zen (*Jhāna*) sect which also insists on *Jhāna* (meditation) as the most effective method of attaining true insight.

●

SPIRITUAL MEDITATION IN ANCIENT INDIA AN ARCHAEOLOGICAL APPROACH

by R. B. NARAIN

Scholars seem to have agreed that the great sage PATAÑJLĪ had first given the '*Rājayoga*' through his well known *Yogasūtra*. Others have traced the source from the *Upaniṣads* and as *Upaniṣads* are regarded as containing the essence of the *Vedas*, it is quite safe to state that *Yoga* should be regarded as dating from the *Vedas*. *Bhagwatgīta* offers the detail teachings of *Bhakti-Yoga*, *Jñāna-Yoga* and the *Karma-Yoga*. It puts more emphasis upon the *Karma-Yoga* (*Yoga* by action) and further explains that the work is alone your privilege, never the fruit thereof. In *Kaṭhopaniṣad* a clear elucidation about *Yoga* has been presented. According to the *Kaṭhopaniṣad*" when the senses are still, when the mind is at rest, when the intellect wavers not then say the wise is reached the highest stage.

The literary references take the Yogic philosophy back to the *Upaniṣads*, the *Gitā* and the PATAÑJALI. The *Jaina* and the *Budhist* religion have placed *Yoga* on the supreme level. BUDDHA and MAHĀVĪRA have always been presented in a Yogic mood. Rarely we notice any figure devoid of the yogic posture. The four '*Mudrās*' *Dhyāni*, *Abhaya*, *Bhūmisparśa* and *Dharma-Cakra* of BUDHA the enlightened are depicted in full yogic mood. In Jainism too this case is almost the same. MAHĀVĪRA attained '*Nirvāṇa*' and is presented in the same yogic form.

So far the present position is concerned no one is sure as who founded the *Yoga* philosophy; what one man thought it out or whether it evolved gradually over a period of centuries. The archaeological sources provide us fresh evidences on the basis of which it appears safer to postulate that the yogic practices were in perfect vogue since the pre-historic days. The earliest evidences take us back to the pre-historic cave paintings in deep grey colour in one of the cave at *Bhopal*. A human figure is shown sitting in a typical *Yogi* posture. The two legs are outstretched and both the hands are shown touching the knees. In the *Singraulli basin* south of the *Panchmarhi Mahadeo* a human figure is shown

position in this regard. *Samatha* (calm) and *Vipassanā* (insight) are widely practised there. In China, there is a sect called *Jhāna* (Skt. *dhyāna*) sect known as *Chan-tsung* in Chinese. It emphasises on the practice of *Yoga* (meditation) for attaining complete control over *Citta* (Mind). According to this sect *Jhāna* (meditation) leads to the attainment of true enlightenment, the essence of Buddhism. In Japan we have also a sect known as Zen (*Jhāna*) sect which also insists on *Jhāna* (meditation) as the most effective method of attaining true insight.

●

SPIRITUAL MEDITATION IN ANCIENT INDIA AN ARCHAEOLOGICAL APPROACH

by R. B. NARAIN

Scholars seem to have agreed that the great sage PATAÑJLĪ had first given the '*Rājayoga*' through his well known *Yogasūtra*. Others have traced the source from the *Upaniṣads* and as *Upaniṣads* are regarded as containing the essence of the *Vedas*, it is quite safe to state that *Yoga* should be regarded as dating from the *Vedas*. *Bhagwatgīta* offers the detail teachings of *Bhakti-Yoga*, *Jñāna-Yoga* and the *Karma-Yoga*. It puts more emphasis upon the *Karma-Yoga* (*Yoga* by action) and further explains that the work is alone your privilege, never the fruit thereof. In *Kaṭhopaniṣad* a clear elucidation about *Yoga* has been presented. According to the *Kaṭhopaniṣad*" when the senses are still, when the mind is at rest, when the intellect wavers not then say the wise is reached the highest stage.

The literary references take the Yogic philosophy back to the *Upaniṣads*, the *Gitā* and the PATAÑJALI. The *Jaina* and the *Budhist* religion have placed *Yoga* on the supreme level. BUDDHA and MAHĀVĪRA have always been presented in a Yogic mood. Rarely we notice any figure devoid of the yogic posture. The four '*Mudrās*' *Dhyāni*, *Abhaya*, *Bhūmisparśa* and *Dharma-Cakra* of BUDHA the enlightened are depicted in full yogic mood. In Jainism too this case is almost the same. MAHĀVĪRA attained '*Nirvāṇa*' and is presented in the same yogic form.

So far the present position is concerned no one is sure as who founded the *Yoga* philosophy; what one man thought it out or whether it evolved gradually over a period of centuries. The archaeological sources provide us fresh evidences on the basis of which it appears safer to postulate that the yogic practices were in perfect vogue since the pre-historic days. The earliest evidences take us back to the pre-historic cave paintings in deep grey colour in one of the cave at *Bhopal*. A human figure is shown sitting in a typical *Yogi* posture. The two legs are outstretched and both the hands are shown touching the knees. In the *Singraulli basin* south of the *Panchmarhi Mahadeo* a human figure is shown

sitting in a cross legged posture and some flames in the form of *Ābhā* are rising from the two shoulders. Although, dating of these rock paintings is still an unsettled problem, however on the basis of the finds descovered from the cave excavations and by comparing the objects of the paintings with the tools and weapons found from the surface, they have been assigned to the pre-historic days. It has to be admitted that there is no supporting evidence to brand them as *yogic* but the very attitude of sitting and the other aparent features do seem to indicate that they are most probably yogic figures.

During the *Harappan* period i. e. from 2300 B. C. to 1750 B. C. (C. 14. dating) few evidences, powerful in nature have come to light. *Mohenjodaro* excavations have placed before us precious materials which indicate that the *Harappans* were practicing *yoga* in full perfection From the level 2 ft. below the surface, house XXVII. V. S. area a figure has been discovered; on the obverse is a seated figure on a dias, flanked on either side by a kneeling worshipper. Behind each worshipper is a cobra in a vertical position. Marshall too has takent his as a Yogī. Another specimen of more forceful nature was found from the pavement in the north eastern corner of Chamber 75 in L area. The figures are seated in a perfect meditation and *Yogī's* posture. The figures a1 and a2 are quite similar with the figures of the meditating Buddhas. The figures S, Sa. 5th of the *Śiva-Paśupati* found on one of the Seals from the *Harappan* site is really remarkable. A powerful figure having curved horns on the head, four faced, series of bangles on the two arms is found seated crosslegged and duly encircled by various animals. It seems to be a true representative of a Yogis figure. It has been identified by the archaeologists as *Śiva-Paśupati* in the yogic mood. On the basis of the above mentioned evidences it can be safely deduced that the ancient Indians were most probably practicing *Yoga* as early as 2300 B. C. up to 1750 B. C. (C. 14. Dating).

Just after the *Harappan* civilisation there seem to be a cultural vaccuam in the north *Gangetic Valley* and we get very rare evidences which are in the shape of scattered Copper tools discovered in a scattered way over the surfaces. These copper artifacts according to some acholars belong to the escaping *Harappans*, some assign them to the *Vedic Āryans* while a majority of the scholars hold that they possibly are the vestiges of the tribal people or the indegenous inhabitants of the hilly tracts of the *Chhota Nagpur* and the *Satpura* or the *Vindhyan* ranges. Among these copper objects an interesting figure in the anthropomorphic form has been

found. The figure is standing with both the arms incurved and in a typical form. Dr. D. P. Agarwal and others have suggested this figure to be some sort of weapon; Agarwal has tried to explain this figure as small missile for hunting the birds. They most probably seem to be of some worshipping object than to be a hurling weapon. The size of some of these figures and their bluntness do suggest that they can not be effective weapon nor they can be hurled with so convinience. Standing human figures with a massive head, roughly hammered and non pointed arms do indicate that they were most probably created to present human pose in a typical postures, resembling with the yogic figures. The date of these copper objects has been tentatively fixed after the *Harappans*. Dr. Agarwal on the basis of the association of the Ochure Coloured pottery has placed this group of copper objects in the pre-P. G. Ware level in the other words in the pre *Mahābhārata* period.

Unfortunately the spade of the Archaeologists have up till now could not discover any such evidence on which we can trace any source of the Yogic practice during the period of the *Mahābhārata*. Here the Pauranic as well as the *Mahābhārata* and other literary sources only come to help us in tracing the yogic meditation and deep practices among the ancient Indians. The teachings of Lord Kṛṣna to Arjuna about the various *yogas* are the most powerful sources and they indicate that the ancient Indians were far advanced in perfecting the Yogic technique during the days of *Mahābhārata*.

As soon as we come down to the early historical periods i. e. 600 B. C. onwards, the time of Budhist and the Jaina fermentation we begin to recieve in abundance specimens of the yogic figures. Buddha, the enlightened and Mehāvīra all have been presented in some or the other ways in meditating mood. Tha cave, *Caityas* and the halls at *Karli* and *Bhaja* located in the western ghats near *Lonavala* (Bombay-Poona line) present Buddhist philosohy based on yoga of its highest order. The gateways round the *Sanchi Stūpas* datable to Ist century B. C. onwards present the entire life of the lord Buddha including his birth *Saṃbodhi*, *Dharma cakra-parivartana* and *Mahānirvāna*. For several centuries after the *Mahāparinirvāṇa* of Buddha we never meet with any representation of the great master himself. The *Gandhara* school of sculptures presents Budha in true repersentation. At *Taxila*, *Peshawar* and *Sahri-bahlol* heap of stones were unearthed bearing innumerable images of Budha in different attitude and *Mudrās*. This school according to Prof. Foucher starts from the reign of Menander while Dr. R.C. Mhzumdar has suggested the date of Menander

to 90 B. C. This shows that the yogic postures were created on the basis of prevalent practice in those days. The *Mathurā* school which owes its origin from *Gandhāra* art produced numerous Buddhas and *Bodhisattavas* depicting the scenes of Buddhas life. At *Sarnath* which covers a period from the time of *Asoka* down to the reign of the *Pālas* presents a varied figures of the pantheon of the *Vajrayāna* sects. Impressive presentation of the five *Dhyāni Buddhas*, *Vajrasattavas* and many others indicate the higher from of the *Vajrayāna* sect. At *Nālandā* higher form of the *Tāntric* figures have been unearthed. Depiction of *Amitabha. Aksobhaya, Vairocans Amogsidhi, Ratnasambhava, Vajrasattava* are all pure presentation of the yogic philosophy. The Buddha *saktis* are usually depicted in *Lalitāsana* in the popular *Abhaya* pose. Thus we find that during the early historic period the Budhist, and the other allied figures wehre usually figures in a yogic pose indicating its importance and the popular practice.

References

1. Harvey Dey.
2. Swami Vishnudevanand. *The Complete illustrated Book of Yoga,*
3. Alfanso Caycedo, *India of Yogas.*
4. B. K. S. Iyengar, *Light on Yoga.*
5. Dr. Jogdish Gupta, *Pragiyihasik Chitrakala.*
6. Marshall, *Mohenjodaro.*
7. Madho Swaroop Vats, *Harappa.*
8. Visvanath Prasad Verma, Origin of Yoga, *Journal of the Ganganath Jha Research Institute.*
9. Dr. D. P. Agarwal, *The Copper Hoard* Problem—A *Technological Angle.*
10. *Ancient India* No 9, Annual Publication; Archaeological Survey of India, New Delhi.
11. Benoytosh Bhattacharya, *Budhist Iconography.*
12. Prof. Foucher, *Beginning of Budhist Art.*
13. *Mathura School of Sculture* Vol. I,
14. Dr. V. S. Agarwal, *Indian Art.*
15. Vincent Smith, *History of Fine Art in India and Ceylon.*

●

BUDDHIST YOGA IN THE LIGHT OF MODERN SCIENCE (IN GENERAL) AND MODERN PSYCHOLOGY (IN PARTICULAR)

by Prof. U. A. ASRANI

Out of all the Yoga Systems of India and out of all Schools of mysticism, all over the world, the Buddhist Yoga is the most significantly allied to modern psychology. It postulates no Personal God, or even an Impersonal Immanent Brahman. The Buddha stated only the fundamental psychological fact, that there is '*Dukkha*'—which means not only pain and disease but also mental anxieties, worries frustrations, fears etc. alongwith another fact that this *Dukkha* can, by removal of its cause, be eliminated from the mind. It seems therefore that yoga according to the Buddha, is a groping of humanity towards that elimination. The Buddha's whole gamut of *Sādhanā* is meant for purifying the *Citta*—the empirical self—which includes the unconscious also. *Nibbāna* or *Nirvāṇa* is complete purification, complete satisfaction, emotionals tability, a whole change in personality.[3] (pp. 30-34)

The Pātañjala yoga has also taken courage to define yoga psychologically—not as meeting God, living near Him or in Him, nor even as Realisation of or Unity with the Immanent Brahman, but merely as control of metal currents. *Citta-Vṛtti Nirodha*. But it postulates the *Iśvara* and '*Iśvara-Praṇidhāna* also, though for a specific *Sādhanā* only. While mentioning evidences, in its support, it includes along with Direct Experience and logical conclusions therefrom, a third support viz. the evidence of *Āpta-Puruṣas* i. e. men who have had direct experience.[1] The Great Buddha had the courage to include even the third. Do not do a thing, he said, simply because some scriptures or even the Buddha has said it. Examine it on your own experience. Thus the attitutde of the Buddha was perfectly rationaly emperical and pragmatic, like that of modern science. He refused point blank, to discuss or get involved in the cobweb of metaphysical problems; for mere logic alone can never solve them. He contented himself with the psychological facts of *Dukkha* and the possibility of its elimination.

There is a parallel instance in the subject of recent sub-atomic physics. The electron, about a two-thousandth part of the lightest atom, was at first pictured as a particle, though it could not be directly observed. Then it was discovered that it behaved also, as if it were a wave of energy, and that what were formerly pictured as waves of energy, also behaved as meterial particles, called Photons. This was a dilemma; both pictures can not be correct. In one, stable, of fined from; in another, moving, chaning its form constantly—a dual picture; a paradon. Heissenberg suggested the novel idea of discarding both pictures; because both were our imaginary postulations. Building his Quantum mechanics[2]—a purely mathematical system—on only observed facts and measurements, without any postulated pictures, the entire dual or paradonical behaviour of the Electrons and the Photons was deduced. Similarly the BUDDHA discorded the postulated pictures of Personal or Impersonal God, as well as the single Brahman of the *Vedānta*, the Dual *Puruṣa-Prakṛti* of *Sāṁkhya-Yoga*. He also neglected all postulated pictures of cause of creation or its end or purpose, and focussed his attention only on the psychological facts of *Dukka* its cause and its elimination—for which humanity, in its probings, has invented these pictures.

The BUDDHA came rather too early on earth—two thousand five hundred years too early. The full value of his greatness is being realised only in the present scientific rational, empirical and pragmatic age. Rune Johansson[3] has written, not only on Psychology of Buddhism, but also on that of its final target or acme, the stage of *Nirvāṇa*.

However it can be legitimately questioned, whether science or Psychology, can, by its mere *external*—experimental or behavioral-study, comprehend the sphere of Yogic *Internal* or *Transcendental* experience. In the first place modern psychology has, within the last twenty years, emerged already, from its old behavioral and clinical moorings. Psychologists of international fame, like A. H. Maslow, G. Murphy and R. Assagioli have already inaugurated, the Third Force and the Fourth Force in Psychology—Humanistic and Trans-Personal Psychologies—which deal with elevating man into Superman or a *Devatā* as we would say in India. These psychologists insist that in these higher very recent reaches of Modern Psychology, the studies of Internal Experiences should be included alongwith those of external experiments and behaviour. Dr. Maslow speaks about *Samādhi* (Peak Experiences) as well as about *Sahaja-Avasthā* (Plateau Experiences) from the psychological point of view in his books and papers.[4,5,6]. Secondly even internal states have

external facets, which may be behavioral or psychological. The *Sthita-Prajña* state of the *Gītā*[7] (II 54-71) is the highest Internal State of a *Karma Yogī* or a *Jñāna Yogī*. It is very much akin, and almost equivalent to the *Sahaja-Avasthā* or the *Jīvana-Mukta* State, and also to the *Dharma Megha Samādhi* of Patañjali (IV) or to the BODHISATTWA state of Buddhist texts according to some scholars. Yet ARJUNA ventures to ask SRI KṚṢṆA in the Gītā :—How does that *Sthita Prajña* sage speak, sit, walk etc. i. e. have his being. SRI KṚṢṆA does not escape the question by saying that it is an Internal State. He states the whole gamut of psychological facets of that state. Internal States themselves may be indescribable; but their psychological facets are distinctly describable.

Again it may be argued that the methods of all sciences, including psychology, are analytical. As in the old story of five blind men, trying to find out, what an elephant is like, these methods can never reveal the Inner Experience as a whole. You need a man with eyes to see the whole elephant. This defect is known to psychologists as well as to scientists in general. This has given rise to works on Gestalt Psychology,[8] books like F. M. Smuts on 'Holim'[9] and various other later ones, for correcting this defect. Yet the fact remains that is a *Yogī* only who can correctly appreciate the psychology of another *Yogī*, as a whole, on the basis of his own Personal Experience, just as it is only a poet, who can correctly evaluate another poet.

Fortunately the present writer has been blessed by some Personal Experiences. After about 35 years of *Sādhanā* in *Jñāna Yoga*, he got in 1943, under some special circumstances, an experience, which appears very much akin to the *Sthita-Prajña* State. It lasted for 48 hours. He has had splashes of similar experiences, sometimes for a few minutes and sometimes for hours together, numerous times thereafter; and contacts with living yogies, have assured him that his experiences are on correct lines. They are not permanent with him yet; but the *Guṇātīta* of the *Gītā*[7] or the *Arhat* of Buddhism[3] (p. 74) are also not described, as being stably fixed in that top state. The writer has described that experience of his, in articles in Indian and American Journals; its remarkable physiological and psychological effects, as well as his conclusions based thereon.[10,11] He has concluded that :—

(1) All schools of mysticism—Hindu yogic, as well as non-Hindu ones, meet at their Target State, the Final Summit, the *Jīvana Mukta* State, called by different names in different schools, except that some

theistic schools, like, some-not all-of *Bhakti* Schools of Hindus, regard a Vision of God or Living in Him, as superior to the *Jīvana Mukta* State. However some Saints of these theistic schools also, go higher to Unity and the *Sahaja-Avasthā* *Sūfis* like MANSŪRA and SHAMS-I. TABRIZ Christian Saints like Saint Theresa; Baktas like KABIRA and TUKARAMA. This very wide consensus of opinion, in favour of the *Jīvana Mukta* State, being the Common Final Target of all Hindu and non-Hindu mystic schools, has been supported by reputed scholars as well.[12, 13, 13a, 14, 15]

(2) The psychological facet of the *Jīavna-Mukta* or the *Bodhisattva* state is an Ideal Type of Mental Health or Mental Integration. The so called 'normal' mind of today is really neurotic, full of inhibitions, slave to complexes, buried in the unconscious. It is only when one is free from those inhibitions, from his complexes or from his poignant desires-*Trișņā* or *Tanhā* of Buddhism-that he feels really Free (*Mukta*). That State is a State of mental balance-not devoid of feelings; yet free from those compelling emotions, which are due to our complexes (compare[3] p. 24) Rune Johanson has devoted a separate section in Mental Health, in his book, already referred to[3].

(3) A startling observation of the writer, during his experiences, is, that the State is so buoyant and cheerful that it does not feel the need of any purpose to justify life. It is sport or *Līlā*-which does not permit even metaphysical curiousity to be poignant or stressed. All metaphysical problems somehow get dissolved in it, though not solved. Philosophical curiosity in that State in more like that of a scientist, which can easily afford to wait until some observation or experiement, makes a verifiable solution possible. The *Jīvana-Mukta* Mind does not speculate for hours on end, merely on the basis of 'apriori' postulates or 'Pictures,' which can not be verified. The BUDDHA also refused to discuss metaphysical problems, probably because, his was a *Jīvana Mukta* Mind; his metaphysical problems were not anxious problems to him; his curiosity in these matters was not impatient or poignant.

(4) This top State of Mysticism is 'Easy' or Natural-*Sahaja*. 'Ordinary' life is unnatural, neurotic. Since our birth, we have learnt to live on the basis of categoric distinctions, improvised by our environmental culture and language, like good, bad, virtue, vice, I, he, thou etc. etc., which are not actually present in nature, as rigidly as we assume. If we remove the rigidity of these categories, the cobwebs of *Nāma-Rūpa*, or *Māyā*, then the State of *Jīvana-Mukta* is already there-innocent as that of

a child-taking all adult categories and adult life as a word game, as a sport[16]. Only 'live in the living present'; do not worry for the future or brood over the past; you have atonce jumped into that state for the time being. It is a highly efficient and balanced life; released from all tensions of living; neither hurried, nor worried.

(5) I have given the above four conclusions, along with evidences from Yogic literature, and psychology to support them. They really do not need further confirmation. The writer has confirmed them by contacts with some living mystics also. All the same, from the scientific point of view, further confirmation from those, who are actually living permanently, in that Top State, in different Schools of Mysticism, should be available before we call them 'facts'. However the last conclusion of mine if they can be proved or acknowledged as 'facts' is very tempting. The *Parā-Vidyā* of Yoga and Mysticism in General, has a Link in the field of Ideal Mental Health, with the *Aparā-Vidyā* of Psychology. All knowledge has been synthesised as one. The two *Vidyā* no longer stand as separate pools like Āyurveda, Homeopathy and Alleopathy. We have discovered the Ocean of Knowledge.

On the basis of that Ocean of Knowledge, I now venture to give in brief, the light that psychology throws on the Buddhist-Yoga, in comparision with other Yogas, particularly *Jñāna* and *Pātañjala-Aștānga-Yoga*.

(1) The writer has shown[11] that in *Jñāna-Yoga*. the *Sādhaka* meditates on consciousness-Expanding themes-those which widen his consciousness beyond his limited body and mind e. g. 'I am Brahman'-the *Mahāvākyas*, until his mind-though conscious-is relaxed of all thoughts and emotions and even the ego to some extent. Such a relaxation is most probably what is called '*Nirvikalpa-Samādhi* of *Jñāna-Yoga*. It proves to the *Sādhaka*, that concepts or Nāma-Rūpa (names and forms), or our world with all its categories-personal and cultural-is like a map, which can be rolled up at pleasure; it is not Reality. It is a paradonical un-reality and yet apparent Reality-what *Vedānta* calls *Māyā*.

Gardner Murphy has shown[17] that the neurotics and psychotics use a number of mental 'defences' or 'mechanisms' to get over their frustrations in life, and that ordinary people do the same, though in a more subtle manner and in a more socially acceptable form. It appears that the *Mahāvākyas* of *Jñāna-Yoga* are also such 'mechanisms' meditation amounts to auto-suggestion. Thinking that 'I am Brahman,' 'all this

is Māyā,' 'my work in life is a Sport or *Līlā*,' helps a man to stand psychologically, above all frustrations. The Reality may be indefinable-above *Māyā* as well as the *Mahāvākyas;* it may be non-verbal-'*Neti, Neti*'. Even *Vedānta* may be only a one sided View of It. But Vedantic thoughts are useful to the *Sādhaka* forgetting the *Nirvikalpa* State, for expanding his consciousness and for standing above all frustrations in life.

Now Buddhist Yoga like *Jñāna Yoga* is based on the idea that biting desires-'*Tṛṣṇā*' or '*Tanhā*'-are the cause of *Dukkha;* but its method of eliminating that cause is different. Buddhist mysticism utilises 'mindfulness' or 'Attentiveness' or '*Samyaka-Smṛti*' (the seventh step of the 8-fold Buddhist path) i. e. viewing every item of life attentively, but as an unconcerned witness-as a preparation for the eighth step of meditation or *Jhāna*. It uses this technique of Attentiveness, in place of autosuggestion on *Mahāvākyas*, in *Jñāna-Yoga*. But the unconcerned witness idea itself is based on the *Sāṁkhya* Philosophy, which is also the philosophy of *Pātañjala-Aṣṭāṅga-Yoga* and its fidal step of *Viveka-Khyāti*. It involves a belief that 'I,' the '*Puruṣa*,' am untainted by any changes in nature, including the mind. Thus auto-suggestion and mental 'defences' and 'mechanisms' of Psychologists, play their part in Buddhist and *Aṣṭāṅga Yogas*, as well.

Hariman first pointed out that in building up motor and perceptional patterns in infancy, attention energies are required. With continued practice these patterns become automatic. Gill and Brenman suggested that we should de-automatize, by reinvesting actions and percepts with attention. This is what the Buddhist *Samyak Smṛti* does. Such a de-automatization prepares the ground for a new type of consciousness, different from that to which we are accustomed, for regaining inspite of adult age, the consciousness of a child.

Buddhism has its stages of *Jhāna*, and the *Aṣṭāṅga-Yoga* has its *Asaṁprajñāta-Samādhi*, which is probably a comatose (i. e. suspended animation) and yet conscious state. These may be different in depth and mechanism from the *Nirvikalpa-Samādhi* of *Jñāna-Yoga*; but they can have the same type of psychological effect on the *Sādhaka's* mind-a feeling that the world is a 'Picture' or a 'Map' made by us, which can be rolled up at will. The Buddhist State of *Śūnya* (Void) may not be the same as the *Nirvikalpa-Samādhi* or *Jñāna-Yoga*; for Mystic exercises, akin to those of *Aṣṭāṅga Yoga* were also known in Buddhistic Circles. But the Psychological effect can be identical.

Buddhism recognises three *Lokas* or Spheres of Consciousness or life-(1) The *Kāma-Loka* i. e. the ordinary Sphere of worldly Desires. The remaining two are spiritual (2) The *Rupavacara-Citta* i. e. *Jhāna* of form-corresponding to the *Savikalpa Samādhi* (i. e. concentration on a concept) of *Jñāna-Yoga*. There are five stages in it. The last stage is characterised by concentration and *Upakkhā* (indifference) (3) The *Sādhaka* is evidently prepared by this last step for the third sphere or *Loka*, called *Arupavacara Citta*. There are four stages in it-'Dwelling on Infinity of Space,' 'Dwelling on Infinity of Consciousness,' 'Dwelling on Nothingness i. e, *Śūnya*;' and finally a stage of subalest perception. We thus see how, instead of the consciousness expanding philosophy of *Vedānta*, used by *Jñāna-Yoga*, the Buddhist Yoga utilises Infinity or Cosmic consciousness as such in its *Arupavacara Citta* Stage. The final effect is the same-'*Śūnya*' or relanation of thoughts, emotions and the ego.

Again the Summit State of Buddhism called the *Arahat* or the Bodhisattva State, is found, from its numerous descriptions, to be more or less equivalent to the *Jīvana-Mukta* or the *Sahaja* or the *Sthita-Prajña* State. Again Attentiveness the seventh step of the Buddhist Path, also prepares the Buddhist Sādhaka for concentrated attention to the work in hand; and this is a prominent feature of the *Jīvana-Mukta* State.

The *Jñāna-Yoga* regards the *Jīva* as identical with the Brahman, the *Sāṁkhya-Yoga* regard the self as *Puruṣa*, as an untainted witness of the *Prakriti* including the mind; while the Buddhist Yoga regards the individual self as non-existent-An-Atta Doctrine—; only a succession of momentary transition states. But from the psychological point of view the effect is the same. The axe is laid at the very root of selfishness and narrow selfish thinking.

Aṣṭāṅga-Yoga purifies the body-the *Nādies*-first; the correction of the mental outlook comes later after *Samādhi* in *Viveka-Khyāti*. The *Jñāna* and Buddhist Yogas correct the mind first; free it from *Triṣṇā* or Biting complex-caused emotional desires. The body gets freed automatically from all emotionally induced diseases, and they are a legion; doctors call them functional or psycho-sematic.[24]

Techniques may differ in the three schools; but the same psychological thread appears to be running through all of them. The final target, inspite of different philosophical colourings, is the same in all viz. the correction of both the body and the mind-the *Jīvana-Mukta* State or the *Bodhisattva* State.

References

1. Patañjalī—Yoga Sūtras.
2. Heissenberg—Quantum Mechanics.
3. Rune Johansson—Psychology of Nirvāṇa.
4. A. H. Maslow—Psychology of Being-Psychology of Science His books and Papers on Peak and Plateau Experiences Theory Z etc.
5. G. Murphy—Note in 'ETC' Dec. 1965.
6. R. Assageoli—His writings on Psycho-Synthesis.
7. The Bhagawad Gītā.
8. Gestalt Psychology,
9. F. M. Sonuts—Holism.
10. U. A. Asrani—'Missing Link between Science and Mysticism'—'Psychic international; Moradabad and 'Main Currents in Modern Thought' New York, Sept. 1963.
11. U. A. Asrani—'Psychology of Mysticism'-'Yoga Mīmasmā' Lonavla Oct. 1968; 'Main Currents in Modern Thought', New York 1969.
12. S. N. Das Gupta—History of Indian Philosophy, Vols. II & IV.
13. S. C., Chatterji & M. Datta—Introduction to Indian Philosophy.

13a. Jacques de Marquelle—Comparative Mysticism.

14. 'Mountain Path'—Tiruvannamalai-(On Tukaram) Jan. 1967.
15. U. A. Asrani—'Samādhi and Sahaja Awasthā-Yoga Mīmāmsā, articles-Oct. 67 to July 1968.
16. U. A. Asrani—Semantics and its Links with Mystic and Psychedelic Experiences-Bulletin of Theos, Science Group-Adyar Madras, March 1970.
17. Gardner Murphy—Personality.
18. George Grimm—The Doctrine of the Buddha.
19. E. Couze—Budhistic Thought in India
20. G. C. Loansbery—Buddhistic Meditations in the Southern School.
21. C. Humphreys—The Way of Action
22. Gardner Murphy—Asian Psychology
23. R. Mukerji—The Theory and Art of Mysticism.
24. R. A. Schindler—How to Live 365 Days a Year.

●

गोष्ठी में सम्मिलित विद्वान्

प्रो० अनुकूलचन्द्र बनर्जी
आचार्य एवं अध्यक्ष-पालिविभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

डा० अशोक शास्त्री
संस्कृत विभाग
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कलकत्ता

प्रो० उद्धव आ० आसरानी
५२ आदर्शनगर
लखनऊ

डा० करुणेश शुक्ल
संस्कृत विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर

प्रो० कृष्णनाथ
काशी-विद्यापीठ
वाराणसी

श्री खन्पो त्सन् डुस्
प्राध्यापक
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान
सारनाथ, वाराणसी

म० म० स्व० डा० गोपीनाथ कविराज
सिगरा, वाराणसी

पं० श्री गोमती प्रसाद मिश्र वैद्य
आयुर्वेद महाविद्यालय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० चिन्तामणि त्र्यम्बक केंघे
संस्कृत विभाग
मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

डा० चन्द्रचूड मणि त्रिपाठी
प्राध्यापक
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान
सारनाथ, वाराणसी

प्रो० जगन्नाथ उपाध्याय
आचार्य एवं अध्यक्ष-पालिविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

ठाकुर जयदेव सिंह
सिद्धगिरिबाग, वाराणसी

डा० जयधारी सिंह
मधुवनी ड्यौढ़ी
पो० मधुवनी, दरभंगा
(बिहार)

प्रो० तान युन शान
चीना मन्दिर, बोधगया
गया, बिहार

आचार्य थुबतन छोगडुप शास्त्री
ई० ए० सी० ट्रेनिंग कालेज
पचमढ़ी, होशंगाबाद
(मध्यप्रदेश)

डा० दयाल शरण वर्मा
प्रधानाचार्य
उमर्दा इन्टर कालेज
उमर्दा, फरुखाबाद
(उ० प्र०)

डा० दरबारीलाल कोठिया
१/१२८ डुमरांव बाग-कालोनी,
अस्सी, वाराणसी

पं० श्री दलसुखभाई मालवणिया
ला० द० विद्यामन्दिर
अहमदाबाद

डा० द्विजराम यादव
डिग्री कालेज
आजमगढ़ (उ० प्र०)

भिक्षु धर्मवंश
श्रीलङ्का

डा० नारायण शास्त्री द्रविड
आचार्य एवं अध्यक्ष—दर्शन विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर

डा० ना० हे० समताणी
पालिसंस्कृतविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० एन० एच० चन्द्रशेखर स्वामी
योगतन्त्र विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

श्री पट्टाभिराम शास्त्री
हनुमान घाट, वाराणसी

श्रीमती पद्मा किल्लेदार
अध्यक्ष—पालि एवं प्राकृत बोर्ड
नागपुर विद्यापीठ
नागपुर

श्री पी० वी० देशपाण्डे
राजघाट, वाराणसी

पं० श्री बटुकनाथ शास्त्री खिस्ते
विनयका, वाराणसी

प्रो० बदरीनाथ शुक्ल
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० बलराम श्रीवास्तव
भारती महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

पं० श्री बुद्धिवल्लभ पाठक
अध्यापक
अन्ताराष्ट्रिय संस्कृतानुभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० भागचन्द भास्कर
अध्यक्ष—पालि एवं प्राकृत विभाग
नागपुर विश्वविद्यालय
नागपुर

श्रीमती मधुश्री राय
डी०/१० कड़या गवर्नमेन्ट
स्टेट, कलकत्ता-१९

डा० महेश तिवारी
आचार्य एवं अध्यक्ष
बौद्ध अध्ययन विभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय,
दिल्ली

डा० मुरलीधर पाण्डेय
प्रधानाचार्य
रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
शास्त्री नगर, जम्मू (जम्मू एवं काश्मीर)

प्रो० मोहन गो० धडफले
८४ न्यू कस्बा पेठ-१
पूना-११

गेशे येशेस् थुबतन
प्राध्यापक
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान
सारनाथ, वाराणसी

पं० श्री रघुनाथ मिश्र
चित्रकूट, वाराणसी

श्री रत्नशङ्कर प्रसाद
प्रसादमन्दिर, सुंघनी साहु की गली
वाराणसी

डा० रमाकान्त त्रिपाठी
आचार्य—दर्शनविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० रमाशङ्कर मिश्र
आचार्य—दर्शनविभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

श्री रमेशचन्द्र तिवारी
समाजशास्त्रविभाग
काशी-विद्यापीठ
वाराणसी

प्रो० राजाराम शास्त्री
काशी-विद्यापीठ
वाराणसी

श्री राधेश्यामधर द्विवेदी
प्राध्यापक-तुलनात्मक धर्मदर्शनविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० राममूर्ति त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष
स्नातकोत्तर हिन्दी विभाग
विक्रम विश्वविद्यालय
उज्जैन (म० प्र०)

डा० रामसुरेश त्रिपाठी
आचार्य एवं अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़

डा० रामशङ्कर भट्टाचार्य
डी० ३८/८ हौज कटरा
वाराणसी

पं० श्री रामशङ्कर त्रिपाठी
उपाचार्य एवं अध्यक्ष-बौद्धदर्शनविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

श्री रामावल्लभ नारायण
संग्रहालयाध्यक्ष
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० भदन्त रेवतधर्म
बर्मी बौद्धमन्दिर
मलदहिया, वाराणसी

पं० लक्ष्मण त्रिवेदी
प्राध्यापक-बौद्धदर्शनविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

पं० श्री लक्ष्मीनारायण तिवारी
पुस्तकाध्यक्ष
सरस्वतीभवन-पुस्तकालय
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

श्री एल० जमस्पल
Lamaist Buddhist Monastery
Box 306 A RD I
Wasington New Jersey
o 7882

डा० लालमणि जोशी
आचार्य
धर्म-अध्ययन विभाग
पंजाबी विश्वविद्यालय
पटियाला (पंजाब)

पं० श्री व्रजवल्लभ द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष-योगतन्त्रविभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी

डा० विद्यानिवास मिश्र
निदेशक
हिन्दी संस्थान, आगरा

श्री विश्वदेव मुखर्जी
चीनाभवन, विश्वभारती
विश्वविद्यालय, शान्तिनिकेतन
(प० बंगाल)

प्रो० समदोङ् रिम्पोछे
प्रधानाचार्य
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षा-संस्थान
सारनाथ, वाराणसी

डा० सिद्धेश्वर भट्ट
दर्शनविभाग
दिल्ली-विश्वविद्यालय
दिल्ली

श्री सी० आर० लामा
आचार्य एवं अध्यक्ष-तिब्बती विभाग
विश्वभारतीय विश्वविद्यालय
शान्तिनिकेतन (प० बंगाल)

श्री सुनीतिकुमार पाठक
भारती-तिब्बती-अध्ययनविभाग
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शान्तिनिकेतन (प० बंगाल)

श्री सेम्पा दोर्जे
उपाचार्य
केन्द्रीय तिब्बती उच्च शिक्षासंस्थान
सारनाथ, वाराणसी

श्री सोमसिरि कोल्लुरे
श्रीलङ्का

डा० संगमलाल पाण्डेय
आचार्य एवं अध्यक्ष-दर्शनविभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

डा० शिवनारायण शास्त्री
संस्कृतविभाग
विश्वभारती विश्वविद्यालय
शान्तिनिकेतन (प० बंगाल)

डा० शिवशङ्कर अवस्थी
संस्कृतविभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर